

शिव तंत्र

स्वामी श्री कृष्णानन्द जी महाराज

अमृत बुक्स

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के अन्तर्गत इस पुस्तक की सामग्री के अधिकार 'सद्गुरु कॉन्सियसनेस सोसाइटी, एच-243 कुवर सिंह नगर, निलोठी मोड़, नांगलोई, दिल्ली-41, फोन नं. 011-28361513 के पास सुरक्षित हैं। अतः कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक को आंशिक या पूर्ण किसी भी रूप से तोड़-मरोड़कर हिन्दी या किसी अन्य भाषा में छापने का प्रयास न करें। इस चेतावनी का उल्लंघन करने वाले कानूनी तौर पर हर्जे खर्चे व हानि के जिम्मेदार स्वयं होंगे। किसी भी प्रकार के विवाद का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

लेखक स्वामी श्री कृष्णानंद जी महाराज का जीवन परिचय

संकलन : आचार्या पूनम अग्रवाल

संपादन : आचार्या आशा उपाध्याय

संयोजन : आचार्य कुणाल स्वामी

ISBN : 81-8419-440-4

© लेखकाधीन

प्रकाशक : अमृत बुक्स

231, सेक्टर 15-A, नोएडा-201301 (उ.प्र.)

फोन : 0120-4212440,

ई-मेल : amritbooks@yahoo.com

संस्करण : 2008

मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली - 32

SHIV TANTRA

by : Swami Sri Krishna Nand Ji Maharaj

आपका जन्म 8 दिसम्बर 1949 को रात्रि 10.00 बजे नाना के घर हुआ। आपके अल्पवय में ही माताश्री स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर गईं। आपके पिताश्री जब पांच वर्ष के थे, तब आपके दादाजी ने संन्यास ले लिया था। दादी ने भी चारों धाम की पैदल यात्रा कर संन्यास ग्रहण कर लिया था।

आपके दादाजी (स्वामी आत्मादासजी) एक बुद्ध पुरुष थे। जिनका हठ योग, सहज योग, राज योग एवं भक्ति योग पर समान अधिकार था। आपके पिताश्री बिहार सरकार में अधिकारी थे। बाद में वे भी संन्यास लेकर सहज समाधि में रहने लगे। ऐसा प्रतीत होता है स्वामी जी पूर्व जन्म से ही सिद्ध हैं। तभी तो ऐसे वंश में जन्म लिया। सिद्धता, साधुता, संन्यास आपको उत्तराधिकार में मिला है।

आपने अपने दादा गुरु से पांच वर्ष के अल्पवय में दीक्षा ग्रहण कर ली थी। पढ़ाई-लिखाई में प्रतिभा के धनी थे। आप अपनी कक्षा में सदैव प्रथम आते थे। विज्ञान, साहित्य, कानून में उच्च शिक्षा ग्रहण की। परंतु कभी भी नौकरी करने में आपकी रुचि नहीं रही। तभी तो सत्य की खोज में आसाम कामाख्या में ब्रह्मपुत्र के तट पर रहकर तंत्र विद्या को सिद्ध किया। फिर हिमालय के गोमुख, नन्दन वन, तपोवन में रहकर हठ योग एवं सहज योग को सिद्ध किया। पुनः केदारनाथ, तुंगनाथ, बद्रीनाथ, अलकापुरी इत्यादि में रहकर राज योग की साधनाएं सिद्ध कीं।

आपने इस पृथ्वी के विभिन्न संत-महात्माओं जैसे आनन्द मार्ग के आनन्द मूर्तिजी, रजनीशजी, साई बाबा, आ.म. राम विलास साहब के सान्निध्य में योग साधना सीखी।

अन्त में आप वहीं पहुंचे, जहां से यात्रा प्रारंभ की थी। सद्गुरु एवं शिष्य का संबंध जन्म-जन्म से होता है। वही सद्गुरु आपको मोक्ष प्रदान करता है। आपने स्वामी आत्मादास जी की छत्र-छाया में बैठकर, गंगा तट पर 28 वर्ष की आयु में

ज्येष्ठ पूर्णिमा को बुद्धत्व को प्राप्त किया। आपने अपने सद्गुरु की छत्रछाया में बैठकर विभिन्न लोकों की यात्राएं कीं, जो अति रोमांचकारी हैं। विश्वसनीय हैं श्रद्धालुओं के लिए। अविश्वसनीय हैं कोरे तार्किकों के लिए, आप बिना किसी झिझक के सत्य आंखों देखा कहने के आदी हैं।

आप सद्विप्र समाज की रचना कर विश्व जनमानस को कल्याण मूलक संदेश दे रहे हैं। आपकी प्रत्येक पुस्तक लीक से हटकर है। कुण्डलिनी जागरण, यंत्र-मंत्र रहस्य, स्वर से समाधि, कहै कबीर कुछ उद्यम कीजै, एक ओंकार, योगियों का पथ, शिव तंत्र, मेरे राम, रहस्यमय लोक, लोक-परलोक, उमा कहँ मैं अनुभव अपना, गुरु ही मुक्तिदाता, शिव नेत्र, बिहार की वेदना ये सभी पुस्तकें अपने आप में अद्वितीय ग्रंथ हैं। जिनको एक बार पढ़कर अज्ञान के बादल छंट जाते हैं।

आपने दिव्य गुप्त विज्ञान का अन्वेषण किया है, जिससे साधक, शीघ्र ही साधना की ऊंचाई पर पहुंच सकता है। संसार की कठिनाई का सहजता से समाधान कर सकता है।

आपने बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, ब्रीनाथ (उत्तराखंड), झारखंड तथा दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर आश्रम स्थापित किए हैं। आपके सद्विप्र, साधक, आचार्यगण देश-विदेशों में फैल गए हैं, जो आपके संदेशों को प्रचारित-प्रसारित कर रहे हैं। **“सद्विप्र समाज सेवा”** एक आध्यात्मिक संस्था है, जो आपके निर्देशन में जीवन के सच्चे मर्म को उजागर कर शाश्वत शांति की ओर समाज को अग्रगति प्रदान करती है। सद्विप्र समाज सेवा संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखती है।

जाति-पात का रिश्ता छोड़ो।

भाई से भाई नाता जोड़ो।।

आमुख

‘तंत्र’ का नाम सुनते ही लोगों के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बहुमुखी एवं व्यापक अर्थ का बोधक ‘तंत्र’ शब्द संस्कृत धातु ‘तन्’ से बना है जिसका अर्थ है बढ़ाना, विस्तार करना, तानना। शैव सिद्धान्त के अनुसार ‘तंत्र’ का अर्थ किया गया है “तन्वते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन, इति तंत्रम्” अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान/चेतना शक्ति का विस्तार किया जाता है। तंत्र की निरुक्ति ‘तन्’ (विस्तार करना) और ‘त्रै’ (त्राण करना) इन दोनों धातुओं के योग से सिद्ध होती है। इसका तात्पर्य यह है कि तंत्र अपने समग्र अर्थ में ज्ञान/चेतना शक्ति का विस्तार करने के साथ उस पर आचरण करने वालों का त्राण (मुक्ति) भी करती है।

एक ही शब्द कालान्तर में अनेकार्थी हो जाता है। उसका अर्थविशेष उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। आधुनिक विद्वानों ने तंत्र शब्द के अर्थ की विस्तृत व्याख्यायें की हैं। मानियर विलियम्स ने हरिवंश पुराण एवं भागवत पुराण के हवाले से तंत्र शब्द का अर्थ “प्रतिपादित करना” “प्रसार करना” लगाया है। संगीत के क्षेत्र में ‘तंत्र’ शब्द का उपयोग वाद्यों के वर्गीकरण के लिए किया जाता है। कुछ विद्वानों ने तंत्र का अर्थ व्यवस्था से लगाया है जैसे कि राजतंत्र, शासनतंत्र इत्यादि।

शाब्दिक दृष्टि से तंत्र का अर्थ है दृढ़ प्रमाण, उपाय, कर्तव्य आदि। आध्यात्मिक क्षेत्र में तंत्र शब्द का प्रयोग साधना विधि/उपाय के लिये हुआ है जिसका उपयोग व्यष्टिगत चेतना का प्रसार कर आध्यात्म के उच्चतम शिखर समष्टिगत चेतना को प्राप्त कराना है। विद्वानों का मत है कि सभी आध्यात्मिक साधनाओं की तरह तंत्र की साधना का भी एक उद्देश्य है “परमचेतना की अनुभूति।” तंत्र साधना एक जीवन शैली/विधि है जिसे अपनाकर साधक विभिन्न अभ्यासों/क्रियाओं द्वारा अपनी चेतना को उच्चतम शिखर पर ले जाता है।

“मैं कौन हूँ?” ‘मैं कहां से आया हूँ’, ‘मेरी नियति क्या है?’, ‘मानव, सम्पूर्ण प्राणी-जगत, ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का क्या रहस्य है?’ आदि प्रश्नों के उत्तर तंत्र साधक को अपनी साधना के दौरान सहज ही मिल जाते हैं। तंत्र का उद्देश्य जाति, धर्म, उम्र, लिंग आदि के भेदभाव से परे साधक को शून्य बनाकर, तन मन का शुद्धिकरण कर, सांसारिक रागद्वेष, मायामोह से मुक्त कर स्वरूप सत्य बोध कराना है। पाश्चात्य तंत्र विशारद सर जॉन वुडरोफ (छद्मनाम आर्थर एवलान) ने कहा है “तंत्र शास्त्र का महत्व इस दावे में है कि वह जाति, लिंग भेद से परे सबको वह साधन उपलब्ध कराता है जिसके माध्यम से सिखाये, बताये गये सत्यों को व्यवहारिक रूप से साकार किया जा सकता है। धार्मिक सत्यों का कथन मात्र उपयोगी नहीं होता। जरूरत है उन्हें साकार करने की, व्यावहारिक उपाय की।”

तंत्र मूलतः भारतीय खोज है। तंत्र के आदि गुरु ‘सदाशिव’ हैं। मान्यता है कि तंत्र शास्त्र स्वयं शिव ने पार्वती को उद्घाटित किया। तंत्र संबंधित विपुल ग्रंथ उपलब्ध हैं परन्तु सभी ग्रंथ शिव पार्वती संवाद के अन्तर्गत ही प्रकट हैं। आध्यात्मिक अर्थ में पार्वती श्रद्धा, समर्पण की, प्रतीक हैं। उनकी तर्क में कोई रुचि नहीं। शिव चेतना, ज्ञान के प्रतीक हैं। **स्वामी कृष्णानंद जी** विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ “**शिवतंत्र**” के पूर्वार्ध में मूल रूप से साधना की विभिन्न विधियों के अनुभवजन्य प्रायोगिक वर्णन हैं। तिब्बत और मिस्र की प्राचीन तंत्र साधना में भी इन विधियों को बहुत महत्व प्राप्त है।

‘शिवतंत्र’ में व्यवहार पक्ष ही मुख्य है। वाराही-तंत्र में तंत्र-शास्त्र के जो सात लक्षण बताये गये हैं सृष्टि, प्रत्यय, देवार्चन विधि, सिद्धि प्राप्ति उपाय, पुरश्चरण विधि, षट्कर्म विधि, ध्यान विधि। ये सातों लक्षण क्रियाओं/अनुष्ठान पर ही विशेष रूप से बल देते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए भले ही सिद्धान्त की बात बतायी गयी हो, अन्यथा तंत्रशास्त्र का अधिकांश महत्वपूर्ण भाग विधियों के वर्णन से ही संबंधित है।

तंत्र का सामान्य शाब्दिक अर्थ ही है विधि या उपाय। ‘शिवतंत्र’ पुस्तक का सारतत्व है साधनात्मक विधियों का वर्णन। इनमें से कुछ विधियां शिव-प्रोक्त अत्यन्त प्राचीन दुर्लभ तंत्र-ग्रन्थ ‘विज्ञान भैरव तंत्र’ के कतिपय सूत्रों पर आधारित हैं। इस रूप में शिवतंत्र एक विज्ञान-ग्रंथ भी है। विज्ञान ‘अनुभव’ केन्द्र बन जाता है। सिद्धांत गौण हो जाता है। वस्तुतः शिवतंत्र “व्यष्टिगत चेतना (Individual consciousness) के पार जाने एवं समष्टिगत चेतना (cosmic

consciousness) की स्थिति को उपलब्ध करने की विधि है, जो स्वामी जी की लेखनी से अवतरित हुई है। एवं वर्तमान युग के लिये अत्यन्त लाभकारी है।

मनुष्य अपने मूल ‘स्वरूप’ को भूल गया है। सत्य की खोज अपने ‘स्वरूप’ की खोज है। अपने मूल ‘स्वरूप’ की खोज के विभिन्न उपायों में से एक उपाय है मन को शुद्ध करने का। प्राण-शक्ति मन के रूप में कार्य करती है। प्राण श्वास के रूप में बह रहा है। ‘श्वास’ रूपी प्राण का स्पन्दन जितना कम होगा, मन भी तदनु रूप ही निःस्पन्दित हो जायेगा। मन की दौड़-धूप कम होने से, मन स्थिर हो जायेगा। यही है मन की ‘विशुद्धि’। श्वास ही जीवन का वास्तविक आधारभूत तत्व है। श्वास ही ‘शरीर’ एवं मूल ‘स्वरूप’ के बीच सेतु का काम करती है। यही श्वास व्यष्टिगत चेतना एवं समष्टिगत चेतना की भी सेतु है। इसी श्वास के सहारे हम अपने मूल ‘स्वरूप’ की अनुभूति कर सकते हैं।

‘शिवतंत्र’ में वर्णित ये विधियां भी श्वासों के ‘वर्तुल मोड़’, ‘गहराई’ ‘संधि-स्थल’ एवं ‘ठहराव’ पर आधारित तथा आज्ञाचक्र पर अवधान, (ध्यान) ‘सांसारिक कार्य करते हुए श्वासों के अन्तराल पर अवधान’, ‘सोते समय ध्यान’ एवं ‘मृतवत लेट कर ध्यान’ से सम्बन्धित हैं एवं निश्चित ही परिणामगामी हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी श्री द्वारा बतायी गयी जीवन साधना की अन्य विधियां ‘शिवकीर्तन’, ‘सूखे पत्ते के द्वारा साधना’, ‘शरीर को जलते हुए श्मशान में देखने की साधना’, ‘गुलाब के फूल के द्वारा साधना’, ‘पितृगण, ऋषिगण, देवगण दर्शन साधना’ तथा ‘सहस्रदल ध्यान साधना’ का इतनी सरलता से वर्णन किया गया है कि कोई भी सामान्य साधक, इन विधियों को स्वयं कर चेतना के विभिन्न स्तरों की अनुभूतियां स्वयं प्राप्त कर सकता है। इनमें से कतिपय विधियों को तो मैंने स्वयं किया तथा चमत्कारिक अनुभव प्राप्त हुए।

‘शिवतंत्र’ में वर्णित ये विधियां पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, किसी धर्म विशेष से सम्बन्धित नहीं हैं। प्रत्येक धर्म का व्यक्ति इन विधियों को अपनाने के बाद निश्चित रूप से अनुभव करेगा ही। ये विधियां स्वयमेव आपके समस्याओं का समाधान नहीं हैं, अपितु समस्या समाधान की प्रक्रिया हैं। यह समाधान विधि बौद्धिक नहीं है, प्रायोगिक है। उदाहरणार्थ यदि अंधे व्यक्ति को प्रकाश के बारे में जो कुछ भी कहा जाये तो वह सदा बौद्धिक ही होगा परन्तु यदि उसे कोई ऐसी विधि दे दी जाये जैसे कि उसका कॉर्निया ट्रान्सप्लांट करा दिया जाए तो फिर उसे प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। वह स्वयं ही प्रकाश को समझ लेगा।

इन विधियों को अपनाने में, करने में कोई मतभेद नहीं है। इन विधियों को करने में किसी धर्म, सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होने की आवश्यकता नहीं है। हरेक धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग का व्यक्ति इन विधियों को कर सकता है। इन विधियों को करने हेतु किसी मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च में जाने की बाध्यता नहीं है, न ही किसी धार्मिक अनुष्ठान को करने की आवश्यकता है। किसी भी तरह की अन्यथा आस्था एवं विश्वास रखने की भी आवश्यकता नहीं है। ये विधियां पूर्णतया वैज्ञानिक हैं। मानव मात्र अपने शरीर रूपी प्रयोगशाला में इन प्रयोगों (विधियों) को कर सकता है और जब आप इन प्रयोगों को करेंगे तो निश्चित ही परिणाम प्राप्त होगा। जैसे कि डूबने से बचने के लिए तैरना ही पड़ेगा, बिजली पैदा करने के लिए कोयले, पानी का धुएं में रूपान्तरण करना ही पड़ेगा, दौड़ने के लिए पांव आगे बढ़ाना ही पड़ेगा और पर्वत पर चढ़ने के लिए ऊंचाई पर कदम बढ़ाना ही पड़ेगा। ठीक उसी तरह शिवतंत्र में स्वामी जी द्वारा वर्णित विधियों को करने हेतु आप में धैर्य, साहस एवं लगन होना ही चाहिए। यही एक अनिवार्य शर्त है।

ज्ञान के विकसित होने का जो क्रम है वही क्रम तंत्र के विकसित होने का भी है। तंत्र क्या है? इस प्रश्न में विधि/उपाय एवं इतिहास दोनों ही समाहित हैं। स्वामी जी द्वारा शिवतंत्र के उत्तरार्ध में तंत्र के क्रमिक ऐतिहासिक विकास की सुन्दरतम अभिव्यक्ति की गयी है। देव संस्कृति, यक्ष संस्कृति, मानव संस्कृति, रक्ष संस्कृति के भौगोलिक परिदृश्यों एवं इन संस्कृतियों के गुणधर्मों एवं आपसी सम्बन्धों के बारे में विशद् वर्णन है, जो किसी भी अन्य पुस्तक में अप्राप्य है। परमपिता परमात्मा के परमभक्त तथा मानव संस्कृति के उद्भव के प्रतीक विश्वमित्र की तपस्या, गायत्री छंद का अविर्भाव, एवं 'यज्ञ समाधि तंत्र' जो तंत्र की आन्तरिक नवीनतम विधा है, के आठ चरणों का विशद् वर्णन, स्वामी जी के अन्तः प्रज्ञा से ही सम्भव है। सिद्धाश्रम विश्वविद्यालय की स्थापना, विश्वमित्र द्वारा चारों संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करना, श्री हरि के 'अणुतंत्र' का आविष्कार, कालान्तर में देव संस्कृति मानव संस्कृति का रक्त संबंध, जातियों का उद्भव, तुलसी की उत्पत्ति, रक्ष संस्कृति का उद्भव, लंका, रावण, दैत्य, राक्षस, नाग, देवगण, आर्य एवं आर्यवर्त का वर्णन, विश्वमित्र, वशिष्ठ, शंकराचार्य की वंश परम्परा का वर्णन अत्यन्त ही रोचक ढंग से किया गया है।

'अवतार' एवं 'साधु' शब्द की परिभाषा, चन्द्रवंश का उद्भव, चन्द्रवंशी ब्राह्मण एवं ऋषि, विश्वमित्र-राम सम्बन्धों का वर्णन एवं नवधा भक्ति के समस्त

चरणों का अलौकिक वर्णन किया गया है। रामप्रसंग साधनात्मक संदर्भ, कृष्णप्रसंग-साधनात्मक संदर्भ, महाभारत एवं उसके पात्रों का वर्णन, गीता-साधनात्मक वर्णन, सांख्य एवं योग, निष्काम कर्म, स्व-धर्म, भृकुटि पर ध्यान ही स्वधर्म, योगयुक्त होना, वर्णाश्रम वर्णन, समर्पण भाव का वर्णन अनुभव आधारित है, जो हृदयग्राही तो है ही, साथ ही साधकों एवं नवसद्-विप्रो हेतु साधना के मानदण्ड भी स्थापित करता है।

'शिवतंत्र' का उद्देश्य आम पाठक को तंत्र के उद्देश्य, उसके उद्भव, विकास अर्थात् इतिहास, सिद्धान्तों एवं साधना पद्धतियों की ठोस जानकारी देना है साथ ही तंत्र के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रान्तियों को दूर कर जाति-पाति, धर्म सम्प्रदाय वर्ग भेद रहित साधना विधि प्रदान करना है, जिससे मानव मात्र लाभान्वित हो सके। स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में अपने निजी अनुभव एवं ज्ञान का मंजुल समन्वय कर दिया है।

'शिवतंत्र' के लेखक **स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज**, वर्तमान युग के सद्गुरु हैं। जिनके परिचय के संबंध में मैं मात्र इतना ही भावाभिव्यक्ति करना चाहूँगा 1988 से 2006 तक की 18 वर्ष की मेरी भटकाव भरी यात्रा के विभिन्न पड़ावों रामकृष्ण मिशन, योगदा सत्संग सोसाइटी, युग निर्माण योजना, विन्ध्याचल धाम, दक्षिणेश्वर मंदिर, कामाख्या धाम से गुजरने के बाद भी अस्थिर, जाने माने संतों, तंत्र साधकों, जिनका नाम यहां लेना उचित नहीं समझता हूँ, से मिलने के बाद भी अतृप्त एवं सैकड़ों तंत्र मंत्र यंत्र एवं साधनागत पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् भी असंतुष्ट, मैंने परमपुरुष की कृपा से स्वामी जी के रूप में स्थायी अवलम्ब अपने आध्यात्मिक पिता-श्री गुरुदेव को पा लिया, जिन्होंने मुझे मानसिक स्थिरता, आत्मिक तृप्ति एवं बौद्धिक सन्तुष्टि प्रदान की।

तंत्र आज भी अप्रासंगिक नहीं है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य अपने मस्तिष्क की क्षमता का बहुत अल्प अंश ही प्रयोग कर रहा है। मनुष्य की मानसिक शक्ति वास्तव में चमत्कारिक है। निस्संदेह, सच्ची साधना किसी भी व्यक्ति को न केवल चमत्कारपूर्ण मानसिक शक्ति का स्वामी ही बना सकती है वरन् उसे 'स्वरूप' बोध भी करा सकती है। लेकिन इसके लिए उसे धैर्य, साहस, लगन एवं सद्गुरु के सान्निध्य में साधनायुक्त जीवन बिताने की शर्त पूरी करनी ही पड़ेगी। ऐसे गुरु आज भी हैं। शिष्य कभी गुरु को नहीं खोज सकता। उसमें यह क्षमता ही नहीं होती। गुरु तो स्वयं शिष्य खोजता है ताकि मानव कल्याण के लिए उसकी परम्परा आगे बढ़ सके।

तंत्र-पथ पर आध्यात्मिक उत्कर्ष के फूल भी हैं और भौतिक अभीप्सा के कांटे भी। यह पथिक पर निर्भर करता है कि वह इन दोनों में से किसको चुने। निःसंदेह यह पुस्तक पाठक को जिज्ञासु बनायेगी तथा सही विकल्प चुनने में सहायक होगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

11/298/13, इन्दिरा नगर,
लखनऊ-226016 (उ.प्र.)
मोबाइल : 09919445208

एम.पी. वर्मा (P.E.S.)

M.Sc. (Chemistry) Gold Medalist, B.H.U.

A. Dy. Director of Education
&

A. Public Information Officer
Directorate of Secondary Education
Uttar Pradesh, Lucknow-226001

दो शब्द

हिन्दू संस्कृति का इतिहास सदैव ही विश्व की अनेक संस्कृतियों के लिए चर्चा एवं शोध का विषय रहा है। योग शब्द केवल भारत भू-खंड के मनीषियों की खोज है। योग शब्द का अर्थ आज के संदर्भ में वास्तविक अर्थ का केवल अपभ्रंश ही रह गया है। तथा अपने इस भौतिक शरीर को विभिन्न प्रकार के आसनों से कुछ उपलब्धियां प्राप्त कराने मात्र को ही योग की संज्ञा दी जाती है। योग अर्थात् आत्मा और परमात्मा के मिलन की चरम अवस्था। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए विधियाँ एवं उपकरण प्रयोग में लाए जाते हैं। जिन्हें मंत्र, यंत्र, एवं तंत्र कहा जाता है। मंत्रों के द्वारा जो कि मूलतः स्वर एवं व्यंजन है, वातावरण तथा अपने भौतिक एवं मानसिक शरीर की शुद्धि करते हुए ऊर्जान्वित किया जाता है। जिससे हम परम सत्ता की दिव्य ऊर्जा को प्राप्त करने के योग्य बन सकें। यंत्र अर्थात् उपकरण एवं कुछ आकृतियां हैं जिनका उपयोग मंत्रों के साथ करने पर योग की पूर्ण अवस्था को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अन्ततः तंत्र वे सभी विधियाँ हैं जिनमें मंत्र एवं यंत्र का उपयोग करते हुए, अपने मन की शक्तियों का विकास करते हुए पूर्णत्व को प्राप्त किया जाता है। तंत्र की विधियों से ब्रह्मांड की ऊर्जाओं एवं शक्तियों के साथ सामन्जस्य स्थापित करके उनके साथ एकाकार होकर असाध्य कार्य भी किए जा सकते हैं एवं कुछ होने वाली घटनाओं को नियंत्रित भी किया जा सकता है। कुछ पथ भ्रष्ट योगी (योग के साधक) इन विधियों के द्वारा प्राप्त ऊर्जाओं का केवल अपने स्वार्थ हेतु ऊर्जाओं एवं प्राप्त का दुरुपयोग करते हुए ऐसे कृत्य करते हैं जिनसे जन साधारण के मन में तंत्र एवं इस विद्या के साधकों के प्रति भय एवं घृणा की भावना उत्पन्न होती है। यह भी एक विडम्बना ही है कि जन साधारण तंत्र विद्या के पथभ्रष्ट साधकों के कारण विद्या से भयभीत होते हुए घृणा का भाव रखता है तथा तंत्र विद्या के उद्गम एवं जन साधारण को विद्या प्रदान करने वाले व्यक्तित्व, अर्थात् शिव की आराधना भी संपूर्ण भक्तिभाव के साथ करता है। इस प्रकार की विरोधाभास स्थिति उत्पन्न करने के लिए पथ भ्रष्ट साधक तथा उनके साथ जुड़ी हुई भ्रांतियां ही हैं। अन्यथा तंत्र विद्या का उपयोग करते हुए योग की चरम अवस्था अर्थात् पूर्णत्व को प्राप्त

किया जा सकता है। आवश्यकता है तो केवल स्वयं को एक सुपात्र एवं योग्य बनाने की। तत्पश्चात् मार्गदर्शक तथा इस विद्या के ज्ञाता अर्थात् सामयिक सद्गुरु साधक को खोजते हुए स्वयं ही उस तक पहुंच जाते हैं। अन्यथा साधक को अपने पास बुला लेते हैं।

तंत्र एवं इससे संबद्ध इतिहास के घटनाक्रम को समझकर तथा इससे जुड़ी भ्रांतियों को दूर कर जन साधारण के समक्ष रखने का कार्य केवल दिव्य दृष्टि प्राप्त व्यक्तित्व ही कर सकते हैं। जो कि तत्कालीन घटना क्रम को उसी काल में पहुंच कर समझने की योग्यता रखते हैं।

स्वामी कृष्णायन ऐसे ही गिने चुने व्यक्तित्व हैं जिन्होंने अनेक परिस्थितियों का तत्वावलोकन करते हुए तत्कालीन घटना क्रम को एक सूत्र में पिरोकर ज्ञान वाहिनी पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध किया है। तंत्र विद्या से संबंधित भ्रांतियों का समाधान करते हुए कुछ प्रमुख विधियों का उल्लेख भी किया है। जिससे प्रेरणा प्राप्त कर जन साधारण साधना के पावन पथ पर अग्रसर हो सके तथा सृष्टि के संचालन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सके। मेरी शुभकामनाएं उन सभी भावी साधकों के प्रति सदैव रहेंगी जो ज्ञान गंगा से प्रेरणा प्राप्त करते हुए, तंत्र से संबंधित भ्रांतियों का निराकरण करते हुए साधना के पथ पर अग्रसर होने का प्रयास करेंगे। हरिओम् तत्सत्।

साधना के मार्ग का एक पथिक।

जयेश कुमार शर्मा, दिल्ली।

पुरोवाक

आज के सुसंस्कृत मनुष्य के शब्द कोश में तंत्र और तांत्रिक, दोनों ही शब्द निंदा जनक हो गए हैं। संत महात्मा ने भी तंत्र का तिरस्कार किया है। परंतु तंत्र कहता है आपका तन पृथ्वी का बोझ नहीं है। परम आदर के योग्य है। तन के रहस्य में उतरना ही है तन् त्र। तंत्र स्थूल शरीर से यात्रा करता है। भाव, सूक्ष्म, मनोमय, आत्म, ब्रह्म, निर्वाण शरीर तक जाता है। तंत्र की बाहें फैलती जाती हैं। उसके आलिंगन में धरती, अम्बर, लोक परलोक सभी समा जाता है।

तंत्र तन के पूर्ण स्वीकार का मार्ग है यह हृदय का मार्ग है। जीवन कोई समस्या मानता है। फिर समाधान देता है। तंत्र रहस्य का आधार है रहस्यों को हम जीत सकते हैं। हम स्वयं उसमें खो सकते हैं। उससे एकाकार हो सकते हैं।

प्रार्थना, तंत्र से, ध्यान से बचने की एक तरकीब है। तथाकथित धार्मिक चिन्तन बहुत प्रकार की प्रार्थनाएं खोज ली हैं। प्रार्थना यदि हृदय से जुड़ जाय तो वह भी ध्यान बन सकती है। ध्यान वह प्रयास है, जो स्वयं आप अपने साथ करते हैं। तब आप रूपांतरित हो जाते हैं फिर पूरा अस्तित्व आपके साथ भिन्न ढंग से व्यवहार करता है।

तंत्र ज्योति प्रदान कर आपको नव जीवन देता है। चेतना केंद्र के तरफ ले जाता है, जहां से हम अनंत आनंद को उपलब्ध हो जाते हैं। हम केंद्र से परिधि को देखते हैं। संसार स्वप्नवत दिखाई पड़ता है। भगवान शिव मां पार्वती को बहुत आत्मीयता से मन के पार जाने का उपाय बताते हैं। ये उपाय ही है **“विज्ञान भैरव”**। जिसमें एक सौ बारह विधियां हैं। प्रत्येक विधि मन को छलांग लगाने की है। पार्वती शिव का अभिन्न हिस्सा है। ये दोनों एक ही पूर्णता के दो अर्थ हैं। इतनी घनिष्टता में ही मन का द्वार खोलने की इस तरह की कुंजियां दी जा सकती हैं। तंत्र कहता है संसार और निर्वाण दो नहीं हैं। आपकी केवल दो दृष्टियां हैं। एक दृष्टि के चलते आप संसारी हैं। यदि दृष्टि बदल जाय तो वही संसार निर्वाण बन जाता है। वही संसार परमानंद बन जाता है।

मैंने इसमें भैरव विज्ञान के कुछ सूत्रों की प्रारंभ और अंत में व्याख्या की है तथा बताया है उन्हें जीवन में कैसे उतार सकते हैं। अपने जीवन को आप तत्क्षण बदल सकते हैं। आपको कहीं जाना नहीं है। जहां हैं वहीं आप किसी एक विधि को अपने जीवन में उतार लें। यह आप पर निर्भर करता है। गुरु व्यक्ति के अनुसार तंत्र प्रदान करता है। गुरु की उपस्थिति में साधना का विकास तेजी से होता है।

हिमालय यात्रा के अन्तर्गत कुछ तंत्र साधनाएं मेरे द्वारा शिष्यों को कराई गई हैं। आत्मशरीरी आत्माओं ने जो कुछ भी बताया, वह मैंने कराया वह उद्धृत है। औघड़ की तंत्र साधना, योगी का परकाया प्रवेश, ब्रह्म पिशाच की आत्म-कथा तार्किक के लिए कल्पना हो सकती है। साधक श्रद्धालु के लिए रहस्यमय यात्रा का द्वार खोल सकती है।

भगवान शिव का औघड़, साधक, कौल तंत्र अभिशप्त हो गया। पंच मकार में फंसकर रह गया।

वैष्णव तंत्र, सात्विकता का प्रतीक रहा है। देव, यक्ष, राक्षस, एवं मानव की संस्कृतियां थीं, सभी समान रूप से विकसित हुईं। स्थान विशेष, समय विशेष व्यक्ति विशेष के अनुसार इनका विकास हुआ। मानव संस्कृति ही सर्वोत्कृष्ट है। आप एक चौराहे पर हैं। जहां से चारों ओर जाने का द्वार खुला है। सभी आपको अपनी तरफ आकर्षित करना चाहते हैं। यही कारण है कि हम संसार में पद प्रतिष्ठा की तरफ आकर्षित होकर परमात्मा की तरफ जाने का रास्ता भूल जाते हैं। हमारा भटकाव शुरू हो जाता है। समय का सद्गुरु संसार को परिधि पर रखकर परमात्मा को केंद्र पर रखकर आपके अनंत आनंद का द्वार खोल देता है। जहां आप स्वयं परमात्मा ही हो जाते हैं फिर समस्त सृष्टि आपका ही विस्तार है, ऐसा अनुभव होने लगता है।

विश्वमित्र के गायत्री छंद के आविष्कार और उनके द्वारा धरती के लिए आविष्कृत वस्तुओं का भी वर्णन किया गया है। जब साधक केंद्र में स्थित रहेगा तब वह अंदर से अकर्म में रहेगा। उसके बाहर वृक्ष के तरह कर्म के फूल-फल लगेंगे। भगवान कृष्ण का सांख्ययोग, स्वभाव में स्थित होना तथा स्वभाव ही ओंकार है की विधि व्यावहारिक स्तर पर प्रदान की गई है। योग युक्त होने की कला, परम पिता में ही सब देखने की कला भी इसमें प्रदान की गई है। यदि इससे आपको साधना के पथ पर कुछ भी लाभ हो तो मैं अपना लेखन सार्थक समझूंगा। यदि कहीं आपकी भावना को ठेस पहुंचती है तो उसके निवारण हेतु सुधार किया जा सकता है। साधना के पथ पर चलने वाले साधकों से मेरा निवेदन है कि तंत्र की किसी एक विधि को अपने भीतर उतार लें। उस परम चैतन्य को स्वीकार कर लें। यही मेरी कामना है। आप सभी के अंतःकरण में वह परम शिव बैठा है जिसे मेरा नमन है।

धन्यवाद

स्वामी कृष्यायन जी महाराज

सद्गुरु धाम आश्रम

एच-243, कुंवर सिंह नगर,

निलौठी मोड़, नांगलोई,

दिल्ली-100041

दूरभाष न. 011-28361513, मो.09868886830

अनुक्रम

1.	लेखक स्वामी श्री कृष्णानन्द जी महाराज का परिचय	3
2.	आमुख	5
3.	दो शब्द	11
4.	पुरोवाक्	13
5.	तंत्र	19
6.	सद्गुरु जुगत लखाई	21
7.	विक्षिप्त महात्मा	24
8.	योगी महात्मा	25
9.	ऋषि गण द्वारा पुत्र दान	29
10.	औघड़ की तंत्र साधना	31
11.	ब्रह्म पिशाच की आत्म कथा	37
12.	प्रेत योनि में वासना	39
13.	हिमालय यात्रा एवं साधना	41
14.	सूखे पत्ते के द्वारा साधना	42
15.	शरीर को जलते हुए श्मशान में देखना	46
16.	गुलाब के फूल के द्वारा साधना	50
17.	पितृगण, ऋषि एवं देवगण दर्शन	53
18.	सहस्रदल का ध्यान	57
19.	भगवान शिव का तंत्र शिष्या-शिवा, श्वासों के मध्य रुको, श्वास के मोड़ पर रुक जाओ, केन्द्र पर रुको, श्वास का ठहरना, भृकुटी के बीच अवधान, दो श्वासों के मध्य, स्वयं का मालिक, ज्ञाता ही ज्ञेय है, अपने शरीर को मृतवत देखना, कीर्तन, जीवन साधना की अन्य विधि, संयम, शिव कीर्तन, कीर्तन विधि	61
20.	शिव के द्वारा गंगा को उतारना	92
21.	शिव एवं तंत्र	95
22.	अगस्त्य एवं वशिष्ठ का आगमन	96

23.	भारतीय मनीषी विश्वरथ वशिष्ठ का क्रोधित होना, विश्वमित्र का गृह त्याग, विश्वमित्र का तप करना, वशिष्ठ द्वारा सत्यव्रत को राज्यच्युत करना एवं स्वयं राजा बनना, विश्वमित्र एवं मेनका, मेनका का कामदेव के द्वारा पुत्री को जन्म देना, शकुन्तला, विश्वमित्र का पुष्कर जाना, गायत्री का जन्म, विश्वमित्र के द्वारा गायत्री यज्ञ करना, विश्वमित्र का अयोध्या आगमन, गुरु स्वरूप विश्वमित्र, अयोध्या में गायत्री यज्ञ, विश्वमित्र का सिद्धाश्रम आना, देवेन्द्र का चिन्तित होना, सत्यव्रत का सशरीर स्वर्ग जाना, देवगण द्वारा हरिश्चन्द्र की परीक्षा, विश्वमित्र का हरिश्चन्द्र की पुकार सुन प्रकट होना	97	36.	सद्गुरु के बिना तप अहंकार लाता है	204
24.	हरि की अणु शक्ति हरि का लक्ष्मी से शादी करना, अणु तंत्र, समुद्र मन्थन, शिव का विष पीना, अमृत का बटंवारा, राहु का अमृत पीना, हरि का समुद्र में निवास करना, समुद्र मंथन का आध्यात्मिक अर्थ	126	37.	राजा अम्बरीष-दुर्वासा	205
25.	रक्त सम्बन्ध एवं देव यज्ञ	135	38.	साधु को दान	210
26.	शुक्राचार्य की कूटनीति देवेन्द्र स्वर्ग-नरक एवं जातियां, हिरण्यकश्यप एवं प्रह्लाद, विरोचन का राज्यारोहण, बलि का राज्य, राजा बलि की नीति, राजा बलि का यज्ञ एवं शुक्राचार्य की भूमिका, बलि के यज्ञ का आध्यात्मिक महत्व, वैष्णव धर्म, भृगुऋषि का पदार्पण, जालंधर, जालंधर की पत्नी को भ्रष्ट करना, वृंदा का श्राप	137	39.	वशिष्ठ की कूटनीति	215
27.	माली एवं माल्यवान के द्वारा रक्ष संस्कृति को बचाना, लंका, कुवेर को लंका का राजा बनाना, माल्यवान का पुलस्त्य आश्रम में शरण लेना, कैकशी (रावण की मां) एवं विश्रवा, रावण का भाई-बहनों के साथ तप करना, रावण का लंका पहुंचना, रावण की राजनिति एवं कूटनीति	155	40.	महाराज रावण का देवताओं के वश में हो जाना	216
28.	दैत्य या राक्षस	168	41.	राम में रामत्व का आना विश्वमित्र के द्वारा राम को मांगना, राम विश्वमित्र वार्ता, विश्वमित्र के साथ राम का जाना, यज्ञ की रक्षा, विश्वमित्र की दक्षिणा, गुरु शिष्य का जनकपुर पहुंचना एवं स्वयंवर, राम परशुराम वार्ता, राम एवं उनका परिवार, दशरथ के आठ मंत्री, आठ ऋषि मंत्री	217
29.	नाग	170	42.	राम का वन गमन भरत का आगमन, राम का दण्डकारण्य प्रवेश, सरभंग- सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, राम का पंचवटी आना तथा जटायु से सम्बन्ध होना, मोह एवं लोभ का आक्रमण, रावण और जटायु, राम का कबन्ध और शबरी से मिलन, शबरी, राम हनुमान परिचय, राम का मित्र धर्म से सम्बन्ध, धर्म यानी जामवंत, साधक की स्थिति, हनुमान का लंका जाना, हनुमान द्वारा विभीषण को मंत्र देना, हनुमान द्वारा लंका को जलाना, हनुमान का संदेश एवं युद्ध की तैयारी, समुद्र से रास्ता मांगना, राम-रावण युद्ध	231
30.	देवगण रामायण में देवता की महत्ता, आर्य, आर्य की भूमि	170	43.	राम का अयोध्या आना राम दरबार	267
31.	सौदास और वशिष्ठ राजा नेमी और वशिष्ठ	177	44.	कृष्ण कृष्ण का जन्म, कंस-कृष्ण एक कर्म योग, इन्द्र का कोप, कृष्ण का मथुरा आगमन, कृष्ण की शादी	272
32.	राजा जनक का वंश	181	45.	महाभारत के पात्रों का काल	281
33.	अवतार	184	46.	दुर्योधन	282
34.	चन्द्रवंश इला-इलावर्त, चन्द्रवंश से ब्राह्मण एवं ब्रह्मर्षि	187	47.	कर्ण	285
35.	साधु साधु की महिमा	192	48.	भाई के रूप में सुयोधन असफल	288
			49.	आइए, अब हम देखें आखिर निष्काम योग है क्या? सांख्य एवं योग, स्वभाव में स्थित होना या निष्काम को उपलब्ध होना	289
			50.	समय-समय पर गीता की व्याख्या स्वभाव है ओंकार	295
			51.	तत्व को जानकर योग युक्त होना परमपिता में ही सब देखना	300
			52.	समर्पण	308
			53.	ज्योतिर्मय यात्रा	311
			54.	हृदय में शांति का अनुभव करें	319

तंत्र

तंत्र शब्द अति प्राचीन है। यह अत्यन्त ही महत्व का है। साधारणतः इस शब्द को सुनकर लोग चौंक जाते हैं। साधारण लोग “तंत्र” शब्द सुनते ही श्रद्धावत् हो जाते हैं या अन्दर से भ्रम उत्पन्न होने लगता है। आखिर ऐसा क्यों? भारतीय मनीषी किसी शब्द को गढ़ने में, बनाने में वर्षों का समय व्यतीत कर देते थे। कुछ समय तक तंत्र शब्द ऐसे ही तथाकथित महात्माओं, सन्यासियों के चंगुल में फँस गया था। जहाँ इसे नेकनामी कम, बदनामी ज्यादा हाथ लगी। यह समय इसके लिए अत्यन्त दारुण रहा। यह समय आज से 200 वर्ष पूर्व से 1000 वर्ष पूर्व का था, जिस समय अविद्या के साधकों की बाहुल्यता हो गयी थी। तथाकथित चमत्कार दिखाकर सीधे-सादे जनसाधारण का शोषण करने का साधन मात्र बनकर रह गया था। इस कला से जनसमूह का कल्याण करना कम, शोषण करना ज्यादा हो गया था। इन परिस्थितियों में इसका विकृत रूप देखकर जनसाधारण का संशंकित होना स्वाभाविक ही था। इसी से “तंत्र” सर्वग्राह्य, या सम्यक नहीं बन सका। जबकि तंत्र की प्रत्येक मानव के जीवन में उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भोजन, कपड़ा और आवास की। यह स्त्री-पुरुष सबके लिए समान रूप से अत्यावश्यक है। अब हम “तंत्र” शब्द का अर्थ समझें

“तंत्र” “तंत्रं वाऽयात् तारयेत् यस्तु सः तंत्रं परिकीर्तितः।” यानी जड़ता से जो त्राण दिलाता है, वह तंत्र है। यानी जो कल्याणकारी है एवं जड़ता के फाँस से मुक्त करता है, चेतनता लाता है, वह “तंत्र” है। यह संस्कृत के तन् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है प्रसारित होना, विस्तार होना। यानी जिस विधि से, पद्धति से आत्म-विस्तार होता है, उसी का नाम “तंत्र” है। अब यह समझ लें कि मुक्ति के लिए जिस भी विधि का प्रयोग किया जाता है वह तंत्र कहलाता है। तंत्र पर व्याख्या करना अत्यन्त दुरुह है। इसे तो जाना जा सकता है, विधि से। “तंत्र” में व्यावहारिक पक्ष ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका सूत्रपात होता है शरीर से। इसका अनुशीलन होता है मन से। इसी के द्वारा अन्त में मन एवं आत्मा के सम्बन्ध से परमपिता में प्रवेश किया जा सकता है।

मुक्ति के लिए, मोक्ष के लिए, निर्वाण के लिए जिस विधि को, जिस उपाय को अपनाया जाये, उसे ही “तंत्र” कहते हैं। यह उपाय एक तरह की साधना ही है। साधना के लिए गुरु-शिष्य की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरु दिव्य शक्तियों का स्रोत होता है या दिव्य स्रोत से सम्बन्धित होता है। जो पावन शिष्य को अपने से सम्बन्ध कराने में समर्थ होता है। इस “तंत्र” के आदि गुरु सदा शिव हुए उन्होंने इसकी 112 विधियां दी हैं। जैसे अलग-अलग रोग के लिए अलग-अलग दवायें हैं, उसी तरह अलग-अलग व्यक्ति के लिए अलग-अलग विधियाँ हैं। यह विधि व्यक्ति विशेष या स्थान विशेष, समय विशेष पर निर्भर करती है। इस तरह युग-युग से फैले हुए अन्धकार रूपी व्यवधानों की गंगा को इसी तंत्र रूपी साधना की पतवार से पार कर सकने की अक्षय सामर्थ्य आप में भी है। वह सामर्थ्य सूक्ष्म रूप में सोयी हुई है। वह बीज रूप में पड़ी है। वह जड़ता की अवस्था प्राप्त कर चुकी है। उसे उस जड़ता के अभिशाप से मुक्त कर देता है सद्गुरु। सद्गुरु अन्धकार से प्रकाश की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर, काम से ब्रह्मचर्य की ओर, ममता से वैराग्य की ओर चलने वाली भावधारा को शिष्य में उत्पन्न कर देता है।

“तंत्र” मूलतः भारतीय खोज है। शुरू-शुरू में लोग जंगलों में असंगठित रूप से रहते थे। बाद में समय एवं आवश्यकता के अनुसार गोष्ठीबद्ध होने लगे। यह गोष्ठी अपने बचाव, रक्षा के लिए बनी। साथ ही विभिन्न गोष्ठियों में बार-बार लड़ाई-झगड़ा होने लगा, क्योंकि उदर-पूर्ति के साधन कम पड़ने लगे। इस तरह एक खास वर्ग का विशेष उदय हुआ जो संग्राम का नेतृत्व कर सके। कालान्तर में यही लोग क्षत्रिय कहलाये। समयानुसार इन्हें मानसिक शान्ति या ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। जो ज्ञान की बातें करे एवं नये-नये आविष्कार करे तथा उसे जीवनोपयोगी बनाये, उस समय उसे ही ऋषि कहा गया। ये निस्सन्देह जन-साधारण की तुलना में श्रेष्ठ होते थे। लोग उनका आदर करते, उनके आगे सिर झुकाते थे। उनका नियम-कानून लोग मानने को बाध्य होते गये, तथा बाद में सभी लोगों ने अपने को किसी-न-किसी ऋषि से जोड़ लिया। जिसे अब गोत्र के रूप में देखा जाता है। यह भी सत्य था कि वे व्यक्ति जो मनन करते थे, मुनि कहलाये, साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे अपने ज्ञान-विज्ञान की अच्छी बातों को जन-साधारण को सुनाते बताते थे। लोग उसे सुनकर याद कर लेते थे। इसी से इसे कालान्तर में श्रुति कहा गया। यही ज्ञान वेद कहलाया। वे ऋषि अपने ज्ञान से अलौकिक वस्तुओं एवं शक्तियों को देखते रहते थे। सुअवसर एवं सुपात्र को देखकर उसे बता देते थे। वे ऋषि इन वाक्यों या मन्त्रों

के दृष्टा थे। जो बाद में वेद रचयिता न कहलाकर दृष्टा कहलाये। जो रचना करता है वह रचयिता कहलाता है। जो देखता है दृष्टा है। इसी से वेद के रचनाकार को ईश्वर कहा गया। यह भी सत्य है कि उस समय तक आध्यात्मवाद या तंत्र का विकास ठीक ढंग से नहीं हो पाया था। उन्हें जिस चीज की आवश्यकता पड़ती वे उनकी प्रार्थना करना शुरू कर देते। ज्यादा स्तुति प्रकृतिजन्य है। जैसे जंगलों की रक्षा के लिए, चूँकि वे पूर्णतः जंगलों एवं पशुओं पर ही निर्भर थे। अतएव बादल की स्तुति, वृक्ष की स्तुति करने लगे। बाद में इन गोष्ठियों के ऋषियों का सम्बन्ध देवताओं से हो गया। उस समय तक विभिन्न संस्कृति का विकास हो गया था। स्थान विशेष, समय विशेष के अनुसार देव संस्कृति, रक्ष संस्कृति, गन्धर्व संस्कृति और मानव संस्कृति का विकास हुआ। इनमें मानव एवं रक्ष संस्कृति की बहुत माने में समानता थी। ये दोनों व्यक्तित्व के विकास, पौरुष एवं कर्तव्यपरायणता पर विश्वास करते थे। रक्ष संस्कृति के लोग अत्यन्त पराक्रमी, साहसी एवं नैतिक हुए। जिन्हें बाद में उच्च विचारों एवं पराक्रम के चलते रक्षा का दायित्व दिया गया। ये ही समयानुसार राक्षस कहलाये। ये मानव के साथ मिलकर रहने लगे तथा नित नये-नये आविष्कार करने लगे। उन्हीं आविष्कारों में पृथु के द्वारा पृथ्वी पर कृषि करने का आविष्कार हुआ। उस समय के लिए यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण आविष्कार था, परन्तु प्राकृतिक आपदा हावी होती थी जिसके चलते ऋषियों ने तूफान को देवता माना। वज्र, विद्युत, सूर्य, चन्द्र को देवता माना एवं उनकी स्तुति की। वर्षा नहीं होने पर यज्ञ का सूत्रपात हुआ, जिससे ऐसा ज्ञात हुआ कि यज्ञ से धुआँ होगा, बादल बनेगा एवं वर्षा होगी। अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को यज्ञ के माध्यम से हवन कर उस अज्ञात शक्ति को खुश करने की पद्धति का भी श्री गणेश हुआ। इसी तरह सन्ध्या, जो रात्रि का अन्धकार लाने की सूचक थी उसकी भी स्तुति की गयी, रात्रि की भी भय से मुक्ति के लिए स्तुति की गयी तथा प्रातःकाल जो दिन होने का, प्रकाश लाने का सूचक था, उसकी भी स्तुति की गयी।

सद्गुरु जुगत लखाई

मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा, विधि को भगवान शिव ने तंत्र कहा है। मूलाधार से जगत का सम्बन्ध है। संसार की सारी सम्भावनाएं इसी से जुड़ी हैं। जगत का विस्तार, पद-प्रतिष्ठा यहीं है। यही कारण है कि चमत्कारी बाबा या साधक जन्मों जन्म मूलाधार से ऊपर नहीं जाते। बहुत सम्भव है ये मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक की यात्रा को ही सर्वोच्च मानते हैं। चूँकि संसार के व्यक्तियों

की कामना होती है धनेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा। सभी धन की कामना करते हैं। फिर पुत्र की एवं अन्त में संसार में ख्याति की। ये तीनों इन्हीं दो चक्रों, चेतना केन्द्र के खेल हैं। फिर आगे कौन जाना चाहेगा? क्यों जायेगा? धर्म प्रचारक, कथा वाचक, राजनेता, अधिकारी, साधारण जनता सभी इसी के पीछे भाग रहे हैं। फिर परम पुरुष की उपलब्धि कैसे होगी।

**“जब मैं भूला रे भाई, मेरे सत्गुरु जुगत लखाई।
किरिया करम आचार मैं छाड़ा, छाड़ा तीरथ नहाना।
सगरी दुनिया भई सयानी, मैं ही इक बौराना।
ना मैं जानु सेवा बाँदगी, ना मैं घण्ट बजाई।
ना मैं मूरत धरि सिंहासन, ना मैं पुहुप बजाई।
ना हरि रीझै जप तप कीन्हे, ना काया का जोर घटाई।
ना हरि रीझै धोती छाड़े, ना पांचों के मारै।
दाया राखि धरम को पाले, जंगल रहै उदासी।
अपना सा जीव सबको जानै, ताहि मिले अविनासी।
सहै कुसबद वाद को त्यागे, छाड़े गरब गुमाना।
सतनाम ताहिं को मिलिहै, कहै कबीर दिवाना ॥”**

जैसे ही साधक यह सोचने लगे कि ‘मैं भूल गया हूँ, यह मेरे जीवन का उद्देश्य नहीं है, मैं भटक गया हूँ, तब आपको परमात्मा किसी न किसी रूप में समय के सद्गुरु के समक्ष भेज ही देता है। परन्तु यह दुखद दुर्घटना है कि हम सोचते हैं कि इस सृष्टि में सबसे अधिक चतुर हम ही हैं। आधे में सम्पूर्ण दुनिया है। यहीं से भटक जाते हैं। किसी भी साधक को यह ज्ञात हो जाये कि मैं भटक गया हूँ, समझ लीजिए कि पचास प्रतिशत कार्य हो गया। प्यास जग गई। अब हमें पानी अमृत सा प्रतीत होता है। कथा वाचक, पंडित, पुरोहित मात्र प्यास जगाता है। अब प्यासा व्यक्ति पानी के खोज में दौड़ता हैं। कभी-कभी कथावाचक ओस को ही सच्चा पानी बता देता है। प्यासा व्यक्ति उस ओस को ही चाट कर संतोष कर लेता है। यह उसकी भ्रान्ति है। पानी तो मात्र सद्गुरु के पास होता है। वह साधक को गंगा के सामने खड़ा कर देता है कि आप छलांग लगा लो। जी भर कर पानी पी लो। स्नान कर लो। बाहर-भीतर से तृप्त हो जाओ। आपको छलांग लगाने की “जुगति” बता देता है। कबीर साहब का जुगति शब्द अत्यन्त प्यारा है। कृष्ण की साक्षी, उपनिषद का द्रष्टा भाव, पातंजलि का ध्यान ही कबीर का जुगति है। सतगुरु जुगति बता देता है। गंगा दिखा देता है। यही भगवान शंकर का तंत्र है।

जैसे ही साधक उस जुगत अर्थात् तंत्र को लखता है अर्थात् पहचानता है जैसे ही उस परमतत्व को प्राप्त कर लेता है। सद्गुरु उसे मात्र लखाता है, दिखाता है, परिचय कराता है। वह तो आपको सदा से मिला ही है। श्वास आ रहा है, जा रहा है। उसको ठीक से देखना है। कैसे जाता है? कहाँ तक जाता है? कहाँ शंकर का अवधान उपस्थित करता है। जब स्वर एक दूसरे से बदलता है तब कहाँ अवधान को प्राप्त करता है। कहाँ मुड़ता है। क्या कहता है? जो कहता है वही महा मंत्र है। मंत्र को प्राप्त करते ही आप उस परम सत्ता के साथ जुड़ जाते हैं। वर्षों का रास्ता, जन्मों का पथ सद्गुरु इसे क्षण मात्र में उपलब्ध करा देता है।

क्षण भर में आप उस परम चैतन्य को प्राप्त कर लेते हैं। आपका मन परम तृप्त हो जाता है। अब मन की उस परम चैतन्य से मित्रता हो गई। उससे मित्रता छूटना अब कठिन है। बाहर भीतर सर्वत्र वही दिखाई पड़ने लगता है। चाह समाप्त हो गई। चिंता गिर गई। कल तक तीर्थों में दौड़ रहा था। क्रिया कर्म करता था। तीर्थ स्नान कर विभिन्न देवी-देवताओं को जल देता था। उनकी कर्मकाण्ड से पूजा करता था। प्रातः से सन्ध्या तक उसी के झमेले में फँसा रहता था। अब मुक्त हो गया। तुलसी दास जी भी इसी स्थिति में अपनी भावना व्यक्त करते हैं

**“तुलसी प्रतिमा पूजबो, जस गुडियाँ की खेल।
साँच पति से भेंट भयो, सब मिट गयो भ्रम मेल ॥”**

अब मुझे बहुत हँसी आती है। यह बच्चों का खेल बहुत दिनों तक खेला है।

**सगरी दुनिया भई सयानी, मैं ही इक बौराना।
ना मैं जानु सेवा बाँदगी, ना मैं घंट बजाई ॥**

अब ऐसा ज्ञात होता है कि इस काशी की सारी आबादी प्रातः काल स्नान कर, विभिन्न देवी-देवताओं की सेवा बाँदगी कर रही है। मंदिरों में घंटा बजा रही है। उस भीड़ को देखकर यह ज्ञात होता है कि सारी दुनिया के लोग चतुर हैं, सयाने हैं। अर्थात् बचपन अब जवानी में परिवर्तित हो गया है। ये बच्चे नहीं हैं। युवा व्यक्ति तो सत्पथ पर चलता है। ये सभी सयाने हो गये हैं। श्रेष्ठ हो गये हैं। मैं ही (कबीर) एक बौरा हूँ। पागल हूँ। अब मेरा मन उन मंदिरों की सेवा, पाठ, क्रिया कर्म में नहीं लगता है। मैं अकेला हूँ। सारी दुनिया वही कर रही है। यदि मैं कहूँ कि आप कब तक इस क्रिया कर्म में रहेंगे। कब तक इस मंदिर में घंटा बजायेंगे। आप अपने मंदिर में कब प्रवेश करेंगे। चूँकि बहुमत का शिव तंत्र ●

जमाना है। तब यह भीड़ मुझे पागल कहेगी। उनके पास तर्क है। शास्त्र का प्रमाण है। पांडित्य है। लोगों की भीड़ है। सद्गुरु ने जैसे ही वह जुगति (तंत्र) लखा दी, वैसे ही मैं अपने मंदिर में प्रवेश कर गया। तब मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरा यह मंदिर तो स्वयं परमात्मा का बनाया है। वह मंदिर बनाकर स्वयं उसमें प्रवेश कर गया। यह बाहर का मंदिर तो ईंट-पत्थर से मैंने बनाया है, फिर अपने देवता को स्थापित कर दिया। कितना भी अच्छा निर्माता हो, परन्तु परमात्मा के द्वारा बनाये गये मंदिर से श्रेष्ठ निर्माण नहीं कर सकता है। मेरे द्वारा बनाया गया मंदिर मुझ से श्रेष्ठ नहीं हो सकता है। उसमें मेरी क्षुद्र कलाकृति होगी। वह विराट है। अनन्त है। अगम है। अतएव उसकी कला भी विराट है। अनन्त है। उसमें प्रवेश करते ही उसकी कला के सामने मुझे झुकना पड़ा। उसकी अनन्त शक्ति का हमें ज्ञान हो गया। मेरी क्षुद्रता गिर गई। मैं नत् मस्तक हो गया।

ना मैं मूरत धरि सिंहासन, ना मैं पुहुप बजाई।

ना हरि रीझै जप-तप कीन्हे, ना काया के जोर घटाई ॥

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि आम तथाकथित भक्त भगवान की मूरत (मूर्ति) को अपने राजा के तरह सिंहासन बनाकर रखते हैं। नैवेद्य से पूजा अर्चना करते हैं। शंख, घंटा, घड़ियाल, नगाड़ा बजाते हैं। आरती करते हैं। परन्तु परमात्मा नहीं मिलता है। आज तक किसी को मिला भी नहीं है। फिर भी लकीर के फकीर बने हुए हैं। इस पृथ्वी पर नित्य हजारों मंदिर बनते जा रहे हैं। कोई उसे प्राप्त नहीं कर सका। हम विभिन्न प्रकार के पुराने से पुराने मंत्र नदी के तट पर, मंदिर में, पर्वत पर बैठ कर जाप किये जा रहे हैं। तप के लिए खड़े हैं। खड़ेश्वरी बाबा बनकर। मौन हो गये, मौनी बाबा बन गये। कांटों पर बैठ रहे हैं। नग्न होकर पंचाग्नि ले रहे हैं। शरीर सूख कर काँटा हो गया। उपवास के दिन बढ़ाते जा रहे हैं। हमारे उपवास की संख्या बढ़ती जा रही है। समाचार पत्रिका में निकल रहा है हमारे उपवास का आज एक सौ आठवाँ दिन है। गजब की है यह तपस्या। यह समाचार देखते हैं। आँखों में चमक आ जाती है। कोई नेताजी फूल-माला लेकर आ रहे हैं। फिर क्या बाछें खिल गईं। इस तरह से अहंकार को भोजन मिल रहा है। इसी अहंकार के साथ अब जीने लगे हैं। परन्तु मन की अशान्ति प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। परमात्मा और दूर होते जा रहा है।

विक्षिप्त महात्मा

अभी गत सप्ताह एक महात्मा हम से मिलने आये थे। उनके शिष्यों की संख्या लाखों में है। वे लगभग साठ वर्ष से तपस्या में हैं। बड़े-बड़े मंत्री उनका

स्वागत करते हैं। करोड़ों का आश्रम है। समाज में बहुत प्रतिष्ठा है। मैं भी सोचने के लिए बाध्य हुआ आखिर ये हम से क्यों मिलने आ रहे हैं।

मुझ से मिलते ही आश्रम से अर्थात् हमारे कक्ष से सभी साधु संन्यासियों को निकाल दिए। स्वयं द्वार भी बन्द कर दिए। फिर एकान्त पाकर साष्टांग प्रणाम कर पैर पकड़ कर रोने लगे। रोते हुए बोले स्वामी जी! आपकी पुस्तक मैंने पढ़ी है। मेरी, आपसे विनती है। आप मेरे मस्तक पर अपना पैर रख दें। ऐसा कर दें कि मुझ में शक्ति पैदा हो जाये। मैंने कहा-आप पहले बैठें। अपनी समस्या कहें। वे जल्दी-जल्दी कहने लगे। देखिए मेरी भी प्रतिष्ठा है हमारे हजारों शिष्य हैं। मैं बचपन से ब्रह्मचारी हूँ। संन्यासी हूँ। मंत्र भी जाप करता हूँ। भिक्षाटन से प्रसाद ग्रहण करता हूँ। दर्जनों स्कूल कॉलेजों की स्थापना करा चुका हूँ। परन्तु मैं काम वासना से मुक्त नहीं हो पाया। किसी भी बालक बालिका के स्पर्श मात्र से मैंं स्खलित हो जाता हूँ। किसी को आशीर्वाद देता हूँ तो उसका कार्य नहीं होता। मेरे वाणी या चेहरे में मोहिनी शक्ति नहीं है। उनकी समस्या सुनकर मैं अवाक रह गया। मेरे शिष्य छिपकर सुन रहे थे। वे भाग चले। कुछ काल के बाद महात्मा जी को भी तंत्र दिया। कुछ मंत्र बताकर उसका अनुश्रवण करने की विधि भी प्रदान की। मुझ से ऐसे महात्मा बहुत मिलते हैं। जिनकी लोकेषणा, धनेषणा, कामेषणा शान्त नहीं हुई है।

योगी महात्मा

मैं अपने गुरु स्वामी आत्मा दास जी की सेवा में गंगा तट मिरजापुर (उ.प्र.) के आश्रम पर था। यह घटना सन् 1977 की रही होगी। संध्या समय गंगा स्नान करने गया था। घाट से थोड़ी ही दूर पर श्मशान है। एकान्त के लिए उधर ही चला गया था। स्नान कर तट पर ही बैठ गया। मई का महीना था। मैं ध्यान हेतु अनायास ही बैठ गया। तभी आवाज सुनाई पड़ी-स्वामी जी! आज कौन-सा दिन है? नक्षत्र क्या है? मैंने इधर-उधर नजर दौड़ायी कहीं कुछ भी नहीं दिखाई पड़ा। फिर एकाएक सामने एक युवक प्रकट हो गया। दण्डवत करके उसने पुनः वही शब्द दोहराये। मैंने प्रश्न किया, आप कौन हैं? देखिये सूर्यास्त होने जा रहा है। आप पश्चिम ही खड़े हैं। आपकी छाया नहीं बन रही है। क्या आप देव या योगी पुरुष हैं। युवक ने कहा हाँ स्वामी जी मैं योग साधना में हूँ। कितने दिन से मैंने पूछा। स्वामी जी लगभग 800 वर्षों से हूँ। मेरे गुरुदेव हठ योगी थे। मेरी कुण्डलिनी जागृत हुई मैं वासना से भर गया। अरुणाचल प्रदेश में मेरे दो जन्म मूलाधार चक्र पर ही बीत गये। मैं सिद्ध महात्मा के रूप में

विख्यात था। मेरे गुरुदेव मुझ से खिन्न होकर जब शरीर छोड़ रहे थे। तब मेरे बहुत अनुनय विनय करने पर उन्होंने कहा कि जाओ तुम प्रत्येक जन्म में पिछले जन्मों को जानते रहोगे एवं हर जन्म में साधना के तरफ ही उन्मुख रहोगे। इस तरह दो जन्म अरुणाचल प्रदेश में ग्रहण किये। मूलाधार से स्वाधिष्ठान चक्र की यात्रा में गवां दिए। धन-सम्पत्ति, मान प्रतिष्ठा बहुत मिली। तीसरा जन्म नेपाल में हुआ। वहाँ बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। पुनः यात्रा किया तप किया। मणिपुर चक्र पर आ गया। फिर एक राज कन्या की सुन्दरता में फँस गया। पुत्र-पौत्र-धन के पीछे भागते हुए वह शरीर भी छूट गया। परन्तु इस चक्र पर आने के बाद शरीर से घृणा होने लगी। सूक्ष्म शरीर में ही ध्यान करने लगा।

आत्म शरीरी आत्माओं ने बताया कि तुम्हें कर्म शरीर में जाना ही होगा। अपने संस्कारों को क्षय करना ही होगा। मानव शरीर ही कर्म शरीर है। अतएव मैंने अपने माँ-बाप की खोज आरम्भ की। जिससे सहज ही साधना के लिए समय एवं शरीर मिले। लगभग सौ वर्ष इंतजार करने के बाद काशी में ही एक ब्राह्मण दम्पति मिले। जो भगवान शंकर के भक्त थे। पति-पत्नी दोनों पूजा-पाठ ध्यान धारणा सत्संग में ही ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते थे। उन्हें संतान पैदा करने की इच्छा ही नहीं थी। वे वीतरागी हो गये थे। दोनों युवक थे। परन्तु शारीरिक सम्बन्ध के प्रति उत्सुक नहीं थे। साथ-साथ रहते, सोते, जागते, सत्संग करते। मैंने दो वर्षों तक उनका पीछा किया। फिर भगवान शंकर से प्रार्थना की। फिर अपने भावी पिता के मन में पुत्र के प्रति लालसा पैदा की। माता के मन में भी ऐसी ही उत्सुकता पैदा की। एक दिन वे स्वयं प्रार्थना पूर्वक बोले हे भगवान शंकर! हमें एक पुत्र दो। जो योगी हो। यति हो। भगवान शंकर ने मेरी प्रार्थना सुनकर तथास्तु कर दिया।

पति-पत्नी दोनों शुभ नक्षत्र मुहूर्त देखकर पुत्र के कामना से शंकर का ध्यान कर रतिक्रिया में प्रविष्ट हुए। मैं सभी कुछ देख रहा था। उनकी रतिक्रिया भी ऐसे लगी जैसे वे समाधि में प्रवेश कर रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन में प्रथम एवं अन्तिम बार संसर्ग क्रिया की, वह भी योगी यति पुत्र की कामना से। हमारे ऋषि मुनियों ने इन्हीं परिस्थितियों में योग्यतम आत्मा के अवतरण के अवसर उपलब्ध कराये हैं।

उस गर्भ में प्रवेश करने के लिए सैकड़ों योगी आत्माएं पहुँच गयीं। मैं देख रहा था। मात्र शंकर की ही आराधना कर रहा था। मेरे भाग्य ने साथ दिया। सभी आत्माएं मुझे धन्यवाद देते हुए हट गयीं। मुझे उस गर्भ में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गर्भ से ही पूजा-पाठ सत्संग का सुअवसर प्राप्त हुआ।

जन्म लेने के बाद शैव संन्यास ग्रहण कर लिया। मेरे माता-पिता दोनों मेरे शिक्षा-दीक्षा से प्रसन्न थे। कभी शादी करने के लिए मुझे प्रेरित नहीं किया। यह जन्म मेरे लिए सौभाग्यशाली था। किसी कामिनी ने दिल-दिमाग को नहीं सताया। चारों धाम किये घूम फिर कर। गौ मुख से गंगा सागर तक गंगा नदी के तट पर भ्रमण करता रहा। इस तरह इस जन्म में भगवान शंकर के क्षेत्र अर्थात् अनाहत चक्र पर पहुँच गया। फिर शरीर छूट गया। मैं बहुत दिनों से इसी मनोमय शरीर में घूम रहा हूँ। मैं पंथ, सम्प्रदाय, जाति, लिंग भेद से मुक्त हो गया हूँ। परन्तु शरीर ग्रहण करने की इच्छा नहीं हो रही है। न ही गर्भ में प्रवेश करने की। उस तरह के कोई माता-पिता भी नहीं मिल रहे हैं। जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर उच्च हो रहा है। जैसे-जैसे लोगों का दिल-दिमाग विकृत हो रहा है। खैर स्वामीजी! आप तो सद्गुरु के सान्निध्य में हैं। मैं लगभग चालीस वर्षों से स्वामी जी के साथ ही हूँ। एकान्त में उनकी सेवा करता। सत्संग करता। साधना की विधि पूछता हूँ। उन्होंने बताया था कि आप एक बार फिर शरीर धारण करो। उन्होंने मुझे मृत शरीर में प्रवेश करने की विधि भी दी है।

देखिये स्वामी जी! यह बालक का शरीर बहते आ रहा है। कानपुर का यह किशोर माँ-बाप का एकलौता पुत्र है। इसे सर्प ने काट लिया, जिससे यह मृत्यु को उपलब्ध हो गया। मैं इसके शरीर में प्रवेश करना चाहता हूँ। मैंने कहा अभी पुष्य नक्षत्र बीतने जा रहा है। मैं किसी स्वप्न लोक में घूम रहा था। सभी कुछ चल चित्र के तरह घूम रहा था। देखते ही देखते उस किशोर का शरीर नदी के तट पर खींच कर लाये। ठीक उसी के रूप रंग में दूसरा किशोर भी मेरे सामने प्रकट हो गया। वह हाथ जोड़कर प्रार्थना एवं करुण स्वर में बोला स्वामी जी! मुझ पर कृपा करें। मेरे शरीर का नाम 'महेश' है। सर्प के काटने से मेरी अकाल मृत्यु हुई है। मेरे माता-पिता अत्यन्त दुःखी हैं। मेरी आसक्ति है अपने माँ-बाप के प्रति उन्होंने मेरे शरीर को गंगा में प्रवाहित कर दिया। जैसे ही शरीर को मछलियाँ या कोई जीव जन्तु खाना शुरू कर देते हैं; वैसे ही इस शरीर से आसक्ति मुक्त हो जाती है। मैं अन्य लोक में चला जाता। हालांकि मेरी अधोगति ही होगी। दूसरी तरफ ये योगी जी कानपुर से ही मेरे शरीर के पीछे पड़े हैं। ये प्रवेश करना चाहते हैं जब तक ये मेरे शरीर में रहेंगे, मैं दूसरा शरीर ग्रहण नहीं कर सकता। इन्होंने आपको ही पंच माना है आप मेरे साथ न्याय करें।

वे संन्यासी बोले स्वामी जी! ये अभी अकाल मृत्यु के कारण यम लोक में जायेंगे। जहाँ इन्हें विभिन्न प्रकार की यातना दी जायेगी। फिर सर्प योनी धारण करेंगे। या किसी संत का आशीर्वचन मिल जाये तो इस क्रिया से मुक्त भी हो

सकते हैं। मैंने कहा तुम बताओ ये मुक्त कैसे होंगे? पहले युवक ने कहा “मैं तो स्वार्थ में था कि इनका शरीर धारण कर इस काशी में ही गुरुदेव के साथ आपके गुरु भाई के रूप में संन्यास धारण कर बंधन से मुक्त हो जाऊँ। आत्म शरीर-ब्रह्म शरीर को ग्रहण कर लूँ। फिर इन्हें भी मुक्त कर दूँ। चूँकि मुक्त ही मुक्ति प्रदान कर सकता है।”

मैंने दूसरे युवक से पूछा तुम बोलो बंधु, क्या चाहते हो? वह रोते हुए बोला स्वामी जी! मेरे माता-पिता भी शैव हैं। भगवान शंकर के भक्त हैं। उन्हीं के गण ने सर्प बनकर हमें डसा है। उन्हें फकीर बनाना चाहते हैं। परन्तु वे रो-रोकर मर जायेंगे। उनका उद्धार करें। मेरा भी उद्धार करें। मैंने कहा-बन्धु समय कम है आप शीघ्र ही स्पष्ट करो। अन्यथा तुम्हारे शरीर में विकार उत्पन्न हो जायेगा। फिर किसी काम का नहीं रहेगा।

वह अत्यन्त दुःखी स्वर में बोला-स्वामी जी! मैं इस शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता हूँ। आप इन्हें प्रवेश का आशीर्वाद दें परन्तु मेरे शर्तों पर। मेरे कफन में पाँच स्वर्ण मुद्रायें मेरी माँ ने बाँध दी हैं। ये इसमें प्रवेश करें। उन स्वर्ण मुद्राओं से काशी में नये वस्त्र धारण कर मेरे घर चले जायें। ये मेरे माता-पिता जी का पुत्र बनकर रहें। मेरे माता-पिता वैश्य कुल के हैं। व्यापार करते हैं। परन्तु अत्यन्त धार्मिक हैं। घर पर ही शिव मंदिर है। हो सकता है भगवान शिव के लिंग पर अपना सिर पटक कर जान दे दें। ये अपनी कुशलता से उन्हीं भी संन्यासी बना लें, स्वयं संन्यासी बनकर मेरी सम्पत्ति को साधु सेवा एवं धर्म में खर्च करें। मेरे अकाल मृत्यु से छूटने का भी उपाय कर शरीर छोड़ दें। तब मैं अन्यत्र शरीर धारण कर सकूँगा। मुझे आशीर्वाद दें कि काशी के आस-पास ही साधु-योगी के परिवार में मैं दूसरा शरीर ग्रहण करके मुक्ति का मार्ग तय करूँ।

मैंने सहर्ष कहा तथास्तु! शुभम् शीघ्रम्! आप प्रवेश करो। वह देखते ही देखते मुँह के मार्ग से प्रवेश कर गये। क्षण भर में उठकर बैठते हुए बोले “ॐ नमः शिवायः, ॐ नमः शिवायः।” फिर मुझे साष्टांग प्रणाम किये। मैंने कफन से पाँच स्वर्ण मुद्राएं निकालीं। मैंने स्नान के बाद धोती गमछा बनियान सूखने के लिए डाल रखा था। एका-एक याद आई। युवक से कहा कफन का परित्याग करो। माँ गंगा में स्नान करो। प्राणायाम कर शरीर के तंतु को व्यवस्थित करो। पूर्ण गौर वर्ण, सुन्दर चमकते हुए आकर्षक दिव्य चेहरे में पूर्ण नग्न कफन को छोड़कर वह बाहर आये। मैंने उसे अबोध शिशु के रूप में देखा। उसके सिर पर हाथ रखकर शक्ति पात किया आशीर्वचन दिया। जिससे शरीर प्रेत कर्म से मुक्त हो जाये। फिर अपना वस्त्र दिया। फिर पाँच स्वर्ण मुद्राएं हाथ में रखीं।

ऐसा करने में लगभग एक घंटा लगा। मैंने कहा हे संन्यासी! आप गोपनीयता को रखते हुए कानपुर के लिए प्रस्थान करो। इस के माँ-बाप को शान्ति दो। अपनी इच्छानुसार योग-जप करो। परन्तु वे मेरे साथ आश्रम में आ गये। वह किशोर भी सूक्ष्म शरीर में साथ-साथ आ गया।

गुरुदेव अपने कक्ष में एकान्त ध्यान में बैठे थे। हम लोगों के प्रवेश करते ही आँख खोलकर मुस्कराते हुए बोले- “कृष्णानंद तुमने इसे शरीर उपलब्ध करा ही दिया।” संन्यासी ने उन स्वर्ण मुद्राओं को रखकर साष्टांग प्रणाम किया। गुरुदेव ने कहा कि तुम क्या चाहते हो? वह बोला-हमें दीक्षा प्रदान करें। तुम कितनी बार दीक्षा ग्रहण करोगे। देखो पंथ सम्प्रदाय अलग हो सकते हैं। परन्तु गंतव्य एक ही है। फिर भी तुम्हारे इस शरीर को दीक्षा की आवश्यकता है। आज ही बारह बजे रात्रि में तुझे दीक्षा दूँगा। तुम इन स्वर्ण मुद्राओं को रखो। अभी जिस कार्य हेतु तुझे प्राप्त हैं वही करो। तुम प्रातः ही इसके नाम पर साधु संतों का भंडारा करा दो। फिर जो बचता है काशी जाकर साधु संतों को दान कर दो। तुम्हारे खर्चे एवं वस्त्र का प्रबन्ध कृष्णानन्द कर देगा। कभी इसे दक्षिणा दे देना। ऐसा ही किया गया।

ऋषि गण द्वारा पुत्र दान

इस घटना से आपको यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि हमारे ऋषि महर्षि विषय वासना से आसक्त होकर किसी कन्या से सम्बन्ध नहीं बनाये। बल्कि उस विशेष आत्मा के निवेदन को स्वीकार कर उस लड़की से सम्बन्ध किये। चाहे वह लड़की किसी भी जाति गोत्र की हो। यदि काम वासना से ग्रसित होते तो उस लड़की का साथ कभी नहीं छोड़ते। परन्तु पुत्र दान देकर वे अपने मार्ग पर निकल गये। यदि वह लड़की उसी ऋषि के साथ रहना चाहती थी, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। वे ऋषि द्रष्टा थे। पवित्र-पावन आत्मा की प्रार्थना स्वीकार कर उन्हें मात्र आने का अवसर प्रदान करते थे। उन्हें अपनी इज्जत प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं था। वे तथाकथित प्रतिष्ठा से ऊपर थे। सच में प्रतिष्ठा उन्हीं से प्रतिष्ठा प्राप्त करती थी। अतएव मेरी लेखनी का गलत अर्थ न लें। चूँकि ये ऋषि प्रतिष्ठा, जाति, गोत्र, पद, खानदान की भावना से मुक्त थे। विश्व कल्याण ही इनका लक्ष्य था। अतएव इनके द्वारा प्रदत्त पुत्र-पुत्री ने किसी न किसी तरह इस संसार का कल्याण ही किया है। उनकी उस उच्चतम स्थिति को निम्नतम बिन्दु पर लाकर तर्क द्वारा, कुछ भी कहना कुतर्क ही होगा। आप मेरी लेखनी को उदार चरित्र से ग्रहण करें। न कि छिद्रान्वेषण के ढंग से। मैं नग्न सत्य कहने का आदी

हूँ। नमन सत्य अति कठोर होता है। प्रिय नहीं होता है। न लोगों को अपना बना सकता है। परन्तु मैं क्या करूँ; यह मेरी विवशता है।

ना हरि रीझै धोती छाड़े ना पाँचों के मारै।

दया राखि धरम को पाले जंगल रहै उदासी ॥

अपना सा जीव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि परमात्मा केवल साधु का स्वरूप बना लेने से ही नहीं मिलते हैं। न ही पाँचों कर्मन्द्रियों के दमन से। बहुत लोग लिंग में छिद्र कर लेते हैं। कान में छिद्र कर लेते हैं। विभिन्न प्रकार से अपने इंद्रियों का दमन करते हैं। उससे उन्हें विभिन्न प्रकार का रोग होता है। व्याधि होती है। परमात्मा तो मिलता ही नहीं। जंगल-जंगल उदास बनकर घूमने से भी वह नहीं मिलता है। चूँकि सम्पूर्ण सृष्टि तो उसी ने बनायी है किसे अच्छा और किसे खराब बनाया है यह निर्णय करना परमात्मा को छोटा दिखाना है।

सद्गुरु अपना अन्तिम निर्णय दे रहे हैं कि अपने ही सदृश सभी जीवों को मानें। चूँकि सभी उसी परम पुरुष के स्वरूप हैं। सभी उन्हीं का विस्तार हैं। फिर कौन खराब कौन अच्छा? गुरु नानक देव ने इसे ही कहा है

“सबन जीयन का एक ही दाता, सो मैं विसरि न जाय।”

सभी जीवों का निर्माण करने वाला एक ही है। उसे मैं कभी नहीं भूलूँ। फिर वह सर्वत्र उसी परमात्मा का दर्शन करता है।

“सहै कुसबद वाद को त्यागे, छाड़े गरब गुमाना।

सत्नाम ताहि को मिलिहै, कहै कबीर दिवाना ॥”

सब जीव परमात्मा ही हैं तब किसे और कैसे कठोर बोलेंगे। परमात्मा की तो प्रार्थना करते हैं। यह स्थिति आते ही अहंकार, घमंड गिर जाता है। मैं अमुक पद, खानदान, जाति का हूँ। स्वतः गिर जाता है। यदि नहीं गिरा तब स्पष्ट है आपको अभी कुछ भी नहीं मिला है। ऐसा ही भक्त सत्नाम को उपलब्ध होता है। फिर वह तो दिवाना हो जाता है। उस प्रभु का परमप्रिय हो जाता है। वह आनन्द मगन हो जाता है। अहोभाव से भरा होता है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में वही सृष्टा दिखाई देता है।



औघड़ की तंत्र साधना

मैं बचपन से साधु संतों के सान्निध्य में रहा हूँ। मेरी जन्म भूमि पर जब कोई साधु संत आते तो मैं पढ़ाई छोड़कर दिन-दिन भर उनके साथ रहता। उनका प्रवचन सुनता। फिर रात्रि काल में उस पर मनन करता। मेरा परिवार वैष्णव था। इसलिए सदियों से माँस मच्छी, दारु-शराब से दूर-दूर का सम्बन्ध नहीं था। सभी लोग साधु परिवार के नाम से जानते थे, अभी भी जानते हैं।

उन दिनों मैं कॉलेज का विद्यार्थी था। मेरे दूर के रिश्ते के एक औघड़ थे। वे गाँव में आते थे परन्तु हम लोगों के द्वार पर नहीं आते थे। न ही मेरे परिवार का कोई सदस्य सम्बन्ध रखता था। चूँकि माँस, मदिरा, मीन, मैथुन, मुद्रा (पंच मकार) ग्रहण कर के चलते थे। अतः उन्हें हेय दृष्टि से हम लोग देखते थे। वैष्णव सम्प्रदाय, औघड़ों को निम्न दृष्टि से देखता है। मेरे मन में उनके प्रति विचार आया। फिर उनके प्रति मेरा अनजाने में आकर्षण बढ़ता गया। एक रात्रि वे मेरे कक्ष में उपस्थित मिले। आँख बंद करने पर भी दिखाई दिए। आँख खोलने पर भी। मैंने चादर से मुँह ढककर सोने का उपक्रम किया। परन्तु सो नहीं सका। न भयभीत हुआ। मैं प्रातः ही उनसे मिलने के लिए रवाना हो गया। उस समय उनका निवास बक्सर के श्मशान घाट पर ही था ऐसा ज्ञात हुआ। संध्या लगभग चार बजे पहुँचा था। जाते ही मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे जोर से ठहाका लगाकर हँसे। उस दिन उनके मुँह से दुर्गन्ध नहीं निकल रही थी। अपने अंक में भरते हुए प्रेम से बोले आप आ ही गये। लगातार एक सप्ताह के प्रयास पर आपका आगमन हुआ।

छोटी-सी झोपड़ी में धूनी जल रही थी। वे अकेले बैठे थे। उस झोपड़ी में मात्र दो-चार कम्बलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। वे हाथ पीछे किये एवं गरम-गरम जलेबी, पूड़ी, सब्जी प्रदान किये। मंद-मंद मुस्कराते हुए बोले इसे पा लें। आपको माँस मदिरा से सम्बन्धित कोई सामान नहीं दूँगा। इस समय मेरे झोपड़ी में है भी नहीं। मुझे भूख लगी थी। भर पेट खाया। पानी पी लिया। आमने-सामने बैठ गया। मैंने पूछा कौन सा दृश्य सच मानूँ। आप मेरे कक्ष में पूरी रात्रि थे। आज आप इस झोपड़ी में हैं। यहाँ कुछ भी नहीं है। आप ने मेरे खाने-पीने का सामान भी उपलब्ध करा दिया।

मैं प्रश्नोत्तर के लिए उनकी तरफ देखने लगा। वे विशाल शरीर के मालिक थे। सेना में अधिकारी थे। फिर औघड़ बन गये। लम्बा-मोटा तगड़ा शरीर, गौर वर्ण उनकी उम्र लगभग साठ की रही होगी। शरीर पर काला वस्त्र। एकाएक उनके आँखों में आँसू आ गया। मैं अवाक् हो उनको देखता रहा। मेरी उम्र उस समय 20-21 की रही होगी।

प्रेमपूर्ण परन्तु कातर स्वर में बोले कृष्णा जी! मैं असहाय हूँ। मेरी मदद करो। मेरा शरीर शून्य हो गया। सोचने लगा इनके पास बड़े-बड़े लोग आते हैं। उन लोगों को गाली देकर भगा देते हैं। किसी को तमाचा तो किसी को दंड से मार देते हैं। फिर भी लोग इनसे मिलने के लिए लालायित रहते हैं। इन्हें कौन-सा कष्ट हो सकता है। घर-गृहस्थी अच्छी है। जमींदार परिवार के हैं।

वे आँसू पोछते हुए बोले आप ठीक सोचते हो। मुझे कोई कमी नहीं है। कमी मात्र एक ही है। इस पृथ्वी के सारे लोग कुछ लेने आते हैं। किसी को पुत्र, तो किसी को पद चाहिए, किसी को विधायक, किसी को मंत्री पद, तो किसी की लड़की की शादी होनी चाहिए। सारे भिखारी हैं। क्या करूँ इन भिखमंगों से मिलकर। ये सब दीन-हीन हैं। दरिद्र हैं। आज तक कोई राजा नहीं मिला। राजा को ही यह विद्या दे सकता हूँ। नहीं चाहते हुए भी आपको आकर्षित करना पड़ा। आप मेरी मदद करें। क्या मदद करूँ? मुझे स्पष्ट समझाएं। मैं हर तरह की मदद के लिए तैयार हूँ। आपके सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ सुन रखा है। आप में बहुत सी चमत्कारी शक्तियाँ हैं। मैंने एक स्वर में कह दिया।

हाँ ठीक सुना है। उसे ही आपको प्रदान करना चाहता हूँ। आप अपनी पढ़ाई लिखाई नहीं छोड़िये। आप को माँस मछली का सेवन भी नहीं करना है। न ही श्मशान घाट पर रहना है। आप मेरी विद्या को ग्रहण कर लें। अवसर पर काम देगी। अन्यथा मैं कुछ ही दिनों में शरीर छोड़ने वाला हूँ। शराब से मेरी किडनी एवं लिवर खराब हो गए हैं। कोई योग्य शिष्य भी नहीं मिला। पहले आप कुछ पूछना चाहते हैं तो पूछ लें।

मैंने पूछा आज आपके झोपड़ी में कोई नहीं है। न दूर-दूर तक कोई नजर आता है।

हाँ जब तक आप रहेंगे, कोई नहीं आएगा। आप स्टेशन पर उतरे हैं, तब रिक्शा वाला स्वतः आपका बैग लिया। आपने कहा कि मुझे श्मशान घाट जाना है। वह बोला कि मैं वहीं रहता हूँ। आप ने कहा- कि क्या लोगे? वह बोला कि जो आप दे देंगे। फिर मेरे झोपड़ी के पास लाकर कहा कि आप शायद औघड़ बाबा के दर्शन हेतु जा रहे हैं। आप जाएं। मैं उनका शिष्य हूँ। भाड़ा नहीं लूँगा।

वह श्मशान का अधिपति है। उसे ही भेजा था। मेरे मुँह से अनायास निकला ऐ यह क्या? उन्हीं के गण चारों तरफ खड़े हैं। आप जब तक रहेंगे किसी को नहीं आने देंगे।

मैंने पूछा आप कोई पदार्थ कैसे मँगाते हैं? देखो भाई! यह सभी कार्य विशुद्ध ठगी का है। क्या कहा आपने? मेरे मुँह से निकला था।

ठीक कह रहा हूँ। प्रेतात्माओं को मैंने वश में कर लिया है। उन्हें माँस-मदिरा देना पड़ता है। उन्हीं से ये सभी वस्तुएँ किसी दुकान से मँगानी पड़ती हैं। जैसे रहने पर भेज देते हैं। नहीं रहने पर कैसे भेजूं? चमत्कार तो दिखाना है न। यह तो चोरी ही हुई न। खैर प्रारम्भ में औघड़ या साधारण तांत्रिक यही करते हैं।

अब मैं मानसिक संरचना करता हूँ। यह क्या होता है? मुझे जो चाहिए, वैसी ही कल्पना करता हूँ। फिर वैसी सृष्टि हो जाती है। ऐसे साधक उसी वातावरण में रहते हैं। इस श्मशान भूमि में एक ऐसे ही साधक रहते हैं। जो सर्व साधारण को दिखाई भी नहीं पड़ते हैं। अपने सूक्ष्म शरीर में साधना में रहते हैं। चलिए शीघ्रता करें। वह भी आप से मिलना चाहते हैं।

हम लोग चल दिए। उनके झोपड़ी से दक्षिण गंगा तट पर एक बरगद का वृक्ष है। जहाँ मैं कभी-कभी ध्यान के लिए बैठता था। उससे कुछ और आगे बढ़े थे। सर्व शून्य था। गंगा का तट था फिर एकाएक हम लोग ऐसी जगह पहुँच गये कि अपलक देखने एवं सुनने के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा। मानो कोई स्वप्न चल रहा है। शरीर अति हल्का हो गया। तीन चार जगह चिताएँ जल रही थीं। उसकी गंध फैल रही थी। आगे बढ़ने पर एक सुन्दर अति सुन्दर युवती ने हम लोगों को बैठने के लिए इशारा किया। वह महल भव्य था। आधुनिक संसाधनों से युक्त था। सामने बिस्कुट नमकीन कॉफी के प्लेट स्वयं आकर रुक गये। फर्श पर कीमती कालीन था। पूरा घर संगमरमर का था। मैंने बाहर झरोखे से झाँक कर देखा। एक व्यक्ति शव पर मृगछाला बिछा कर उत्तर दिशा में बैठा था। ऊपर से भगवान शंकर की जटा से जल गिर रहा था। जिसे अपने कमंडल में रोक कर वह पान कर रहा था।

उससे भी उत्तर मध्य गंगा के ऊपर एक विशाल काला पुरुष जिसकी काया सूर्य के समान चमक रही थी वह शेर पर बैठा आ रहा था। उनका शेर धीरे-धीरे उस साधक के सामने आया। सम्भवतः वह शव साधना कर रहा था। उन्हें दिशा निर्देश दिया। फिर वह पूरब दिशा की ओर मुड़ गया। कुछ ही दूरी पर रुक गया। आठ सुन्दरियाँ आरती का थाल लिए प्रगट हो गईं। आठ-दस युवक भी प्रगट हो गये। उनके हाथ में शंख, घंटा, घड़ियाल, घंटी इत्यादि वाद्य थे। सभी ने एक

साथ संस्कृत में मंत्रों का उच्चारण करते हुए आरती की। फिर शेर हम लोगों के कक्ष के तरफ बढ़ने लगा। सभी अनिघ सुन्दर, पारदर्शी युवक-युवतियाँ 'ॐ नमः शिवाय' का जाप करते हुए आगे पीछे चल रहे थे। यह दृश्य अति मन मोहक था। ऊपर से पुष्पों की वर्षा हो रही थी। इत्र भी फुहारा के रूप में ऊपर से बरस रहा था। सर्वत्र सुगंध फैल रही थी। मैं उस दृश्य को देखकर स्वयं को भूल गया था।

हम लोगों ने कक्ष में प्रवेश किया। हमारे साथ आये औषड़ जी साष्टांग प्रणाम किये। मैंने भी उन्हीं का अनुकरण किया। दिव्य पुरुष ने "नहीं-नहीं ऐसा नहीं करते" कहते हुए मुझे अंक में भर लिया। उसका शरीर बर्फ की तरह शीतल था। सुगंधित था। ऐसा भान हुआ कि उससे ऊर्जा निकल कर मेरे शरीर में प्रवेश कर गयी। मैं समाधि में प्रवेश कर गया।

आँखें खुली तो देखा सामने अष्ट कमल पर दिव्य व्यक्ति बैठा है। उनसे आभा निकल रही थी। मैंने अपने को देखा तो मैं भी उन्हीं के समान्तर अष्ट दल कमल पर बैठा हूँ। सर्वत्र घोर जंगल। वह भी फल-फूल लदा हुआ जंगल। दूर दृष्टि करने पर ज्ञात हुआ कि यह छोटा सा द्वीप है। चारों तरफ जल है। वह जल दूर-दूर तक फैला है। सर्वत्र घोर सन्नाटा है। शान्ति है।

मेरे मुँह से निकला यह क्या? कहाँ हैं हम लोग? आप कौन हैं प्रभु!

मैं स्वयं प्रभा नन्द हूँ। शैव हूँ। यह मेरी मानसिक संरचना है। मैं स्वयं निर्मित संरचना में निवास करता हूँ।

क्या आत्मा यहाँ भी रहती है? हाँ आत्मा का निवास विभिन्न रूपों में समस्त ब्रह्माण्ड में है। यह आत्मा अपने संस्कार अपने तप के अनुसार ही समस्त लोकों में फैली है।

जरा ठीक से समझाएँ, महाराज जी। आपको क्या ठीक से समझायें। आप समझे हुए हैं। वह समय शीघ्र ही आने वाला है कि आपके गुरुदेव आपकी दिव्य दृष्टि खोल देंगे आप सभी कुछ जान जायेंगे। फिर हम आपसे जानने आ जायेंगे। आपका भूत-भविष्य सभी कुछ मेरे सामने है फिर भी आपको बता रहा हूँ। स्थूल शरीर धारी आत्मा ही सर्वत्र पहुँचने की कुंजी है। कर्म उसी में किया जायेगा। फिर अन्य शरीर भोग शरीर हैं। स्थूल शरीर को ही मनुष्यात्मा, भाव शरीर को प्रेतात्मा और सूक्ष्म शरीर को सूक्ष्मात्मा कहते हैं। फिर आगे के शेष को दिव्यात्मा, विशुद्धात्मा, निर्वाण उपलब्धि आत्मा कहते हैं। सूक्ष्मात्मा तक ही बंधन है। इसके आगे क्रमशः बढ़ने पर धीरे-धीरे बंधन मुक्त होते जाता है। फिर एक दिन आता है कि वे आत्माएँ परम स्वतंत्र हो जाती हैं। वे आत्माएँ करुणावश संसार में आती हैं। उन्हें ही अवतार कहते हैं।

मैंने पूछा फिर यह सम्प्रदाय क्या है? यह सम्प्रदाय भी सूक्ष्म शरीर तक रहता है। आगे धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। निर्वाण को उपलब्ध आत्मा इन सभी से मुक्त हो जाता है।

पृथ्वी पर जिन्हें तांत्रिक कहते हैं। वास्तव में इनके जनक हैं यक्ष। **ये राजसी वृत्ति के थे। दूसरे रक्ष अर्थात् राक्षस तामसिक वृत्ति के थे। आर्य सात्विक थे। ये आनन्दवादी, ब्रह्मवादी थे। यक्ष विलास वादी एवं शाक्त धर्म के प्रवर्तक हुए।** इसमें शक्ति स्त्री के रूप में पूजी गई। तंत्र का अर्थ हो गया शक्ति साधना की आराधना। राक्षसों का शैव धर्म था। ये हठी थे। आर्यों ने वैष्णव धर्म को अपनाया। इन्होंने शक्ति के रूप पुरुष की महत्ता पर बल दिया। शैव स्त्री-पुरुष दोनों के रूप में प्रगट हुआ। वही आगे चलकर अर्ध नारीश्वर और आगे चलकर लिंग व अर्ध के रूप में शैव धर्म के प्रतीक बने। तीनों धर्मों में शक्ति की उपासना पर जोर था। लेकिन शक्ति मन का ही खेल है।

मृत्यु के साथ मन नहीं मरता है। महा मृत्यु तभी होती है जब मन का खेल समाप्त हो जाये। मन ही संसार का निर्माण करता है। यह निर्माण मेरा मन के द्वारा ही किया गया है। स्वामी जी! मैं मन से मुक्त नहीं हुआ हूँ। स्थूल शरीर छूट गया है। सौ वर्ष पहले ही मैं भाव शरीर से मुक्त हुआ हूँ। मैं आपका पूर्वज हूँ। आगे समयानुसार आपको परिचय दूँगा। भाव शरीर से मुक्ति को ही प्रेत मुक्ति कहते हैं। सूक्ष्म शरीर से जन्म लेना, संसार में चक्कर लगाना लगा रहता है। अभी मेरे ऊपर किसी न किसी अदृश्य शक्ति का नियंत्रण है। उसी से नियंत्रित हूँ।

मन से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। मृत्यु शरीर को मार सकता है। सृष्टि की सभी वस्तुओं, शरीर धारी को, देवता, देवी सभी को मार देता है। परन्तु मन को मारने का सामर्थ्य इसमें नहीं है। मन मृत्यु के पार भी जाता है। मन केवल गुरु अनुकम्पा से गिरता है। या इसका रूपांतरण होता है। तब खुलता है द्वार समाधि का।

शरीर के साथ जैसे ही आत्मा आती है। मन स्वतः पैदा हो जाता है। यह बाइप्रोडक्ट है। फिर वह संसारी हो जाता है। माया के बंधन से आबद्ध हो जाता है। आत्मा जब मन से अलग होती है, ब्रह्म हो जाती है। वही ब्रह्म ऊपर के लोकों की यात्रा कर परब्रह्म हो जाता है।

मन वासना के पंजे में फँसा रहना चाहता है। मन का स्वभाव है वासना में रहना। वासना के लिए शरीर एवं इन्द्रियाँ चाहिए। यही कारण है कि प्रेत स्वस्थ सुन्दर शरीर नर या नारी में अधिकांश प्रवेश कर जाते हैं।

जो साधक होता है। उसके शरीर का आभा क्षेत्र इतना बढ़ जाता है कि साधारण प्रेत उसके नजदीक नहीं जा सकते हैं। उसका आभा मंडल उस प्रेत के लिए विद्युत तरंग की भाँति झटका देता है। जिससे प्रेत को कष्ट होता है।

जो व्यक्ति माँस मदिरा का सेवन करता है। मानसिक शक्ति कमजोर है। ध्यान पूजा नहीं करता है। व्यसनी है। उसमें प्रेतात्मा शीघ्र ही प्रवेश कर जाते हैं। उसे स्थायी घर बनाना चाहते हैं। स्थूल शरीर में श्वास प्रश्वास है। परन्तु सूक्ष्म शरीर श्वास-प्रश्वास रहित है। यही कारण है कि सूक्ष्म शरीर दिक् काल से परे होता है। वह किसी भी स्थान पर तत्काल उपस्थित भी हो जाता है। यदि कोई भी व्यक्ति उनसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहे तब उसे थोड़ा सा तंत्र के माध्यम से गुजरना होगा। सभी सूक्ष्मात्माएं सर्वत्र फैली हैं। वह भी संवाद स्थापित करना चाहती हैं।

हाँ अब आप सोच रहे हैं इतने सामर्थ्यवान् औघड़ जी ने आपको क्यों बुलाया? प्रत्येक खानदान के पितरों का ध्यान लगा रहता है कि हमारे वंश में कोई साधक संन्यासी हो जाये। इस पृथ्वी पर जैसे ही कोई साधु संन्यासी बनता है। पवित्र साधना करता है। ऋद्धि सिद्धि से मुक्त होकर करता है। उसके पितर अति प्रसन्न होते हैं। वे हर तरह से अपने वंशज की मदद करते हैं। जबकि वह वंशज उन्हें जानता भी नहीं है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति पिता, पितामह तक ही जानता है। साधक के पितरों को शीघ्र ही निम्न से दिव्य लोक प्रदान किया जाता है।

ये औघड़ जी चाहते हैं कि आप उनके विद्या को ग्रहण करें। आप मात्र एक सप्ताह उनके झोपड़ी में निवास करें। वे अपनी सभी विद्या तंत्र की सिद्धि आपको सौंप कर स्वतंत्र हो जायेंगे। अविद्या तंत्र न आप चाहते हैं। न ही प्रदान करेंगे। चूँकि वह संसार बंधन का कारण है मेरी भी यही इच्छा है। इतना कहकर वे मौन हो गये। मेरी आँखें बन्द हो गईं।

आँखें खुली तो देखता हूँ मैं तो उसी औघड़ बाबा की कुटी में कम्बल ओढ़ कर गद्दे पर सोया हूँ। सोचने लगा क्या सत्य है? रात्रि की घटना या प्रातः की। बाहर से आवाज आई-दोनों सत्य हैं। बाहर आया देखा औघड़ बाबा स्नान कर ध्यान कर रहे हैं। मैंने प्रणाम किया मुस्कुराते हुए बोले आगे भी सत्य है। आप शीघ्र स्नान कर आ जायें। मैं चल दिया गंगा के तरफ। स्नान कर औघड़ के सामने पद्मासन पर बैठ गया। फिर वे एक-एक कर अपनी सिद्धियाँ मुझे प्रदान करने लगे। जिसका वर्णन फिर यथा समय किया जायेगा।

ब्रह्म पिशाच की आत्म कथा

मैं अपने एक शिष्य के घर ठहरा था। वह सत्संग में ज्यादा रूचि रखता था। तंत्र-मंत्र के पुस्तकों का अध्ययन करता था। वह मेरी पुस्तक शिव तंत्र पढ़कर आया। दीक्षा ग्रहण किया। वह अक्सर विदेश में रहता था। उसका अनन्य मित्र था। मंगलेश्वर। वह लगभग 28-30 वर्ष का युवक था। चूँकि वह हमारा शिष्य बना, यह भी दीक्षा ग्रहण किया। एक रात्रि अपने घर पर रहने का आग्रह किया। उसका आग्रह स्वीकार करते हुए उसके घर गया। उसके घर में उसके पिताश्री, माताजी, पत्नी के अलावा उसके रिश्तेदारों ने स्वागत किया। रात्रि का पूजा पाठ हुआ। सत्संग हुआ। वहीं प्रसाद ग्रहण कर विश्राम किया। मेरे स्वागत के लिए घर खूब सजाया गया था। मेरे रात्रि विश्राम के लिए दूसरे तले पर व्यवस्था की थी। मैं ऊपर गया। वहाँ भी फूल-पत्तियों एवं सुगंधित द्रव्यों तथा नवीन वस्त्रों से कमरे को दुलहन बनाया गया था। सोने से पहले पति-पत्नी एक गिलास दूध लाये। मैंने दूध पी लिया। दोनों पैर दबाने लगे। मैंने कहा अब आप लोग अपने कक्ष में जाएं। दस बजे मेरा विश्राम का समय है। दोनों ने विनीत स्वर में पुत्र हेतु प्रार्थना की। हमारे घर में कोई पुत्र नहीं है। गुरु देव कृपा करें। मैंने कहा ठीक है। अब जाकर विश्राम करो। मेरे शिष्य भी नीचे ही थे। ऊपर की छत पर मैं अकेला था। सो गया। कमल (कम्बल) ओढ़ लिया था। ठंडक बढ़ रही थी।

अचानक मेरी आँख खुल गयी। मैंने घड़ी देखी रात्रि के ठीक बारह बज रहे थे। ऐसा क्यों हुआ? मैं तो चार बजे जगने वाला था। बत्ती बुझा दी गई थी। तभी सामने वाला जंगला खुल गया। खट् की आवाज हुई। एक धुंधला प्रकाश अन्दर आया। सामने हमारे पलंग के नीचे खड़ा हो गया। मैंने स्वीच आन कर दिया। प्रकाश फैल गया। वह व्यक्ति तीस-बत्तीस का होगा। हाथ जोड़कर प्रणाम किया। मैं एक बार आश्चर्य में पड़ गया। यह कौन है? कैसे जंगला से प्रवेश कर गया? आखिर चाहता क्या है?

मैं पलंग पर ही बैठते हुए जोर से बोला तुम कौन हो? इस तरह बिना आज्ञा के अन्दर क्यों आया? वह नम्र भाषा में बोला स्वामी जी! मैं यहीं का रहने वाला हूँ। मेरा नाम कमलेश शर्मा है। आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले मुसलमानों ने मेरी पत्नी-पुत्री का धर्म परिवर्तन कर शादी कर ली। मुझे मार दिया। यही मेरा घर था। मैं प्रेत योनि में भटक रहा हूँ। ब्राह्मण था। इसलिए मुझे ब्रह्म प्रेत समझ लें। मेरा घर खण्डहर बन गया। फिर यहाँ पीपल का वृक्ष पैदा हो गया। उसी पर रहता हूँ। यह घर मेरे ही जमीन में है। इन्होंने मेरे जमीन

पर घर भी बनाया। फिर हमारा स्थायी निवास पीपल वृक्ष के तनों, डालियों को काट दिया। नींव खोदने में जड़ें काट दीं। जिससे वृक्ष सूख जाये। फिर मैं कहां रहूँगा।

मैंने कहा तुम क्या चाहते हो? इन्हें क्यों परेशान करते हो? गुरुदेव! आप इन्हें पुत्र होने का आशीर्वाद न दें। इनका खानदान समाप्त करूँगा। इस घर को पुनः खण्डहर में बदल दूँगा। फिर ये सभी प्रेत रूप में मेरे साथ रहेंगे। तुम्हारी पत्नी पुत्री को जिन्होंने ले लिया तथा तुम्हारी भी हत्या की, उन लोगों की हत्या तुमने क्यों नहीं की। उन लोगों की हत्या गुरुदेव! मैंने अपनी पत्नी एवं पुत्री को उनसे छीन लिया। वे मेरे ही साथ हैं। उस पापी का भी खानदान नाश कर दिया। मैं बहुत ही क्रूर हो गया हूँ।

तुम्हें अपनी हत्या के बाद कैसा अनुभव हुआ? तेज तलवार से मेरा सिर काट दिया गया। हमें ऐसा ज्ञात हुआ कि एक झटके में मैं शरीर से बाहर निकल आया। सामने अपना शरीर देखा छटपटा रहा था। रक्त बह रहा था। शत्रु हँस रहा था। मेरी सुन्दर पत्नी पर आसक्त था। वह रो रही थी। मेरी पाँच वर्ष की पुत्री शशि अत्यन्त दुःखी थी। मैं शरीर में वापस जाना चाहता था। परन्तु जा नहीं सका। पुत्री को गोद में लेना चाहा, नहीं ले सका। शत्रु की तलवार छीन कर बदला लेने की तीव्र इच्छा हुई; नहीं कर सका। असहाय हो गया। फिर मुझे ज्ञात नहीं।

जब होश आया तो मैंने देखा कि एक पारदर्शी महल में हूँ। बहुत विशाल है। प्रकाश ही प्रकाश है। सुगन्ध है। दूर-दूर तक कोई दिखाई नहीं पड़ा। मैं अकेला था। तभी सामने एक बड़े आसन पर विराजमान एक व्यक्ति प्रकट हुए। उनके आँखों में तेज था। चेहरा तेजोमय था। उन्होंने मुझे घूरते हुए देखा, फिर बोले तुमने अपना बहुमूल्य समय एवं मानव जीवन बर्बाद कर दिया। इसे ले जाओ। कुछ काल प्रेत-लोक में रख दो।

वह दृश्य गायब हो गया। मैं बोलना चाहता था। कुछ भी बोल नहीं सका। मेरे दोनों तरफ अत्यन्त भयंकर विशाल शरीर वाले काले व्यक्ति खड़े थे। ये पाँच की संख्या में थे। एक ने इशारा किया और आगे चल दिया। मैं उसके पीछे। मेरे पीछे चार चल दिए। क्षण भर में उस प्रकाश पूर्ण महल से बाहर निकल आया। धीरे-धीरे प्रकाश समाप्त होते गया। अब हम लोग गहन अंधेरे में चल रहे थे। सभी मौन थे। पता नहीं कब तक चलते रहे।

अति दुर्गन्धित स्थल पर रूक गये। कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था। अति कोलाहल मय स्थल था। वह सरदार बोला तुम्हें यहीं कुछ काल रूकना होगा।

अभी चित्र गुप्त जी का यही आदेश है। फिर जैसा होगा तुम्हें बताया जायेगा। तुम इससे बाहर नहीं निकल सकते हो। ऐसा कहकर वे अन्तर्धान हो गये। मैं वहीं भय से गिर गया चेतना लुप्त हो गई।

मेरे आस-पास कुछ मलिन आत्माएँ बैठी थीं। वे सान्त्वना देने लगीं। बंधु तुमने भी पत्नी को नहीं समझा। वह उस पठान पर आसक्त थी। पठान भी उस पर। तुम्हारी पत्नी के सहयोग से तुम्हारी हत्या हुई है। उसने तुमसे पहले भी चार बार बोला था न कि तुम गरीब ब्राह्मण हो, मुझे छोड़ दो। साधु बन जाओ। बहुत लोग पत्नी के छोड़ने पर, मरने पर साधु होते हैं। तुम समझ लो कि मैं मर गयी। परन्तु तुम तो पत्नी के सुन्दरता पर आसक्त थे। वह पठान पर आसक्त थी। यदि तुम साधु संत हो ही जाते तो आज तुम्हारी पूजा देवता भी करते। यह गति नहीं होती।

एक-एक कर सारे दृश्य उभर कर मेरे सामने आने लगे। मैं हतप्रभ था कि ये कौन हैं? कैसे मेरे बारे में ये जानते हैं। मेरी वाणी मौन थी। वे लोग मुझे सहारा देकर साथ ले चले। दूर-दूर तक कुछ भी नहीं दिखाई देता था। मात्र छाया-छाया ज्ञात होती। दुर्गन्ध, चीत्कार, पीड़ा-क्रंदन, दारुण दुःख ही ज्ञात होता।

कुछ काल के बाद मैं यह सब देखने सुनने, समझने का अभ्यस्त हो गया। लोगों से परिचय भी बढ़ गया। यहाँ सभी आत्माएँ ऐसी ही थीं जिनकी हत्या की गई थी। अधिकांश आत्माएँ प्रतिशोध की अग्नि में जल रही थीं।

प्रेत योनि में वासना

मैंने पूछा- क्या उन्हें बदला लेने का अवसर प्राप्त होता है?

हाँ गुरुदेव! ये आत्माएँ कभी-कभी समूह में बाहर आ जाती हैं। जब पृथ्वी लोक में एक साथ आती हैं, तब उपद्रव, अराजकता फैला देती हैं। जैसे भयंकर दंगा का रूप ग्रहण कर लेंगी। गाड़ियाँ आपस में लड़ा देंगी। बस लड़ा देंगी। आपस में जंग छेड़ देंगी। घोर अराजकता फैला देती हैं। अधिसंख्य दंगा, उपद्रव एवं हत्या में इनकी अहम भूमिका होती है। जैसे पृथ्वी पर पुलिस, फोर्स गिरफ्तार करती है। वैसे ही यहाँ भगवान शंकर के गण गिरफ्तार करते हैं। उन्हें विभिन्न प्रकार के दण्ड देते हैं। भयभीत कर विभिन्न लोकों में हस्तांतरित करते हैं। समय-समय पर भगवान शंकर के गण हमें उपदेश भी देते हैं। हत्या के चक्र को रोको। शान्ति के मार्ग का अनुसरण करो। तुम व्यर्थ ही अपनी शक्ति को बर्बाद करते हो।

तुम प्रेत योनि में कैसे काम वासना की पूर्ति करते हो? मैंने पूछा।

हिमालय यात्रा एवं साधना

गुरुदेव देखिए! अपनी काम पिपासा की पूर्ति के लिए अपने अनुकूल स्त्री की खोज करते हैं जिस पर आसानी से अधिकार कर सकें। जो लड़की पूजा पाठ ध्यान नहीं करती है। उसके मस्तिष्क पर प्रभाव डाल कर अपने वश में करते हैं। तब इच्छित शरीर धारण कर उससे संभोग करते हैं। फिर उसे पत्नी की तरह ही रखते हैं। जो प्रेत इच्छित शरीर नहीं धारण कर सकता है; वह इच्छित स्त्री पुरुषों के मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालता है। उन्हें एक दूसरे की ओर आकर्षित कर, परिस्थिति ही ऐसी निर्माण कर देते हैं कि वे दोनों सभी मर्यादायें भूलकर सहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं। उसके सहवास के सुख की अनुभूति अपनी होगी। उसी से हमारी वासना तृप्त हो जाती है। इसी तरह से जो प्रेतात्मा प्रतिशोध लेना चाहती है। वह भी अपने शत्रु के मस्तिष्क पर इसी तरह का प्रभाव डालकर झगड़ा मार-पीट करा देती है। खून, कत्ल भी करा देती है। जो व्यक्ति सद्गुरु के शरण में होता है। उसके मस्तिष्क पर उसके गुरु का अधिकार होता है। उस पर हमारा प्रभाव नहीं पड़ता है। बल्कि उसके साधना से जो आभा का प्रकाश मण्डल बनता है, उस प्रकाश मण्डल से हम लोग भयभीत रहते हैं।

अच्छा दूसरे एवं अन्तिम प्रश्न का उत्तर दो प्रेत कितने तरह के होते हैं? गुरुदेव जितने तरह के आदमी उतने ही तरह के प्रेत। आदमी ही तो प्रेत बनता है। इस तरह से मुख्यतः दो तरह के प्रेत होते हैं। प्रथम वासनात्मक प्रेत दूसरा सूक्ष्म शरीरी प्रेत। ये दोनों विभिन्न लोकों में रहते हुए भी बराबर भौतिक जगत से सम्पर्क बनाए रहते हैं। उनका जीवन यापन वैसे ही है जैसे भौतिक जगत में होता है। हम लोगों के पास मन है परन्तु इन्द्रियां नहीं हैं। हम लोग संकल्प शक्ति से मनोनुकूल सृष्टि कर लेते हैं। फिर उसका विसर्जन भी कर देते हैं। मैंने पूछा-तुम क्या चाहते हो?

गुरुदेव मेरी वेदना तो आप सुने नहीं खैर मैं चाहता हूँ कि इस योनि से मुक्त हो जाऊँ। यह यदि संतान सुख चाहता है तो इस गृह का परित्याग कर दे। जब तक मुझे रहना है। यहीं रहूँगा।

मैंने पूछा- आप कैसे मुक्त होंगे? गुरुदेव! आप हमारा क्रिया कर्म करा दें। मेरे लिए स्वयं पिण्डदान दें। इसके बाद मुझे तारक मंत्र दें। तब मैं शिव लोक में पहुँच सकता हूँ। या सम्भव है मैं दूसरा जन्म लेकर आपके जैसे महात्मा के शरण में जाकर तप कर मुक्ति पा लूँगा। मैंने उससे कहा- तू तो मानस शक्ति से यात्रा कर सकता है। तुम मेरे वाराणसी स्थित आश्रम पर सम्पर्क करना। वहीं तुझे भगवान शिव के लोक में प्रवेश करा दूँगा। तुम्हें कुछ दिन उस आश्रम पर सत्संग सेवा का अवसर भी उपलब्ध हो जायेगा।

मैंने कुछ साधकगण के आग्रह पर बदीनाथ की यात्रा 31 मई 1995 को प्रातः 3.20 पर प्रारम्भ की। अपनी कार से साधक लोग पूरी व्यवस्था के साथ चले थे। निश्चित हुआ जहाँ सन्ध्या होगी वहीं टैण्ट पड़ाव गिर जाएगा। साधना प्रारम्भ हो जाएगी। अपने भोजन बनाते, साधना करते, प्रकृति का आनन्द लेते। हम लोग हिमालय की यात्रा कर लेंगे। जिस स्थान पर ठहरेंगे उसी के अनुरूप साधना तथा जीवन चर्या भी होगी। सब साधन उपलब्ध थे। परन्तु इस यात्रा में दस व्यक्ति थे। दो व्यक्ति लीक बद्ध थे, जो लीक पर से हटने को तैयार नहीं थे। जपजी का पाठ कर लेना, माथा टेक लेना ही पुण्य का कार्य समझते। अपने जो करते, वही ठीक है और दूसरा जो भी करता वह गलत। इससे यह यात्रा साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण होते-होते रह गयी। चूँकि किसी-न-किसी प्रकार वे अवरोध उत्पन्न कर ही देते। हालाँकि उनकी नीयत कुछ गड़बड़ नहीं थी परन्तु साधक के लिए एक तरह का माहौल होना भी अत्यन्त जरूरी है। साधक को तर्क-कुतर्क से हर हाल में बचना चाहिए। यदि सभी साधक समर्पण की स्थिति में नहीं हों। मत मतान्तर के लिए रुढ़िवादी हों तो समर्थ गुरु भी कुछ नहीं कर सकता। हिमालय का क्षेत्र साधना के लिए उपयुक्त है परन्तु तथाकथित तीर्थ-यात्री इसे कुरूप बनाने पर तुले हैं। हम लोग हर की पौड़ी पर दिनांक 1.6.95 को सुबह दस बजे पहुँच गये। वहाँ स्नान का आनन्द लिया। गंगा के किनारे साधना कराई। कुछ हल्का भोजन कर ऋषिकेष पहुँच गये। सुना था वहाँ भगवान तपस्या किये थे। वह स्थल है। पहुँचते ही कुछ बाबा लोग मिले। कार वगैरह देखकर ललचाई आँख से तुरन्त आश्रम में आमंत्रित किये। एक कोठरी जिसमें एक पति-पत्नी रहते थे। सुना कि वही उसे बनवाये भी थे। प्रतिवर्ष एक माह रहते थे। बाबा लोग उनको बाहर कर हम लोगों का सामान उस में रखवा दिए। अपनी तपस्या के सम्बन्ध में एक-एक पतली पुस्तक भी बाँटे। खाना भी खिलाये। बहुत ही प्रसन्न थे। बाबा लोग, सभी 30 वर्ष से लेकर 50 वर्ष तक तपस्या में थे। सभी सिद्ध थे। परन्तु मैंने उनके चेहरे पर देखा तो कहीं कोई तप नहीं दिखा। हाँ काम, क्रोध, लोभ अवश्य देखा। खैर महंत जी ने हमारे कुछ साधक को बुलाकर कहा, कि आप लोग खाना मत बनाईयेगा। यहीं खाना होगा और कमरे की जरूरत होगी तो और मिल जायेगा। तुरन्त एक कमरा और खुलवा दिया। कमरे बड़े-बड़े बाथरूम से युक्त थे। मैंने सन्ध्या समय में साधकों को स्नान करने को कहा ही था कि एक बाबा आकर कहे कि महंत जी बुला रहे हैं। दो-चार साधक चले गये। महंत जी कहे कि सन्ध्या सुबह आरती में

आप लोगों को आना होगा। दो-दो घण्टा यहाँ बैठना होगा। हमारे साधक गजेन्द्र जी सीधे-साधे व्यक्ति थे। बोल दिए कि महाराज हम लोग साधना करने आये हैं। आरती में हमारा इतना समय मत बर्बाद करो। वे चौंक गये। कौन-सी साधना? वे बोले हमारे गुरु जी कराते हैं। उस समय चुप रहे। वे लोग आ गये।

कुछ काल के बाद आकर कहा कि आप लोग जगह खाली कर दें। यहाँ जगह नहीं है। यही होता है। अक्सर क्रान्तिकारी, विद्रोही, सद्गुरु को कोई बर्दाश्त नहीं कर पाता। उससे अज्ञात भय होता है। वास्तविक साधक उससे मिलकर प्रसन्न होता है। मानो उसे अमूल्य निधि मिल गयी हो। परन्तु पण्डित, पुरोहित, विद्वान उससे भयभीत हो जाते हैं। उसे अधार्मिक कहकर बहिष्कार कर देते हैं। शुरू से यही होता आया है। चाहे राम हो, चाहे कृष्ण, चाहे कबीर, चाहे ईसा। मैंने कहा परमात्मा आपको अन्यत्र रखना चाहता है। वह जो करता है, अच्छा करता है। आप लोग अपनी अहं को गंगा में बहा दें। ये महात्मागण, परमशक्ति से प्रेरित होकर ही हमें यहाँ से भेज रहे हैं। वह परम शक्ति, व्यक्ति के अनुसार सभी कुछ प्रबन्ध करती है। आप उस पर अटूट श्रद्धा विश्वास रखें। वह जो करेगा वह उत्तम करेगा। खैर हम लोगों ने आश्रम का परित्याग कर स्वर्गाश्रम (गीता आश्रम) में रात्रि विश्राम किया तथा सुबह गंगा स्नान किया। गंगा के किनारे ही साधकगण को बैठा दिया। जहाँ कल-कल कर गंगा शीतल जल युक्त बह रही थी। अनवरत। पीपल का पेड़, गंगा का तट ऋषिकेष सब उससे ऊपर दुर्लभ हैं। परमात्मा आपको यहां से साधना प्रारम्भ कराना चाहता है किसी में दोष देखने से अच्छा है अपने में दोष देखा जाये।

सूखे पत्तों के द्वारा साधना

प्रथम चरण सुबह चार बजे का समय था। सभी साधकों ने गंगा के शीतल जल में स्नान कर लिया। मैं स्वर्गाश्रम की सीढ़ी पर स्नान कर गंगा की धारा के उल्टी दिशा में चल दिया। कुछ दूरी पर साफ-सुथरी जगह देख रुक गया। पीछे देखा सभी साधक मौन अनुगमन कर रहे थे। मैंने सभी को इशारे से गंगा के किनारे (तट) पर ही बैठने को कहा। सभी बैठकर अपलक मेरी तरफ देख आदेश पाने के लिए उत्सुक थे। उन्हें तमन्ना थी कुछ सीखने की, करने की। एक पीपल का वृक्ष भी समीप ही था। मैंने कहा आप सभी दृश्यों को तन्मय होकर देखें। कुछ क्षण बाद कहा आप पीपल वृक्ष की छाया में हैं। गंगा का तट है। स्वर्गाश्रम महात्माओं का तप स्थल रहा है। अब आप सब देख लिए। जो कुछ भी मैं कहूँ आप अपनी भावना शक्ति से, श्रद्धा के माध्यम से देखेंगे।

मस्तिष्क को कुछ क्षण के लिए छोड़ देंगे। भुला देंगे। अभी हृदय से, श्रद्धा से, प्रेम से भरी भावना से काम लेंगे। आँख बंद कर लें। त्रिकुटी संगम पर ध्यान दें। दो मिनट श्वास के साथ गुरु मन्त्र के सहारे अन्दर जायें। प्रकाश पर ध्यान रहे।

द्वितीय चरण अब मन से ऊपर पीपल के पत्ते को देखें। हरा पत्ता डाली के साथ हिल रहा है। हवा के झोंकों से लड़ रहा है। संघर्ष कर रहा है। आप पूर्व दिशा में मुँह कर बैठे हैं। सूर्य की लालिमा से आपका चेहरा रक्ताभ हो रहा है। तुम लोग सूखे पत्ते पर ध्यान दो। एक पत्ता सूखा है। वह भी डाली से लगा है। वह हिल-डुल नहीं रहा है खड़ा है। सम्भवतः वह संघर्ष करने की क्षमता ही खो चुका है। हवा का झोंका आ रहा है। उस सूखे पत्ते से टकरा गया। सूखा पत्ता बिना किसी झंझट के, बिना किसी टकराहट के पेड़ का साथ छोड़ दिया। हवा के साथ हो लिया। हवा जिधर भी जाती, वह पत्ता उस दिशा में उड़ता। उसका अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं है। वह हवा के साथ-साथ चलने को राजी है। हवा कभी उसे उड़ाकर पर्वत पर ले जाती है। कभी सतह जमीन पर तो कभी नदी में ला डालती।

तृतीय चरण आप लोगों का भी अस्तित्व इस सूखे पत्ते की तरह है। आप भावना करो संसार में आपका भी कोई नहीं है। परिवार उस पेड़ की तरह है। आप उसके सूखे पत्ते हैं। हवा के झोंके से आप उड़ रहे हैं। जरा गहराई से देखेंगे। आप तो साक्षी हो। शरीर उड़ रहा है। आप देख रहे हो। साक्षी की तरह। शरीर ही पत्ता है। शरीर रूपी सूखा पत्ता पर्वतों से उड़ता हुआ नदी के जल में गिर गया। गंगा कल-कल करते हुए बह रही है। उसके निर्मल जल में आप बह रहे हो। अब बहते हुए शरीर को साक्षी भाव से देखो। शरीर की स्थिति देखो। कभी पानी का वेग नीचे डुबोता है परन्तु पत्ता रूपी शरीर सूखा है अतएव डूबता नहीं ऊपर आ जाता है। जल के वेग से ही वह गतिमान होता है। बहते शरीर को सूखे पत्ते की तरह गौर से देखो। हरा पत्ता डूब सकता है। यदि हरा पत्ता डाली के साथ है। तब वह और पानी से संघर्ष करेगा। गंगा का वेग उस डाली को पत्ते के साथ डुबो देगा या तुरन्त लड़ाने का उपक्रम शुरू कर देगा परन्तु सूखा पत्ता निर्विघ्न बहता चला जा रहा है। वह मध्यधार में है। गंगा के कलरव के साथ कलरव कर रहा है। उसकी उताल तरंगों के साथ उताल पर है। देखो वह बहते हुए ऋषिकेष पहुँच रहा है। वह किसी को नहीं देखता। उसे सभी देख रहे हैं। अब वह आगे चल निकला। हरिद्वार की तरफ जा रहा है। हर की पौड़ी के समीप से बह रहा है। वहाँ उसका वेग तेज हो गया है। गंगा के शीतल जल

में शरीर शीतल हो गया है। आप साक्षी बन कर देखो शरीर को गौर से देख लो। शरीर रूपी पत्ता हरिद्वार से भी आगे जा रहा है। पानी को उछाल हवा का झोंका पत्ते को किनारे फेंक देता है। अब पत्ता नदी के तट पर पड़ा है। वह शान्त है। परमात्मा को धन्यवाद दे रहा है। वह कह रहा है। मेरी प्रसन्नता आपके ही हाथों में है। आप जहाँ रखो, जैसे रखो मैं उसी में प्रसन्न हूँ। अब मेरा कोई विचार नहीं। आचार संहिता नहीं।

चतुर्थ चरण आप अभी तक साक्षी बन कर शरीर को देख रहे थे। अब आप धीरे-धीरे शरीर में प्रवेश करें देखें शरीर अत्यन्त शीतल है। शान्त है। आप ध्यान में बैठे रहें। परमपिता परमात्मा का आशीर्वाद प्रकाशस्वरूप है। आप पर बरस रहा है। गुरु सामने बैठे हैं। गंगा का किनारा नारायण स्वरूप पीपल वृक्ष सभी का आशीर्वाद आप पर बरस रहा है। आप आशीर्वाद रूपी वर्षा से भीग रहे हो। ये आशीर्वाद प्रकाश स्वरूप शरीर के अन्दर प्रवेश कर रहा है। शरीर का कष्ट बाहर निकल रहा है। काम, क्रोध, लोभ आदि विकृतियाँ बाहर आ रही हैं। आप शान्त हो। आनन्दित हो। शरीर प्रकाश से भरा है। आपका एक-एक अंग शीतल है। प्रसन्न है। आपकी प्रसन्नता आपके चेहरे से परिलक्षित हो रही है। चेहरा मुस्कुरा रहा है। आप प्रसन्नचित्त हैं। धीरे-धीरे आँख खोलना परमात्मा को, गुरु को प्रणाम करते हुए। आँख खोलकर शान्तचित्त बैठ जाओ। कुछ क्षण विश्राम करो। अब मैं एक-एक व्यक्ति से अनुभव पूछूँगा। आप कैसा महसूस किये। साधना के साथ अनुभव भी ग्रहण करें।

अनुभव

आप सभी शान्त चित्त बैठ जायें। मैं सबसे पहले धरमू भाई से पूछना चाहता हूँ आप को कैसा मालूम हुआ।

धरमू भाई—“गुरु देव प्रथम मैं आपको शत्-शत् प्रणाम करता हूँ।

मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि हमारा शरीर-प्राण रहित नदी में बह रहा है। मैं प्रसन्न मुद्रा में पानी के ऊपर-ऊपर से जा रहा था। आपको मैंने विभिन्न रूपों में देखा। आपके दर्शन हेतु सप्तर्षि आए हुए थे। आकाश मार्ग से पुष्प वर्षा कर रहे थे। साथ ही यहां ऋषिकेश में हजारों महात्मा सूक्ष्म शरीर में आपके दर्शन हेतु आए थे। मैंने उनसे पूछा आप लोग क्या कर रहे हैं? वे बोले हम लोग पश्चाताप कर रहे हैं। तुम धन्य भागी हो। जो समय के सद्गुरु के अवतरण काल में जन्म ग्रहण कर उनका शिष्य बन गये हो। हम लोग चूक गये। ये महान तंत्र वेत्ता हैं। इनकी हिमालय यात्रा में हम लोग साथ-साथ चलेंगे।

मेरा मन शरीर में आने को नहीं हो रहा था। परन्तु उस दिव्य आत्मा के कहने पर मैं शरीर में वापस आ गया। मेरा शरीर हल्का है। प्रसन्न हूँ। आनन्द में हूँ। मुझे ऐसा ही रखें। गुरु देव यही मेरी प्रार्थना है।” ऐसा कह कर आँखों में आँसू भर कर साष्टांग मुद्रा में लेट गया।

पंडित संज्ञान—आप अपना अनुभव बोलो। वहीं खड़े हो जाओ। गुरुदेव मेरा तो दूसरा जन्म ही हुआ है। मैं कर्मकाण्डी ब्राह्मण हूँ। आपने बिना मंत्र-पूजा-पाठ के हमें वरदान दिया। ऐसा तो हमने सोचा ही नहीं था। मैं जैसे-जैसे पत्ते की तरह उड़ता था, पानी में बह रहा था। ऐसा ज्ञात हो रहा था कि मेरा जातिगत अहंकार, लोभ, क्रोध बह रहा है। मैं गंगा के जल की तरह निर्मल हूँ। उस शरीर में आपको कभी ब्रह्मा, कभी विष्णु, कभी शिव के रूप में देखा। आप ज्योतिर्मय थे। बहुत सारे देव-देवी को आपको नमन करते देखा। अन्त में मैंने देखा कि माँ गंगा नदी ही नहीं बल्कि साक्षात् नारायणी भी है।

आप **सरदार जशपाल**— जी गुरु देव! मेरा मन अति चंचल है। परन्तु आप ने जैसे ही कहा कि सूखे पत्ते के तरह बिना संघर्ष के हवा के साथ उड़ो। पहले मैंने इसे कल्पना समझ कर नहीं किया। जैसे ही आपने कहा कि इस तीर्थ यात्रा में अपना तन-मन हमें सौंप दो। जो मैं कह रहा हूँ। वही करो। वापस लौटने पर अपने मन को ले लेना। यह बात मुझे लग गई। फिर मैं सूखे पत्ते की तरह उड़ने लगा। उस उड़ने में शरीर का भान भूल गया। आकाश में पक्षियों के साथ उड़ता रहा। सुदूर आकाश में सूक्ष्म शरीर धारी ऋषि मुनि भी मिले। सभी आनन्द में थे। आपके तरफ देख रहे थे। बातें कर रहे थे। जब आप ने कहा कि ऊपर से गिरेंगे। नदी में पानी के साथ बहेंगे। हम एकाएक नदी में गिर गये। गंगा जल की शीतलता अनुभव हुई। शरीर से अलग होकर शरीर को देखा। शरीर एवं जगत का वास्तविक रहस्य ज्ञात हुआ। आज से मेरा अहंकार गंगा में बह गया। अपनी वासना, क्रोध, या शरीर के अन्य बुराइयों को बहते हुए स्पष्ट मैंने देखा।

आपकी कृपा बनी रहे यही मेरी कामना है। एक और आश्चर्य देखा कि जब मैं नदी में बह रहा था। तो किनारे एक शव जलाया जा रहा था। भीड़ लगी थी। उस शव के पास उसका वास्तविक मालिक सूक्ष्म शरीर में खड़ा था। वह असहाय था। मैंने उसके पास जाकर पूछा क्यों भाई आपकी मदद मैं कर सकता हूँ। वह रोते हुए कहा-नहीं भाई नहीं। कोई किसी का नहीं हैं। मैं कॉलेज में पढ़ रहा था। उस लड़की से मेरा परिचय प्रेम में बदल गया। उसने कसमें खाई माँ-पिता जी के इच्छा के खिलाफ इससे शादी किया। मात्र तीन वर्षों में

वह दूसरे से प्रेम करने लगी। देखिये सामने रोने का नाटक कर रही है। जो युवक उसे सम्भाल रहा है। वह उसका नया प्रेमी है। पहले मुझे उस पर शक-संदेह नहीं था। शरीर से अलग होते ही सभी सत्य सामने आ जाता है। सामने बेहोश पड़ी है, मेरी माँ है। काँपते पैर, काँपते हाथ से मुखाग्नि देने वाले मेरे पिता श्री हैं। हाँ मेरे माँ के मुँह पर पानी का छीटा देने वाला मेरा छोटा भाई है। वह हमारा अत्यन्त प्यारा है। वह भी बार-बार बेहोश होकर गिर जाता है। भाई मैं विश्वास एवं झूठे प्यार के चक्कर में मारा गया।

आपकी आवाज सुन कर इस शरीर में लौट आया। गुरु देव आप हम पर कृपा करें। अपने शरण में रखें। साथ के एक-दो आदमी ने उस स्थान पर जाकर सत्यता की जाँच की। घटना सत्य निकली।

मैंने कहा आप सभी मुस्कुराते हुए परम पिता परमात्मा को धन्यवाद दें। जो आपको यह अवसर उपलब्ध कराये। अब हम लोग आगे के यात्रा पर निकलेंगे। आप सभी को मेरा धन्यवाद।

शरीर को जलते हुए श्मशान में देखना

इसके पूर्व हिमालय यात्रा पर 1990 में इसी समय मैं आया था। अकेला था। एक धोती व कमीज पहना था। एक गमछा सर पर बाँधे तथा दूसरी धोती शरीर पर ओढ़े गंगा तट से पैदल यात्रा कर रहा था। रात्रि में किसी स्थान या आश्रम में रुक जाता। सुबह स्नान ध्यान कर आगे चल देता। किनारे-किनारे चल रहा था। गीता आश्रम से पश्चिम एक उच्चा कटाव है जिसमें दो-तीन गुफायें बनी हुई हैं। मिट्टी काटकर बनाये हैं। कुछ महात्मा आकर रहते हैं। मैं वहाँ आया ही था कि देखा एक युवक लगभग 35 वर्ष का ध्यान में बैठा था। शरीर पर एक लाल एकरंगा ओढ़ लिया दूसरा पहन रखा था। जमीन पर पालथी मार कर बैठा था। उसके पास पात्र के नाम पर एक स्टील का छोटा-सा कमण्डल था। मैं भी बैठ गया। कुछ क्षण के बाद वह युवक संन्यासी आकर दण्डवत किया एवं बोला महाराज जी अन्दर आयें। छोटी-सी गुफा में किसी तरह हम दोनों बैठ गये। उसने परिचय पूछा तो मैंने कह दिया बस समझो घूमता हुआ एक पथिक। उसके साथ बातें होने लगीं। एक-दो घण्टे के बाद पता चला कि वह एक प्रशासनिक अधिकारी था। बम्बई का रहने वाला। माँ-बाप की इकलौती सन्तान था। पत्नी भी प्राध्यापक है। इसका एक पुत्र भी है। घर पर जगह जमीन भी ज्यादा है। उसने संन्यास के चक्कर में घर-द्वार छोड़ दिया। वृद्ध ब्राह्मण माँ-बाप, नवजात शिशु, युवा पत्नी को छोड़कर इधर-उधर भटक रहा है। बहुत मन्त्र जपा।

पूजा किया। पाठ किया। जल (गंगा) में खड़ा रहकर प्राणायाम किया। परन्तु मन शान्त नहीं हुआ। शरीर को सताया भी परन्तु शरीर का अहं नहीं गया। तभी तो उपरोक्त सारी बातें उसके मुँह से अनायास निकलने लगीं। उसने हमसे आग्रह किया स्वामी जी हमें कुछ बतायें। आज ही रात्रि में स्वप्न देखा था, सुबह-सुबह एक महात्मा अतिसाधारण रूप में आयेंगे। वह तुम्हें सब कुछ बता देंगे। उन्हें ही तुम अन्तिम गुरु मान कर आगे साधना करना। आपका रूप-रंग सब कुछ स्वप्न वाले महात्मा जी से मिलता है। मैं तो सुबह से स्नान के पश्चात् आपका इन्तजार ही कर रहा था। इतना कह वह संन्यासी पैर पकड़ लिया, रोने लगा। मैंने कहा कि अधीर मत हो। मैं कल सुबह पाँच बजे आ जाऊँगा एवं तुझे शरीर के मोह से दूर होने की साधना बताऊँगा, इसके बाद आत्मदर्शन।

विधि-प्रथम चरण मैं वहाँ से चलकर लक्ष्मण झूला रुक गया। सुबह स्नान कर पूजा पाठ से निवृत्त हो ठीक पाँच बजे पहुँच गया। वह युवक संन्यासी आतुर दृष्टि से रास्ता देख रहा था। पहुँचते ही पूर्ण श्रद्धा समर्पण से पैर पकड़ लिया। मैंने कहा देर न करो। समय निकलने वाला है। गंगा के किनारे बालू पर बैठा दिया। मैं सामने ही बैठ गया। पहले कुछ शरीर-शोधन, गुरु-शिष्य, परम्परा का व्यवहार हुआ। तत्पश्चात् मैंने कहा कि आप आँख बन्द कर लें। भृकुटी पर ध्यान दें। जो कहूँ उसी के अनुरूप भावना करें। इसमें किसी मन्त्र की जरूरत नहीं है। चूँकि मन शान्त होने पर मन्त्र भी गिर जाते हैं। आप शान्त बैठ जायें। ध्यान करें परम प्रकाश है। सूर्य प्रकाश ऊर्जा के रूप में शरीर में प्रवेश कर रहा है। गुरु सामने है अतएव गुरु कृपा भी गंगा के पवित्र जल के सदृश आपके अन्तःपुर तक बह रही है आप पवित्र हो रहे हैं। आपका शरीर पवित्र हो रहा है। साथ ही भावना करें, आप शरीर से बाहर हैं। शरीर को बाहर से देख रहे हैं।

द्वितीय चरण आप शरीर से बाहर होकर ध्यान से निरीक्षण कर लें। एक बार आप को अत्यन्त विचित्र परन्तु सत्य शरीर के स्थिति के सम्बन्ध में भान होगा। अब शरीर मृतवत् पृथ्वी पर गिर गया है। असहाय है। कुत्ता मृत शरीर को नोंच रहा है। जिस शरीर पर इतना साबुन तेल लगाया। इसकी सुन्दरता बरकरार रखने के लिए आप क्या-क्या नहीं किये। आज उसकी यह स्थिति। वह लावारिस लाश की तरह पड़ा है। क्या इसकी इतिश्री यही थी? फिर देखें कुछ समाज सेवी सदस्य आये। आपके शरीर को लावारिस देख, उसके कफन के लिए, फूँकने के लिए लकड़ी हेतु चन्दा माँगते हैं। कोई एक पैसा देता, कोई दो पैसा। कोई वह भी नहीं देता। संयोग से आपकी पत्नी, माँ, पिताजी भी आ जाते हैं। गंगास्नान करते हैं। आपको खोजते भी हैं। चन्दा माँगने वाला आपकी लाश

दिखाकर पैसा माँगता है। आपकी माँ कहती है बहू वह लाश तो देखो। नंगा पड़ा है। सड़ रहा है। क्या तू पहचानती है। यह लाश हमारे लड़के जैसी लगती है। पत्नी पहचान लेती है। परन्तु सोचती है कौन झंझट मोल ले। अब मर ही गया तो बात खत्म। बताने पर अभी ही वैधव्य का काम करना पड़ेगा। कौन अपना चेहरा इनके चलते बिगाड़े। मर गये मर गये। अब जान गयी। मर गये। अब इनकी चिन्ता तो नहीं रहेगी। अब मामला साफ ही है। अपनी पूरी सम्पत्ति की मालिक तो मैं ही बनूँगी। अतएव कुछ क्षण बाद बोलती है। माँ जी आपका भी दिमाग खराब है क्या? यह किसी और की लाश होगी। आप आगे चलो। एक पैसा नहीं देती। आगे मन्दिर में चली जाती है। इधर लाश रखकर चन्दा माँगा जा रहा है। चन्दे के पैसों से लाश को कफन दिया जा रहा है। कुछ लोग इसे श्मशानघाट पर ले जा रहे हैं। श्मशान जाते समय राम नाम सत्य है कहा जाता है। क्या अभी तक राम नाम असत्य था? श्मशान भूमि पर लकड़ी रखी जाती है। उस पर शरीर रूपी लाश रख दी गयी। आग लगा दी गयी।

तृतीय चरण अपने ही शरीर को गौर से देखें। चिल्लायेँ मत। दुःख सुख से निवृत्त हो शरीर को ठीक से देख लो। सुन्दर शरीर जल रहा है जिस शरीर के लिए जीवन-भर चोरी किया बेईमानी की, जिस शरीर को कभी फूलों से, इत्र से, सोने-चाँदी से सजाया गया था। वह शरीर आज महत्वहीन हो गया। जल रहा है। माँस घी की तरह जल रहा है हड्डी लकड़ी की तरह। केश एवं बाल घास की तरह। साक्षी बन एक बार ध्यान से जलते शरीर को देख लो मोह दूर हो जायेगा। धीरे-धीरे सारा शरीर जलता जा रहा है। अब शरीर राख बन गया। राख धूल की तरह हवा में उड़ रही है। जिधर हवा बहती उधर ही राख उड़ रही है। राख को गंगा के पानी में बहा दिया जाता है। कुछ अधजला शरीर पानी में पहुँच जाता। जिसे जल के जीव मछली, घड़ियाल, केकड़ा खा रहे हैं। यही है इस शरीर का चक्र। आप शरीर-चक्र को देख लें।

चतुर्थ चरण तत्पश्चात् आप गुरु के समीप आकर ध्यान के लिए आग्रह करें। इस संसार-चक्र से निवृत्त होने का अनुनय-विनय करें। गुरु के आदेश की प्रतीक्षा करें। गुरु आदेश देता है। आप शरीर में प्रवेश करें। मानो आगंतुक किसी धर्मशाला में प्रवेश करता है। आप त्रिकुटी पर प्रकाश स्वरूप स्थित हो रहे हैं। धीरे-धीरे यह प्रकाश पूरे शरीर में फैल रहा है पूरे शरीर से कुवृत्तियाँ, रोग, कष्ट बाहर निकल रहा है। शरीर स्वस्थ हो रहा है। अब मानो आप तपस्वी के शरीर में प्रवेश किये हैं। मानों परकाया में प्रवेश हुआ है। रक्त संचार होने लगा। आपका ध्यान टिक गया है। आप विचित्र आभा से भर गये हैं। पूरा शरीर मुस्कुरा रहा है। हँस रहा है। आप आनन्दित हैं। धीरे-धीरे आँख खोलें। पूर्ण प्रकाश से

भर कर। अब आप शक्ति से पूर्ण हैं। गुरु सत्ता से जुड़ गये हैं। अतएव हँसते हुए गुरु को, परमात्मा को प्रणाम करें। अब आप वह नहीं हैं जो क्षण भर पहले थे। वह चित्त में जल गया। राख बन उड़ गया। गंगा में बह गया। अब आप शुद्ध चित्त आनन्द हो। परमात्मा स्वरूप हो।

जब वह युवक साधक संन्यासी आँख खोला तो उसके आँख में एक दिव्य प्रकाश था। रोशनी थी। अत्यन्त भावविह्वल हो पैर पकड़ लिया। अपना सिर मेरे पैरों पर रख दिया। मैंने अनजाने में अपना हाथ उसके सिर पर रख दिया। मेरे मुँह से निकला अब तुम “गुरु शरणानन्द” हो। तुम्हारा नाम यही रहेगा। बस क्या पूछना था वह उठ खड़ा हुआ। नाचने लगा। घण्टों नाचता रहा। वह अपनी सुध-बुध भूल गया। शरीर का सारा वस्त्र खुल कर जमीन पर गिर गया। उसे पता नहीं। एक घण्टा बाद वह थककर गिर गया। चेहरा फूल की तरह खिला हुआ। जब वह उठा तो पूछा गुरुदेव मैं पाँच वर्षों से भटक रहा था। कहाँ-कहाँ नहीं दीक्षा लिया। अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ। मैंने उसे अपने साथ कई दिन रखा। वह हमारे साथ गंगोत्री, गोमुख, तपोवन, नन्दन वन गया। तपोवन में भी एक साधना कराया। इसके बाद लौटने पर उसे दक्षिण भारत भेज दिया। वहाँ जाओ स्वयं का प्रकाश उधर बाँटो। तू स्वयं अब गुरु हो गया है। गुरुत्व तुझमें आ गया है। मैं काशी लौट गया। इस तरह तपोवन, नन्दनवन, यमुनोत्री में कई तरह की साधना अन्य साधक संन्यासी को भी बतायीं। जो वर्षों से बर्फ में रह रहे हैं। शरीर को ठण्डक से गला रहे हैं। परन्तु मन को शीतलता तक नहीं दे पाये थे। हाँ यह जरूर है कि जो साधक साधना के लिए भटका है। विभिन्न जगह योग, जाप किया है। उसमें पात्रता की ज्यादा सम्भावना होती है। वे वैसे ही हो जाते हैं। जैसे दूध को गर्म किया गया हो। दूध लाल हो गया हो। अब इन्तजार कर रहा है- “जोरन का”। यानी कुछ दही का जो उस में डाला जाये। डालते ही वह दही बनने लगता है। यह क्रिया तत्काल बिना किसी व्यवधान के कुछ ही क्षणों में पूर्ण हो जाती है। अतएव साधक किसी भी रास्ते से अपने को पात्र बना सकता है। पात्र बन जाने पर क्रिया प्रतिक्रिया तत्क्षण शुरू हो जाती है। गुरु भी वैसे ही शिष्य की खोज में सतत् प्रयत्नशील रहता है।

रुद्र प्रयाग

साधकगण के साथ दिनांक 2 जून, 1995 को रुद्र प्रयाग, सन्ध्या 5 बजे पहुँच गया। वहाँ बिरला धर्मशाला में रुका। सभी को स्नान के पश्चात् ध्यान कराया गया एवं रात्रि विश्राम किया। प्रातः तीन बजे ही सब जाग गये। सभी

स्नान किये। पाठ, जप, ध्यान कराया। सभी साधक के अनुनय पर सक्रिय साधना कराया। पैतालीस मिनट की सक्रिय साधना हुई। जिसमें कुछ नाचने लगे। कुछ गाने लगे। कुछ शरीर की सुधि भूलकर जमीन पर पड़ गये। जो सम्भवतः टेप भी किया गया था। खिड़की के चारों तरफ भीड़ इकट्ठी हो गयी। लोग देखने लगे। आखिर यह कौन सी पूजा? सभी मिलकर भोजन बनाये, प्रसाद पाकर यात्रा प्रारम्भ हुई। हम लोग गोविन्दघाट पहुँच गये। दिनांक 3 जून को सन्ध्या 3 बजे। वहाँ धर्मशाला में रुके। चूँकि जसबीर सिंह सैनी के साथ उनके भाई एवं पिताजी भी थे। हेमकुण्ड साहिब जाने हेतु आये थे। मैं ई. प्रेमशंकर राय, डॉ. उपाध्याय, गजानन्द जी, धर्म सिंह, संजय पाण्डेय, जसबीर सिंह, दर्शन सिंह जी को लेकर चल पड़ा। इनमें से कुछ पूछ रहे थे, स्वामी जी कहाँ चल रहे हैं। मैं बिना किसी प्रति उत्तर के चल पड़ा। मेरी स्मृति खींचे ले चल रही थी। चलो आप जहाँ तप किये हो। वह जगह अभी भी सुरक्षित है। प्रकृति सजाकर रखी है। प्रकृति तपस्वी की जगह श्रृंगार से युक्त रखती है। परन्तु तथाकथित धर्म के ठेकेदार उसको बदसूरत बना देते हैं। मैं एक-दो फर्लांग आगे गया ही था कि देखा विद्युत विभाग के कर्मचारीगण का क्वार्टर है। वहाँ से आगे बढ़ा एक छोटा-सा हनुमान जी का मन्दिर था। आगे एक छोटी नदी पर तार का झूला लगा था। जिस पर चढ़ कर नदी पार किया जा सके। वहाँ अलकनन्दा एवं हेमकुण्ड से निकली नदी हेमा का संगम था। नदी की कल-कल ध्वनि थी। वहाँ जाते ही पैर बायें तरफ मुड़ा। कुछ ही दूरी पर देखा कि एक विशाल चट्टान थी। जिसके चारों तरफ सफेद गुलाब के फूल का जंगल था। उसके दोनों तरफ से जल बह रहा था। सामने हिम गंगा नदी ही थी। नदी के पार विशाल पर्वत जंगल। उसी चट्टान पर जाकर बैठा एवं ध्यानस्थ हो गया। सब ज्ञात हो गया। मैंने पूर्व जन्म में यहाँ इसी चट्टान पर तप किया था। सभी को बैठने के लिए इशारा किया। एक साधना अपने आप अवतरित हो गयी। मैंने तुरन्त साधकगण में उसे उतार दिया।

गुलाब के फूल के द्वारा साधना

कुछ साधकों में आतुरता थी। उनके चेहरे पर जानने की जिज्ञासा थी। अतएव शान्त चित बैठकर आदेश की प्रतीक्षा में थे। मैं बोला आप सभी परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं। जहाँ आप बैठे हैं वह सिद्ध स्थान है। इसके विपरीत नज़दीक ही गुरु गोविन्द जी तप किये। लक्ष्मण जी तप किये। शंकर पार्वती तप किये। बदरी-व्यास तप किए। सैकड़ों, हजारों महात्मागण तप किये एवं आज भी कर रहे हैं। यह तपस्वियों की स्थली है। पर्यटकों की नहीं। पर्यटन से इन स्थानों की कीमत घटी है। पर्यावरण पर बुरा प्रभाव पड़ा है। आप अपने

चारों तरफ का दृश्य एक बार ठीक से देख लें। आपके चारों तरफ ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं। नदी के संगम पर आप बैठे हैं। नदी का संगम, पर्वत की ऊँचाई, ऋषि का तपस्थल, समीप हनुमान मन्दिर, घोर जंगल, वायु की शीतलता, खिले हुए गुलाबों के बीच में आप बैठे हैं। सामने गुरु बैठा है। इसमें से एक ही का होना साधक के लिए पर्याप्त है। जहाँ ये सभी एकत्र हो गये हों वहाँ क्या पूछना है? अब आप गुलाब के फूल को देखें। देखते ही जायें। कितना मधुर है? कितना सुन्दर? मानों आपका स्वागत कर रहा हो। आपके स्वागत में वह सदियों से खड़ा मुस्कुरा रहा है। पता नहीं कब आप आ जायें। यह और कुछ नहीं आपका ही खिला हुआ चेहरा है। इसमें आप अपना ही प्रतिबिम्ब देख रहे हैं।

प्रथम चरण अब आप आँख बन्द कर लें। ध्यान करें। प्रति श्वास में आप ऊर्जा ले रहे हैं। अब आप भावना करें। आप ही गुलाब के फूल हो। बिल्कुल सफेद। आप हँस रहे हो। मुस्कुरा रहे हो। मुस्कुराहट से पूरा शरीर ही खिल गया है। अब आप पुष्प रूपी शरीर का निरीक्षण करो। आप में ही हरी पत्तियाँ लगी हैं। डाल हैं। तने हैं। तना नीचे जा रहा है। जड़ से मिल रहा है। जड़ हिमालय पर्वत से जुड़ा है। हिमालय पर ही अन्य वृक्ष हैं। जंगल हैं। इसी से नदी निकली है। नदी का शीतल जल कलरव करता हुआ। इसी से यहाँ का वायुमण्डल ठण्डा है। शान्त है। आप का विस्तार बढ़ रहा है। आप ही हिमालय हो। आप से ही ये नदियाँ निकली हैं। इन नदियों की गड़गड़ाहट और कुछ नहीं आपका ही अन्तरतम का अनाहद है। यह जल और कुछ नहीं आपके ही अन्दर का बहता हुआ अमृत रस है। ये पर्वत आपके सिर। जंगल आपका केश। यह सब आपका ही विस्तार है। आप अपने विस्तार को ठीक से देख लो।

द्वितीय चरण अब अपने शरीर रूपी पर्वत की कन्दराओं में देखो गुफा का अवलोकन करो। सारे देवगण, ऋषिमुनि आपकी ही गुफा में आश्रय लिए हैं। तप कर रहे हैं। देखो आपको आज तक पता नहीं। जीवन में प्रथम बार देख रहे हो। जिनके लिए रामायण, गीता, पुराण, कुराण, वेद, वेदान्त पढ़ते हो। तीर्थ यात्रायें करते हो। वह कहीं मिला नहीं। वह आपकी ही कन्दरा में है। आप केवल अवलोकन कर लो। किसी से बातें मत करना। हाँ नमस्कार कर लो। दण्डवत कर लो। आगे देखते जाओ। आपका ही विस्तार है मानों पूरी सृष्टि। अपने विस्तार पर ध्यान दो। सूर्य अस्ताचल को जा रहा है। आप अपना विस्तार देखकर प्रेम से ओत-प्रोत हैं। प्रेम रस नदी की धारा बन गयी है। फूल की मुस्कुराहट बन गयी है। हृदय शुभ हो गया है। पर्वत पर स्थित बर्फ आपकी शीतलता का प्रतीक है।

तृतीय चरण इस चरण में आप अपने सृष्टि का अवलोकन करें। अपने में खिंचें, धीरे-धीरे। प्रत्येक साधना का प्रत्येक चरण दस मिनट से 15 मिनट का होगा। अब आप पर्वत, कन्दरा, जंगल को अपने में लय होते देख रहे हैं। सभी का लय धीरे-धीरे गुलाब में हो रहा है। गुलाब का भी लय आप में। आप गुलाब की तरह हँसते हुए हैं।

चतुर्थ चरण अन्तिम चरण में आप गुलाब के फूलों का ध्यान त्रिकुटी पर स्थिर करें। ध्यान करें। बिल्कुल सफेद। ज्योति स्वरूप बन रहा है। वह परम प्रकाश का रूप ग्रहण कर रहा है। मुँह में खेचरी का रस लग रहा है। शीतल। कान में नदी का अनाहद आ रहा है। विभिन्न वाद्य की तरह। आप समाधिस्थ हैं। श्वास बाहर आ रही है तो मानो पूरा कष्ट, कुवृत्ति बाहर आ रही है। अन्दर क्या है? आनन्द। अन्दर है शान्ति। परमशान्ति धीरे-धीरे गुरु को, परमपिता परमात्मा को प्रणाम करते हुए आँख खोलो। यह क्षण अत्यन्त पुनीत है। सम्भवतः आपके जीवन में दोबारा नहीं आये। समय अपने को दोहराता नहीं है। वह निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। शान्ति-शान्ति शान्त।

सभी शान्त थे। खुश थे। मस्ती में उठे। मैं भी उठा चल दिया। एक साधक एकान्त देख कर बोला गुरुदेव गजब हो गया। मैंने तो अपने ही कन्दरा में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को देखा। वे हमें बुला रहे थे। वर माँगने को कह रहे थे। मैं बोला गुरु देव सामने बैठे हैं। आपसे बात नहीं करना है। मात्र आपको नमस्कार करना है। बहुत सारे ऋषि-मुनि सशरीर मिले। एक ऋषि कहे कि तुम धन्य हो। तुम्हारे गुरु ने क्षणभर में तुझे क्या से क्या कर दिया। तू तो उम्मीद भी नहीं किया था। इस तरह दूसरा साधक बोला कि गुरुदेव हम तो कृष्ण का ही विराट रूप सुनते थे। आज अपना भी विराट रूप देख लिया। अपने-अपने पहुँच के अनुसार उन लोगों का अपना-अपना अनुभव था। यह अनुभव साधक की पात्रता पर निर्भर करता है। बादल तो बरसता भर है। अब जल चाहे पर्वत रखे या नदी या समुद्र। बादल बरस लिया। वही स्थिति साधक की होती है। गुरु तो मात्र वर्षा करना जानता है। उस वर्षा के पानी को अपने-अपने पात्र के अनुसार, सामर्थ्य के अनुसार रोकना आपका काम है। कुछ साधक के पास पात्र तो सुन्दर हैं। साफ भी हैं। परन्तु उसके पेंदे में छेद है। जो भी बरसता छिद्र से बाहर निकल जाता। कुछ के पात्र बाहर से कुरूप हैं। परन्तु अन्दर से साफ हैं, ठीक हैं तब वही जल ग्रहण कर सकता है। अतएव साधक अपनी पात्रता ठीक से बना दे। यदि पात्र सुपात्र है तब हरि दर्शन अवश्य ही होगा। यह आप पर निर्भर करता है।

पितृगण, ऋषि एवं देवगण दर्शन

मैंने कुछ साधक गण के साथ गोविन्दघाट से यात्रा 4 जून को 5.00 बजे प्रारम्भ की एवं हेम कुण्ड साहब दर्शन कर सन्ध्या 8 बजे लौट आया। रात्रि विश्राम कर 5 जून को प्रातः नित्य क्रिया से निवृत्त होकर पूजा-पाठ किया तथा 7.30 बजे बद्रीनाथ के लिए यात्रा प्रारम्भ किया। 9 बजे सुबह बद्रीनाथ पहुँचा तथा सतपाल जी की धर्मशाला में रुक गया। वहाँ रुकने की व्यवस्था ठीक थी। विष्णुपद मन्दिर का दर्शन किया। सन्ध्या समय आगे गर्म कुण्ड में स्नान किया। बद्री विशाल को प्रणाम कर सन्ध्या किया। 6 जून को प्रातः सैनी जी अपने परिवार के सदस्य के साथ हेमकुण्ड से लौटे चूँकि वे लोग चल नहीं सके। इससे ज्यादा समय लगा। जब कि साथ ही गये थे। आज प्रातः गर्मकुण्ड में स्नान कर बद्रीनाथ का दर्शन किया। बद्रीनाथ के मन्दिर में पीछे उसी प्रांगण के बरामदे में सभी साधकगण को साधना कराया गया। मैं जब साधना में था तब यह साधना स्वयं अवतरित हुई। बोली, स्वामी जी! आप के नजदीक सारी साधनायें स्वयं आनी चाहती हैं। चूँकि आपसे ही लोक मंगल सम्भव है और सब लोग तीर्थयात्री बन पाप-पुण्य के लिहाज से आते हैं। तप के लिए, साधना के लिए कोई आता ही नहीं। यहाँ जितने आश्रम बने हैं। अधिकांश किसी-न-किसी दुकानदार के हैं। वे भी स्थान विशेष पर आकर अर्थ कमाना चाहते हैं। उनको धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उनका लेन-देन मात्र धन से है। धन-हीन व्यक्ति धर्म को कैसे उपलब्ध होगा। होगा वही जो स्वयं सिद्ध सद्गुरु कबीर की तरह होगा। चरखा ही जीवन पालन का साधन होगा। परन्तु यहाँ के महात्मा का जीवन-पालन का साधन बद्रीभगवान ही हैं। सभी किसी-न-किसी दान पर निर्भर हैं। इनकी स्थिति अमर बेल की तरह है। मैं चुप सुन रहा था एवं साधना को आत्मसात् किया।

सन्ध्या समय दो सरदार जी को छोड़कर सभी को लेकर व्यास गुफा पहुँच गया। जहाँ एक छोटा-सा 'माना' गाँव है। जो अन्तिम भारतीय गाँव है। इसी पर्वत के बाद चीन शुरू हो जायेगा। वहीं मिलिट्री भी रहती है। गणेश गुफा का दर्शन किया। व्यास गुफा में कुछ काल ध्यान किया। वहीं से सरस्वती निकलती है। जो अलकनन्दा में मिलती है। कुछ ही दूरी पर भीम पुल है। जहाँ से भीम जी स्वर्ग यात्रा किये थे। यही भू-भाग स्वर्ग है। यहीं से चीन, तिब्बत की भी यात्रा की जा सकती है। त्रिवीष्टक (तिब्बत) ही स्वर्ग की राजधानी थी। जहाँ के राजा देवेन्द्र थे। इसीलिए यह भू-भाग देवताओं का था। अलकापुरी जाना चाहते थे परन्तु समयाभाव के चलते नहीं जा सके। वहीं से अलकनन्दा निकली

है। देवेन्द्र बहुत काल वहाँ भी रहे हैं। हम लोग गणेश गुफा में आ गये। वहाँ का पुजारी अन्दर कम्बल वगैरह बिछा दिया। उससे कहा गया कि आप एक घण्टा किसी को अन्दर मत आने दो। न ही शोर-गुल हो। ये लोग गणेश से मिलेंगे। ऐसा वर्णन आता है कि वेद व्यास जी श्रीमद् भागवत की रचना के लिए गणेश जी को आमंत्रित किये तब गणेश जी यहीं प्रकट हुए थे। गणेश जी कहे कि हम लेखन का कार्य तो कर दें परन्तु एक शर्त है कि आप रुकेंगे नहीं। वेद व्यास जी सोच में पड़ गये। बिना सोचे-समझे कैसे पुराण की रचना की जायेगी। अतएव बोले कि ठीक है। मेरी भी शर्तें हैं आप बिना सोचे-समझे श्लोक नहीं लिखेंगे। दोनों ने शर्तों में आबद्ध हो श्रीमद्भागवत पुराण की रचना की।

प्रथम चरण सभी साधक को गणेश के नजदीक बैठने के लिए कह दिया। अधिकांश सभी को यहाँ की जानकारी दी गयी। यही स्वर्ग है आपके पितृगण यहीं निवास कर रहे हैं। यहीं से अन्तिम पिण्ड लेने हैं। यही देव-स्थल है। देवगण सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। जो ऋषि तप में हैं, वे भी यहीं सूक्ष्म शरीर में हैं। वेद व्यास जी, गणेश जी भी यहीं हैं। पाण्डव यहीं से अन्तिम स्वर्गारोहण किये थे। उनकी भी आत्मायें यही हैं। ये सभी सूक्ष्म शरीर में तप कर रहे हैं। स्वयं बद्रीनाथ भी यहीं तप कर रहे हैं। एक तरफ का पर्वत नर है। जो व्यक्ति तप करता है वह नर कहलाता है। तथा नर-पर्वत तप से ही नारायण बन जाता है यानी दूसरे तरफ आ गया। नारायण पर्वत। यह कार्य क्षेत्र नहीं, तप क्षेत्र है। अलकापुरी से लेकर त्रिविष्टक तक का भाग स्वर्ग भूमि है। यानी भोग भूमि है। आप सभी आँख बन्द कर लें। ध्यान करें। भावना करें। आप हिमालय के सिद्ध पर्वत पर नारायण की तरह अकेले तप में हैं। आपके बगल में ही गणेश जी हैं। महर्षि वेद व्यास जी हैं। चारों वेद हैं। अठारह पुराण हैं। अलका एवं सरस्वती का संगम है। आप ध्यानस्थ हैं। परम प्रकाश स्वरूप हैं। बस प्रकाश ही। ऊर्जा ही। अब आप शरीर से बाहर निकल शरीर को देखें, अलग से। शरीर बैठा है ध्यान में। मात्र साक्षी भाव से देखें। अब आप सूक्ष्म शरीर में हैं। सूक्ष्म शरीर की गति मानस गति हो जाती है। शरीर को निश्चित होकर छोड़े दें। अब आपके आस-पास सूक्ष्म शरीर धारी देवगण, ऋषिगण, पितृगण नज़र आ रहे हैं। मात्र देखें। बातें नहीं करना है। सभी आपके आस-पास हैं। अब आप अपने वर्तमान परिवार की तरफ चलें अपने घर पर। देखें आपकी तथाकथित पत्नी क्या कर रही है। बच्चा क्या कर रहा है? पिता जी, भाई क्या कर रहे हैं? आपसे इनका क्या सम्बन्ध है? देख लें। इनसे भी बातें नहीं करना है। अलग से दृष्टा बन कर देख लें। अपने मन का भ्रम मिटा लें कि आपके बिना यह सांसारिक परिवार नहीं चलेगा। यहाँ आपके लिए कोई चिन्तित नहीं है। सभी सुख से हैं। आपसे सम्बन्ध मात्र अर्थ

से है। काम से है। लोभ के कारण है, और कोई सम्बन्ध नहीं है। सावधान होकर देखें एवं एक-एक व्यक्ति से मिलें। अपने घनिष्ठतम मित्र से मिलें। पड़ोसी से मिलें। आपके लिए कोई चिन्तित नहीं है। आप नाहक चिन्तित हैं। सभी से मिल लिए आप। अब परिवार के लोगों के मंगल हेतु मंगल कामना करें। आशीर्वाद न दें। अन्यथा एका-एक शक्ति निकल जायेगी। मंगल कामना करें।

दूसरा चरण अब आप अपने परिवार से वापस आ जायें। जहाँ आपका शरीर बैठा है। प्रत्येक चरण समयानुसार 10 मिनट से 15 मिनट का होगा। आप अपने शरीर को ठीक से एक बार देख लें। शरीर सुरक्षित तो है न। तत्पश्चात् आप अपने पितृगण का आह्वान करें। हाँ आपके आह्वान मात्र का विलम्ब था। वे आपके नजदीक आ गये आप ठीक से पहचान लें। उन्हें प्रणाम करें। सूक्ष्म ढंग से पूजन करें। शोडशोपचार विधि से पूजन करें। पिण्ड दान दें। उत्तम पिण्डदान विधि यही हो सकती है और तो कुछ खास लोगों की दुकानदारी है। आप पिण्ड दान दें। पुष्प, अक्षत, मिष्ठान, नैवेद्य दें। वे भी आप से मिलकर अतिप्रसन्न हैं। आप भी। आप उनके मंगल की कामना करें। वे आपको आशीर्वाद देंगे। अब आप यथाशक्ति पूजन, भोजन, अर्चना कराकर दान देकर विदा कर दीजिये। आप कहें हे मेरे पितृगण आप हमारी चिन्ता न करें। आप अपने लिए तप करें। मुझे भी तप करने की शक्ति प्रदान करें। आप अपने गंतव्य स्थल को प्रस्थान करें। तप में ही प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है। हमें भी शक्ति दें। साहस दें। यही हमारी आपसे प्रार्थना है। आप दण्डवत करें।

तीसरा चरण अब आप वेदव्यास जी से मिलें। देखें वेदों के साथ बैठे हैं। अपूर्व विद्वान भगवान् विष्णु के अवतार। बिल्कुल आपके समीप हैं। उनके नजदीक ही गणेश जी बैठे हैं। शान्त, लाल शरीर, लम्बा सूँड। उनका वाहन मूषक भी बगल में बैठा है। पहले आप गणेश का पूजन करें। षोडश विधि से पूजन कर प्रणाम करें। तब व्यास जी को। इन्हें भी पितृगण की तरह सभी चीजें अर्पित करें। याचना न करें। अब आप हिमालय में तप कर रहे ऋषिगण से मिलें। सभी का पूजन-अर्चन करें। अब आप ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर से मिलें। देखें पर्वत के ऊपरी भाग पर शंकर पार्वती के साथ कीर्तन कर रहे हैं। आप उनका पूजन करें। बातें करने की कोशिश न करें। न ही याचना की। याचना भिखारी करता है। इसी तरह नारायण पर्वत पर भगवान् विष्णु से मिलें। वे भी लक्ष्मी के साथ तप में हैं। उनका भी पूजन करें। मंगल की कामना करें। ब्रह्म पर्वत पर ब्रह्मा से मिलें। वे भी सरस्वती के साथ बैठे हैं। उनका भी पूजन करें। धीरे-धीरे। क्रमशः यह चरण पन्द्रह मिनट का होना चाहिए। आप सभी देवगण से मिल

लिए। स्वर्ग में इन्द्र से मिल सकते हैं। इन्द्र राजा है। अतएव जगह-जगह दरबान हैं। उन्हें भी दण्ड प्रणाम करें। पूजन कर ही इन्द्रपुरी घूमें। देखें देवेन्द्र शनि के साथ बैठे हैं। सारे देवता आस-पास बैठे हैं। आप सभी का सामूहिक रूप से पूजन करें। अर्चन करें। देवेन्द्र से आदेश ले उनका लोक घूम सकते हैं। उनके द्वारा अधिकृत व्यक्ति के साथ घूम लें। देख लें। जो पुराणों में लिखा है वह कहाँ तक सत्य है। देवपुरी भोगपुरी है। यहाँ नृत्य है। भोग है। अतएव आप घूमकर देख कर वापस आयें। जहाँ आपका शरीर आपका इन्तजार कर रहा है।

चौथा चरण अब आप सभी से मिल चुके। सांसारिक परिवार से, मित्रगण से, देवगण से, ऋषि-महर्षि से। अब आप का मोह बन्धन दूर हट गया। आप नजदीक से सभी को देख लिए हैं। अब पढ़ने की जरूरत नहीं। सुनने की आवश्यकता नहीं। जो प्रत्यक्ष देख लेता है उसे पढ़ने-सुनने की क्या जरूरत? आप अपने निर्मल स्वच्छ शरीर में प्रवेश करें। जहाँ से लोक मंगल कार्य किया जाये। परम पिता परमात्मा को साकार किया जाये। अब आप शरीर में प्रवेश कर गये। शरीर में हलचल आ गयी। श्वास से गुरु का, परमपिता परमात्मा का प्रकाश स्वरूप, प्राण ग्रहण करें। हृदय को प्राण से भर दें। आप हृदय में रुकें। हृदय से श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। वह श्रद्धा प्रेम का रूप ग्रहण कर रही है। वही प्रेम पूरे शरीर में फैल रहा है। प्रेम रस जैसे-जैसे पूरे शरीर में फैल रहा है। वैसे-वैसे शरीर पुलकित हो रहा है मानो शरीर प्राण से, प्रेम से भर गया। सारे कष्ट बाहर आ रहे हैं। आप निर्मल स्वरूप शान्त हो रहे हैं। आपका स्वभाव ही शान्त था। अशान्ति तो बाहर से आयी थी। निकल गयी। आप प्रसन्न हैं। धीरे-धीरे हृदय से प्रकाश पुंज ऊपर आ रहा है। क्रमशः ऊपर उठ रहा है। अब त्रिकुटी पर आकर रुक गया। आप वहीं ध्यानस्थ हो जायें। यही प्रकाश ज्योति आपको ऊपर ब्रह्माण्ड की यात्रा करा देगी। अतएव यहीं ध्यान करें। गुरु मन्त्र का स्मरण करें। गुरु को परम पिता परमात्मा को धन्यवाद देते हुए, प्रणाम करते, प्रफुल्ल चित्त आँख खोलेंगे। अब आप वह नहीं है जो एक घण्टा पहले थे। ऊँ शान्तिः-शान्तिः शान्ति।

अनुभव एक साधक कहने लगा कि स्वामी जी गजब हो गया। मैंने तो सोचा ही नहीं था। मैंने ध्यान में घर जाकर अमुक-अमुक आदमी को अमुक-अमुक काम करते, बातें करते देखा सुना। बिल्कुल प्रत्यक्ष। मैं उन लोगों को देख रहा था। सुन रहा था। वे हमें नहीं देखे। जब पितृगण से मिलने को हुआ तो हमारे घर-परिवार में जो भी मरा, सभी आ गये। बिल्कुल उसी रूप में, वे हमसे बातें करना चाहते थे परन्तु मैंने कहा कि सामने गुरुदेव बैठे हैं। उनका

आदेश नहीं है। मैं पिण्डदान दे रहा हूँ। आप स्वीकार करें। वे खुशी से स्वीकार किये। अत्यन्त प्रसन्न थे इसके बाद मैंने देखा सारे ऋषि वेद व्यास, गणेश, देवगण सभी हमारे इर्द-गिर्द बैठे थे। वे बोले-बोलो, कैसे आया? क्या चाहिए? मैंने यों ही दण्ड प्रणाम कर पूजा किया। कुछ नहीं बोला उन्हें भी आपकी तरफ इंगित किया। वे बोले-तुम धन्य हो जो ऐसा गुरु मिल गया। तुम्हारे जन्मों की साधना मिनटों में करा दी। अन्यथा तू अभी कहाँ-कहाँ भटकता। यह तुम्हारा पूर्व जन्म का पुण्य ही है कि सद्गुरु से भेंट हो सकी। यह क्या है स्वामी जी? जो मैं सोच भी नहीं सकता था। उनसे मिल लिया वह भी वैसे जैसे समानता का भाव हो। अब हमारा मोह स्वर्ग-नरक का, पाप-पुण्य का, लोभ-मोह का जाता रहा है। अब मात्र ध्यान को जी चाहता है और कुछ भी नहीं। बस ध्यान। अब मैं शान्त हूँ। प्रसन्न हूँ।

सहस्रदल का ध्यान

जब मैं गुरु शरणानन्द के साथ सन् 90 में गोमुख में ठहरा था। एक दिन प्रातः ही एक वृद्ध महात्मा आये। उनकी आयु लगभग 80 वर्ष की होगी। वे लाल बाबा के आश्रम से अपने लिए राशन वगैरह एक सप्ताह के लिए ले रहे थे। तब तक उनकी नजर हम पर पड़ी। नजदीक आकर बोले- स्वामी जी! आप कहाँ से आये। मैंने कहा-कहाँ आना? कहाँ जाना? न कहीं जाना न ही कहीं से आना। हर समय स्वरूप में रहना ही उचित है। इतना कहना था कि वह साष्टांग दण्डवत् कर दिए। बोले महाराज मैं 30 वर्ष से इस गंगा के उस पार रहता हूँ। वहाँ कोई पशु-पक्षी तक नहीं जाता। आप देखें एक गुफा बना ली है। लाल बाबा साल भर का राशन दे देते हैं। जब जाड़े में कोई नहीं रहता। सर्वत्र बर्फ ही रहती है। तब भी मैं उसी में रहता हूँ। पूरे 6-8 माह की लकड़ी, राशन, दवा, वगैरह रख लेता हूँ। 30 वर्ष से नीचे उतरा ही नहीं। सोचता हूँ अब स्वर्ग से क्या जाना है। मृत्यु लोक में। बचपन में ही साधु हो गया था। मेरे माँ-बाप मर गये। आर्थिक स्थिति दयनीय थी। अतएव साधु होने के सिवाय कोई रास्ता नहीं था। बहुत महात्माओं से साधना लिया, दीक्षा लिया। कुछ नहीं मिला। हारकर हिमालय के बर्फ में 30 वर्षों से आकर रह रहा हूँ। आप हमारे आश्रम पर चलते तो आपकी बहुत कृपा होती। गुरु शरणानन्द ने कहा गुरु देव चलें। जरा हम भी देख लेंगे तपस्थल। लाल बाबा के आश्रम से लगभग एक किलोमीटर नीचे से उसके आश्रम में जाने के लिए रज्जू मार्ग है। बहुत ही बीहड़ रास्ता। मैंने कहा कि इस बीहड़ रज्जू मार्ग से कौन आपके पास जायेगा। यदि

हाथ से रस्सी छूट गयी तो आदमी सीधे स्वर्ग पहुंच जाएगा। नीचे गंगा का बर्फीला तीव्र प्रवाह। खैर किसी तरह उनकी गुफा में पहुँचा। गुफा बहुत ही स्वच्छ सुन्दर बनाये थे। चार-पाँच व्यक्ति आराम से सो सकते थे। किनारे चूल्हा बनाये थे। हर समय आग जलती थी। धुआँ निकलने के लिए चिमनी बनाये थे। चाय पत्ती से लेकर पाउडर दूध, चीनी, चावल, आटा, आलू सभी सामान मौजूद था। ठण्ड लग रही थी। अतएव आठ दस कम्बल, रजाई भी था। जाते ही चट चाय बनाये। हमें आदर के साथ दिए। तत्पश्चात् बोले स्वामी जी हमें अरिष्टानन्द कहते हैं। लेकिन यहाँ के लोग बाबा नाम से ही जानते हैं। मैं लगातार 30 वर्षों से यहाँ रह रहा हूँ। पृथ्वी पर मैं काम, लोभ से आसक्त था। यहाँ इस उम्र में आप से झूठ नहीं बोलूँगा। मैंने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया। एकाध बार आश्रम में गलत काम कर दिया। गुरु जी हमें बहुत मारे। मैंने लज्जा से आश्रम छोड़ दिया। संकल्प किया था कि सिद्ध बाबा होकर ही लौटूँगा। परन्तु मन शान्त नहीं हुआ। शरीर शान्त हो गया। परन्तु हिमालय की बर्फीली हवा मन को शान्त नहीं कर सकी। मैं **ॐ नमः शिवायः** का जाप लगातार कर रहा हूँ। प्राणायाम भी किया। आसन भी किया। नेती धोती भी किया। कर्मकाण्ड भी किया। दो साल खडेश्वरी रहा। दस वर्ष मौन रहा। धरती पर (नीचे) हमारी बहुत पूजा भी हुई परन्तु मन से अशान्ति नहीं गयी। काम एवं लोभ ज्यों के त्यों बने हुए हैं। हर समय सोचता हूँ क्या अभी शादी हो जायेगी। घर गृहस्थी हो जायेगी। क्या कोई लड़की हमें पसन्द कर लेगी। कहने को मैं बाल-ब्रह्मचारी हूँ। परन्तु क्या करूँ? आप सभी कुछ जानते हैं। आप उद्धार कर दें। इस बुढ़ापे में मन को शान्त करा दें। यह कह कर पैर पकड़ लिए। रोने लगे।

मैंने उसे उठाकर बैठाया और कहा हे महात्मन्! अभी साक्षात् शिव के ही समीप हो। शिव की आराधना करते-करते वृद्धावस्था आ गयी। आप में कोई दोष नहीं है। आप तो निष्पाप हैं कहीं आप की साधना में खोट रह गया या कहीं आपके गुरु में। आपको ठीक-ठाक तंत्र नहीं बताया गया। यदि बीज ठीक नहीं है, पुष्ट नहीं है, नवीन नहीं है। सालों से रखा-रखा घुन खा गया हो तो ऐसा बीज अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित तो नहीं होगा। सड़ अवश्य जायेगा। अतएव बीज नवीन पुष्ट, पका हुआ हो। साथ ही उचित समय एवं उचित पात्र को दिया गया हो तो अवश्य अंकुरित होगा। पेड़ बनेगा ही। नवीन तथा पुष्ट बीज का अर्थ है सिद्ध साधक के द्वारा परिष्कृत तंत्र। सद्गुरु के द्वारा स्वयं का अनुभव किया हुआ तंत्र ही लाभकारी होगा। अन्यथा सारी दवाओं का वर्णन पुस्तकों में किया गया है। क्या दवा की पुस्तक का पाठ करने भर से रोग ठीक

हो जायेगा। सारा कानून पुस्तक में लिखा है। क्या कानूनी पुस्तकों को अगर बत्ती धूप दिखाने मात्र से आपको न्याय मिल जायेगा? आपको उचित चिकित्सक के पास जाना ही होगा। उसके परामर्श को मानना ही होगा।

विधि अब आप विलम्ब न करें। बहुत हो गया। आप पद्मासन पर बैठ जायें। पहले ठीक से श्रवण करें। या अक्षरशः अपने में उतारने का कष्ट करें। शिव देवी से कहते हैं

“अत ऊर्ध्व दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।

ब्रह्माण्डरूपयस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम्॥

कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धि विवर्जितः॥”

अर्थात् तालू के ऊपरी भाग में दिव्य सहस्रदल कमल है। यह कमल मुक्तिदाता ब्रह्माण्ड रूपी शरीर के बाहर स्थित है अर्थात् शरीर के ऊपर है। इसी को कैलाश कहते हैं। इसी स्थान में महेश्वर स्थित हैं। यह ईश्वर निराकुल अविनाशी और क्षयवृद्धि रहित है।

आप बाह्य आँख बन्द कर लो। मन्त्र छोड़ दो। बहुत हो चुका जाप। अब जाप को जाने दो। आप ध्यान तालू के ऊपर ले जाओ। तालू में ही अमर लिंग है। जिस पर सहस्र दल कमल से ही अमृत टपकते रहता है। सबसे पहले उस अमृत का पान करो। आप खेचरी में अवस्थित हो जाओ। (उन्हें खेचरी विद्या बताया एवं कराया।) अमृत रस का पान करते रहो। ध्यान को इसी ब्रह्म छिद्र जिससे अमृत रस आता है। से ऊपर ले चलो। सावधान महात्मन आप कांपो मत। भयभीत मत हो। उसका शरीर कांप उठता है। भयातुर हो आँख खोल देता है। अमृत रस पान करते रहो। ध्यान को ऊपर ले चलो मन से न कुछ पकड़ें, न छोड़ें। (जब वह ब्रह्माण्ड से ध्यान ऊपर करता, भयभीत हो जाता। कभी चिल्ला भी उठता, कभी गिर जाता। इस तरह चालीस मिनट लग गया। वह ध्यान ऊपर ले ही नहीं जा रहा था। अन्त में असहाय होकर आतुर दृष्टि से मेरी तरफ देखने लगता) आप इस बार पुनः अपने ध्यान को तालू में ले जायें। अमरनाथ का दर्शन करें। अब जहाँ से अमृत रस आ रहा है, उसी को माध्यम मान उसी दिशा में यात्रा प्रारम्भ करें। जैसे मछली धार की दिशा में ही यात्रा करती है। अतएव आप मीन मार्ग का ही अनुसरण करें। इसके बाद मैंने अपना हाथ उसके सहस्रदल कमल पर रख दिया। बस इतना करना था कि उसका ध्यान एकाएक ब्रह्माण्ड से ऊपर उठ गया। सहस्रदल कमल में स्थिर हो गया। चन्द मिनट में ध्यानस्थ हो गया। मैंने कहा यहीं रुकना है। यहीं कैलाश है। यहीं महेश्वर यानी शिव तंत्र ●

परमपिता परमात्मा है। उसका कोई कुल नहीं है। वही अविनाशी है। उसका न क्षय होता न ही वृद्धि होती है। यह नवनीत है। सत्य है। परम सत्य। यहाँ भय का गमन नहीं। गुरु कृपा श्रेयस्कर है। इसी से शिव कहते हैं-

“एतद्ध्यानस्य महात्म्यै मया वक्तुं न शक्यते।

यः साधयति जानाति सोऽस्माकमपि सम्मतः॥”

अर्थात् इस ध्यान के महात्म्य को हम नहीं कह सकते यानी बहुत विशेष है। जो योगी इसका अभ्यास करते हैं। सो जानते हैं। वह हमारे ही बराबर हैं। इससे आगे शिव कह ही क्या सकते हैं। जो इस ध्यान को करता है वही इसका महत्व भी समझता है।

एक घण्टा बाद पुनः अपना हाथ उसके सहस्रार पर रखा कहा अब ध्यान धीरे-धीरे उसी रास्ते नीचे उतारें। इतना कहना था कि वह पैर पकड़ कर पुनः बिलख-बिलख कर रोने लगा। वह कहने लगा स्वामी जी इसी स्थिति में हमें क्यों नहीं छोड़ दिया। एक आनन्द में ले जाकर पुनः क्यों खींच लाये। क्या मैं अभी उसका “पात्र” नहीं बना हूँ। हमें पुनः वहीं ले जाकर छोड़ दें। उन्हें समझाया यह हमारा प्रयास था। अब आप इसी का अभ्यास करें और कुछ न करें। आप बहुत स्नान कर लिए। आप तुरन्त समाधिस्थ हो जायेंगे। आप अभ्यास करें। अब आपका अभ्यास शीघ्रगामी होगा, आपका अपना होगा। आप चाहें तो स्नान करें या न करें। कोई अन्तर नहीं पड़ता। आप हर समय खेचरी में अवश्य रहें। कुछ काल के बाद आपको भोजन की कोई खास जरूरत नहीं पड़ेगी। रात्रि विश्राम वहीं किया। सवेरे वहाँ से लौट गया। इस तरह हिमालय में बहुत से महात्माओं से मुलाकात हुई। जो हिमालय का नाम सुनकर दौड़ लगाये हैं। योगी को गुरु के निर्देशन पर लगातार अभ्यास करना है। अभ्यास में लगन हो, श्रद्धा हो तो तुरन्त ही समाधि को उपलब्ध हो जाते हैं। शिव कहते हैं

“चित्त वृत्तियंदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।

तदा समाधिसाध्येन योगी निश्चलतां ब्रजेत्॥”

अर्थात् जब साधक कुलों के कुल ईश्वर में चित्त को लीन कर देगा। तब योगी की समाधि निश्चल सम हो जायेगी। जब गुरु सिद्ध होता है तब वह शक्तिपात करता है। साधक शक्तिपात रूपी ऊर्जा से शीघ्र ही ऊर्जान्वित होकर उस परम रहस्य को प्राप्त कर आनन्द से भर जाता है।

भगवान शिव का तंत्र

भगवान शिव एवं तंत्र शब्द सुनते ही लोगों के कान खड़े हो जाते हैं। किसी अज्ञात मन्त्र या चमत्कार के लिए उत्सुक हो जाते हैं। चमत्कार तो होता ही है परन्तु आन्तरिक। पूर्ण परिवर्तन, जीव का शिवत्व को प्राप्त करना ही चमत्कार है। इस विधि को जानने वाले एवं करने वालों की संख्या न्यूनतम है जो साधक हैं, उनके साथ असाधकों की भीड़ खड़ी है। शिव स्वयं तंत्र को देने वाले आदि पुरुष हैं परन्तु बहुत वर्षों तक पार्वती उनके तंत्र से अपरिचित थी। अनभिज्ञ थी। तंत्र एक विधि है, विज्ञान है। दर्शन एवं विज्ञान में भेद है। दर्शन क्यों पूछता है? विज्ञान कैसे पूछता है? दर्शन का सम्बन्ध मन-मस्तिष्क से होता है। दर्शन में परिवर्तन सम्भव नहीं। तंत्र में स्वयं को बदलना ही पड़ेगा। यह तंत्र शिव एवं पार्वती के मध्य घटित होता है। शिव के साथ शिष्यों की जमात नहीं है, क्योंकि तंत्र जमात को नहीं दी जा सकती। तंत्र एकाकी है। पात्रता सम्पन्न व्यक्ति ही इसे ग्रहण कर सकते हैं। शिव के द्वारा तंत्र की एक सौ बारह विधियाँ दी गयी हैं। इतनी विधियाँ दी गयीं, जिससे पूरी मानवता इसे ग्रहण कर सके। एक ही विधि सभी नहीं अपना सकते। यह व्यक्ति समय, स्थान पर निर्भर कर सकता है परन्तु इन एक सौ बारह विधियों में सम्पूर्ण मानवता आ सकती है। यदि गहराई से देखा जाये तो दुनिया के जितने धर्म हैं, जितनी भी साधना की विधि हैं सभी किसी-न-किसी रूप में शिव की इन विधियों से मिलती हैं। मूल वही है। बाहर से लेबल बदल गया है। कुछ विधियाँ अभी के लिए उपयुक्त नहीं हैं, पहले थीं। कुछ विधियाँ भविष्य के लिए उपयुक्त होंगी। तंत्र के लिए वेशभूषा जाति-सम्प्रदाय कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे कोई अन्धा व्यक्ति हो, पूछता हो कि प्रकाश कैसा है? दार्शनिक प्रकाश के सम्बन्ध में अपना दर्शन देगा। परन्तु तंत्र वेत्ता प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ नहीं बतायेगा, वह तो आँख का उपचार शुरू कर देगा। उसे दृष्टि उपलब्ध करा देगा जिससे उसका उत्तर वह स्वयं पा सके। अतएव तंत्र का अर्थ हुआ चेतना के पार जाने की विधि। विज्ञान का अर्थ है चेतना।

शिष्या-शिवा

तंत्र में प्रश्नकर्ता है देवी। उत्तर देने वाले हैं शिव। देवी शिव की गोद में बैठी हैं। शान्त, निर्विकार, मौन। ऐसा क्यों? पश्चिम के लोग इस चित्र को देख कर व्यंग्य करते हैं, क्योंकि यह उनकी समझ के बाहर है। अतएव यह उन्हें अशिष्ट मालूम होता है। लोक समाज युक्त नहीं मालूम होता। योगी की भाषा, योगी का रहन-सहन एक योग युक्त व्यक्ति ही समझ सकता है। औरों का उस पर बोलना बचकाना हरकत से ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता। खैर इसे हम गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा। देवी स्त्री की प्रतीक हैं। स्त्रैण भाव है। शिष्य के लिए स्त्रैण मन-भाव की ही आवश्यकता है। पुरुष भाव तार्किक होता है। तर्क आक्रमण का रुख रखता है। स्त्रैण भाव ग्राहता का जिसका अर्थ है गर्भ जैसी ग्राहकता। स्त्री जिस क्षण ग्रहण करती है उसी क्षण अपने शरीर का अभिन्न अंग बना लेती है। बच्चा ग्रहित कर लेती है। अब उसका पोषण करती है। अब वह माँ बन जाती है। बच्चा उसी की तरह खाता, जीता है। अतएव शिष्य को भी गर्भ जैसी ग्राहकता चाहिए। जो सुने एवं समझे ही नहीं वरन् सद्गुरु पर विश्वास कर पूरा का पूरा पी जाये। शिष्य को गुरु के साथ एकाकार होना पड़ेगा। इसी से शिव को अर्द्धनारीश्वर भी कहते हैं जिसे विज्ञान की भाषा ने अब पकड़ा। विज्ञान कहता है कि मनुष्य में एक्स एवं वाई क्रोमोजोम दोनों हैं। यानी स्त्री-पुरुष दोनों हैं। बहुत गहरे अर्थों में शिष्य देवी की तरह अर्द्धांगिनी है। अब दोनों के बीच सन्देह है ही नहीं। तर्क, बुद्धि, विचार विदा हो गये। तब गुरु के तंत्र से गर्भ की प्रक्रिया पूरी होती है। रूपान्तरण प्रारम्भ होता है। देवी शिव की गोद में है। यानि देवी एवं शिव में अब भेद ही नहीं। अब प्रेम की भाषा है। मौन की भाषा है। तंत्र स्वतः घटित हो रहा है शिव मानो स्वयं से स्वयं को कह रहे हों। अब देवी के साथ कोई भूत नहीं, भविष्य नहीं बस वर्तमान ही सामने है। वह पूरी तरह पीने को तत्पर है। अब प्रेम का क्षण है। दोनों दो नहीं एक ही हैं। प्रेम ही परमात्मा है। चूँकि शरीर से परे भी कुछ है जो मिलकर एक हो जाता है। दोनों का बैठने का स्थान कहाँ है? कैलाश। वह भी हिमालय का उच्चतम शिखर। वह भी शुभ्र हिमाच्छादित। चूँकि शिव प्रेम के शिखर पर हैं। शरीर मन श्वेत, शुभ्र है। शीतल है। जब साधक की यह स्थिति होती है तो समतल भी गौरी शंकर का शिखर हो जाता है। अतएव शिव का देवी के साथ इस अवस्था में बैठकर तंत्र का सम्वाद देना अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस पृथ्वी के लिए अनहोनी घटना है

देवी पूछती है मेरे संशय को निर्मूल करें

- हे शिव, आपका सच्चा रूप क्या है?
- यह विस्मय भरा विश्व क्या है?
- इसका बीज क्या है?
- विश्वचक्र की धुरी कौन है?
- रूप पर छाये अरूप के भी परे यह जीवन क्या है?
- देश, काल, नाम और प्रत्यय के परे आकर इसमें प्रवेश कैसे करें? मेरे संशय को निर्मूल करें।

तंत्र देवी के प्रश्न से ही शुरू होता है। गुरु इन्तजार करता है, शिष्य के प्रश्न का। वहाँ से अन्दाज़ा लगा लेता है कि शिष्य में कितनी आकुलता है।

कितना गहरे में उतर सकता है? उसके प्रश्न की जिज्ञासा किस स्तर की है? शिष्य के अन्दर अभी व्याकुलता, छटपटाहट है या नहीं? यह प्रश्न इसका अपना है या लोक-वेद का? कहीं से उधार तो नहीं माँग लाया। मात्र पूछ लें। जब आ ही गये हैं तो कुछ पूछना है, तो पूछ ही लें। क्या लगता है। समय का कुछ उपयोग तो हो। मैं भी देखता हूँ। हमारे यहाँ प्रतिदिन ऐसे व्यक्ति कुछ-न-कुछ आ ही जाते हैं, बिना उद्देश्य के, बिना काम के। मैं पूछता हूँ क्यों जी कैसे आ गए? बस स्वामी जी घर पर मन नहीं लगा, चला आया। कितने पुरुष कहते क्या करूँ? स्वामी जी घर कलह का स्रोत बन गया है। पत्नी बच्चे काँव-काँव करते हैं। बस चुपके से भाग आया। औरतें कहतीं- उनसे पटती ही नहीं, बड़े दुष्ट हैं, शराब पीते, गालियाँ देते हैं। आप कुछ कर दो स्वामी जी। यही है मिलने वालों का उद्देश्य। उनको तंत्र से कोई वास्ता नहीं। तब गुरु बेचारा हो जाता है जो आता अपना दुःख सुनाता, सुनने पर तैयार ही नहीं है। न ही दुःख को छोड़ने पर तैयार है। अब उस दुःख में ही उसे सुख आने लगा, रस आने लगा। उसके बिना जी भी नहीं सकता है। खैर देवी के प्रश्न का इन्तजार है शिव को। देवी पूछती है हे शिव, आपका स्वरूप क्या है? आखिर यह प्रश्न अभी क्यों? इसके पूर्व बहुत वर्षों से वह साथ-साथ हैं। पहले ही क्यों नहीं पूछ लिया। यदि वह नहीं पूछी तो शिव क्यों नहीं अपना परिचय दिए। इत्यादि प्रश्न उठ खड़े होते हैं। सम्भवतः देवी प्रथम बार प्रेम को उपलब्ध इतने नजदीक से शिव को देख रही है। जब वह प्रेम से लबालब हो, अत्यन्त नजदीक से देखती है तब उसके अन्दर कौतुहल उत्पन्न हो जाता है। ये वह नहीं हैं जिनसे मैंने विवाह किया। जिनसे बच्चे उत्पन्न हुए। ये तो कोई और ही हैं। अब सगुण का भाव गिर गया। निर्गुण उपस्थित हो गया। भाव-विभोर हो गयी। जिसका शिव को भी इतने दिनों से इन्तजार था। इसी से प्रारम्भ काल में शिव की लिंगाकार

में स्थापना की गयी। जो प्रकाश का, ऊर्जा का स्रोत है। यही स्रोत धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है।

देवी का प्रश्न महाभारत के अर्जुन से भिन्न है। अर्जुन एक प्रश्न करते, उसका उत्तर सुनकर दूसरा प्रश्न ठोक देते। दूसरे का उत्तर सुनते तो तीसरा प्रश्न ढूँढ़ लेते। मानो उत्तर सुनते ही न हों। किसी तरह युद्ध भूमि से भागने का उपक्रम खोजते हों। कृष्ण के सामने हथियार डालने को तैयार नहीं हैं। आखिर कृष्ण भी जोगी ठहरे, कहते हैं पूछ ले। आज ही अभी ही, जो-जो तू पूछना चाहता है। प्रश्नोत्तर अठारह अध्याय बन गया। तब अन्त में थक कर या कृष्ण का विराट रूप देखकर, भयातुर हो पूछते हैं तू कौन है? क्या चाहता है। यहाँ देवी में अर्जुन से पात्रता बहुत ज्यादा है। देवी में सम्भावनाओं का मानो स्रोत ही छिपा हो। वह प्रेम से परिपूर्ण है। पूछती है एकाएक बिना किसी पूर्वाग्रह के आपका सच्चा स्वरूप क्या है? अभी तक जो देखा, समझा ऊपरी तल पर, शरीर के तल पर वह आप नहीं हैं। देवी अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही दूसरा प्रश्न ठोक देती है। अब उसके उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं करती है। एक-एक मिनट उसके लिए असह्य हो रहा है। सोयी रही है इतने दिन का समय यों ही बर्बाद कर दिया। शिव का सच्चा स्वरूप भी नहीं समझ सकीं। आज तक जो कुछ समझा वह उनका स्वरूप है ही नहीं। अतएव अन्दर से उद्वेलित हो गयी है। इसी से बिना रुके प्रश्न-पर-प्रश्न पूछती जा रही है। यह विस्मय भरा विश्व क्या है? यह स्थिति साधक ही समझ सकता है। एक झेन फकीर रिझाई हुए हैं। जब वे आत्मोपलब्ध हुए तब बोले मेरा शरीर कहाँ है? मैं कहाँ खो गया? अपने शिष्यों को बुलाये एवं कहे तुम मेरे शिष्य हो मेरी मदद करो। मेरा शरीर खो गया। तुम खोज लाओ। शिष्य विस्मय में पड़ गये। सोचा क्या हो गया गुरुदेव को। क्या ये पागल तो नहीं हो गये। सद्गुरु अभी भी इसी स्थिति में कहते हैं हे सखि मैं कहाँ खो गया? अब मैं अपने को देख ही नहीं पाता। चारों तरफ तो वही है आखिर “मैं” क्या हो गया। उसी तरह झेन सन्त “हुई-हुई” भी अपने शिष्यों से कहते कि जब तुम्हें यह भान हो जाये कि मेरा सिर अब नहीं है। ध्यान करते-करते जब यह भान हो जाये कि सिर ही खो गया तब तू मेरे यहाँ आ जाना। तब तुझे कुछ सिखाया जा सकता है। वह क्षण अत्यन्त ही सौभाग्यपूर्ण होता है वही क्षण देवी के लिए आ गया है। रूप विदा हो गया है। प्रेमी शिव निराकार हो गये हैं। ये ही विश्व बन गये हैं। कृष्ण के विराट रूप के सदृश उस निराकार शिव में ही समस्त ब्रह्माण्ड नजर आ रहा है। सारे तारे, नक्षत्र, पृथ्वी, ग्रह सिमटते हुए शिव में ही एकाकार होते नजर आते हैं। अतएव

वह पूछती है यह विस्मय भरा विश्व क्या है? इसका बीज क्या है? विश्वचक्र की धुरी कौन है? इन्हीं प्रश्नों से नहीं रुकती। मानो वह स्वयं से प्रश्न कर रही हैं यदि उसे जरा-सा भी भान होता कि नहीं उत्तर देने वाला दूसरा है तो वह रुक जाती। इन्तजार कर लेती। सोचती क्या मूर्खता कर रही हूँ। अभी तक उत्तर तो दिया नहीं पहले प्रश्न का, दूसरा क्यों पूछूँ। अतएव आगे बढ़ती है। रूपों पर दायें रूप के परे यह जीवन क्या है? देश, काल, नाम और प्रत्यय के परे जाकर हम कैसे पूर्णतः प्रवेश करें? आधे पर समझौता नहीं है। वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई के चक्कर में नहीं है। न ही देश, काल के ही फेरे में। सबसे ऊपर उठकर उस परम पुरुष में पूर्णतः प्रवेश कर जाना चाहती हैं इन प्रश्नों के अन्त में कहती हैं मेरे संशय निर्मूल करें।

देवी का अन्तिम वाक्य अत्यन्त ही महत्व का है। उसे न ही अपने प्रश्नों से वास्ता है न ही उसका उत्तर चाहती है। वह चाहती है जो संशय है उसे ही निर्मूल करें। जब संशय निर्मूल हो जायेगा तब सारे प्रश्न उत्तर अपने आप निरर्थक हो जायेंगे। इसी से बुद्ध उत्तर देने के पहले कहते थे। कुछ दिन रुक जाओ। साधना करो। यदि तेरा उत्तर नहीं मिले तब हमसे पूछना। वे प्रश्नोत्तर के चक्कर में नहीं पड़ते। प्रत्यक्षतः देखने, अनुभव में विश्वास करते थे। देवी भी कहती है मैं अपना मन दिखाने के लिए प्रश्न किये देती हूँ। परन्तु मेरा काम उत्तरों से नहीं चलेगा। वह तो संशय का निर्मूल नाश। पूर्णतः नाश इससे कम पर समझौता नहीं चाहती।

शवासों के मध्य रुकी

शिव कोई विद्वान नहीं हैं। पण्डित नहीं हैं जो रटे-रटाये उत्तर दे दें। जैसे रामायणी व्यास लोग देते हैं। सुग्गे की तरह, कम्प्यूटर की तरह सभी प्रश्न उत्तर फिट हैं। बटन दबा दो, उत्तर हाजिर हैं। यह कार्य शिव के लिए कतई सम्भव नहीं है। वे उत्तर देना ही नहीं जानते। हाँ विधियाँ अवश्य बता देते हैं। ये विधियाँ अत्यन्त पुरातन हैं परन्तु अभी भी अत्यन्त नयी प्रतीत होती हैं। (मानो अभी-अभी किसी आप्त पुरुष के द्वारा निस्सरीत हो रही हैं, नवनीत की तरह।) ये विधियाँ सभी को समान रूप से फायदा करेंगी। जैसे सूर्य का प्रकाश समान रूप से उजाला फैलाता है बिना किसी भेद-भाव के। इसके लिए कोई शर्त नहीं है। चाहे आप शराबी हों या मांसाहारी, चोर हों या डाकू, चाहे आप जो हों, रहें। इस विधि से गुजरो तो देखो चमत्कार, परिवर्तन अवश्य ही होगा। भारतीय साधु कहते हैं पहले चोरी छोड़ो, शराब छोड़ो। सब छोड़ ही देगा तब डॉक्टर की क्या

जरूरत। जरूरत तो अस्वस्थ व्यक्ति को है। यह रूग्णता, अनैतिकता, उपदेशकों के चलते ही आयी है। उनके पास उपदेश है। विधि नहीं है। अब समय आ गया उपदेश छोड़ने का, विधि देने एवं ग्रहण करने का। यदि देश के सारे अस्पताल उपदेशकों के, व्यासों के हवाले कर दें तो ये अस्पताल में जाकर भी उपदेश देंगे, स्वस्थ हो जाओ। काम छोड़ दो। क्रोध मत करो। रोगी कह उठेंगे हमारा यह हाल तुम्हारे ही चलते हुआ है। अब तू क्षमा कर पूरी पृथ्वी को रोग से मत भर। तंत्र के लिए मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे की कोई जरूरत नहीं है। जरूरत है गुरु के सान्निध्य की। जरूरत है गुरु को अब सुनना नहीं पूरी तरह पी जाना। आत्मसात कर जाना। यही है अनुष्ठान। यही भाव, यही अनुष्ठान पूर्णत्व को उपलब्ध करा देगा। इसमें संशय नहीं है। संशय का मूल समेत नाश निश्चित है। चूँकि तंत्र में, जो भी आप हैं, उसे स्वीकारें। आप ही महा रहस्य एवं ऊर्जाओं के स्रोत हैं। वही ऊर्जा सहयोगी हो जाती है तब संसार का ही निर्माण हो जाता है। शरीर ही मन्दिर बन जाता है। शान्ति से जीवन भर जायेगा वही शान्ति पूरे ब्रह्माण्ड के साथ लयबद्ध हो जायेगी। साधक और समग्रता के बीच एक गहरी लयबद्धता स्वतः हो जायेगी। साधक अपने आप में मस्त हो जायेगा। अब सर्वत्र वही परमसत्ता ही नजर आयेगी। सम्भव है एकाएक बदलाहट से परिवार के सदस्य आपको पागल कह दें। पागल खाने में दे दें। पागल व्यक्ति स्वस्थ व्यक्ति को पागल ही कहता है। अतएव साधना के प्रथम से चतुर्थ चरण तक गुरु गृह या गुरु सान्निध्य जरूरी है। इसके बाद मानसिक तरंगों से काम हो जायेगा। गुरु का निर्देश शिष्य पकड़ने में सक्षम हो जाता है उसके अनुसार आगे की यात्रा करता है। शिव उत्तर रूप में विधि बता देते हैं। हालाँकि ये एक सौ बारह विधियाँ बताते हैं परन्तु मैं अत्यन्त महत्वपूर्ण जो वर्तमान के लिए लाभकारी हैं, उन्हीं के सम्बन्ध में कहूँगा। आप इसे केवल पढ़ें ही नहीं अपने जीवन में उतारें। यदि कठिनाई हो तो निकटवर्ती जानकार गुरु से सम्पर्क कर सीख लें। शिव कहते हैं हे देवी, यह अनुभव दो श्वासों के बीच घटित हो सकता है। श्वासों के भीतर आने के पश्चात् और बाहर के लिए लौटने के पूर्व श्रेयस्कर है, कल्याण है।

शिव पूछे गये प्रश्न पर ध्यान नहीं दिए। सद्गुरु हर समय शिष्य को नहीं बताना चाहता है, जिससे उसका प्रश्न-उत्तर दोनों गिर जाये। दोनों से मुक्त हो जाये या वह उस परमसत्य को जान जाये जो सभी प्रश्नोत्तर का मूल है। वह साधक को अतीत से बाहर खींचता है, भविष्य से रोकता है वर्तमान में ला खड़ा करता है। जब साधक वर्तमान में खड़ा होता है तब उसकी “स्व” की यात्रा श्वास

के सहारे प्रारम्भ होती है। जो साधक के लिए अत्यन्त अनहोनी है। जहाँ चाह नहीं होती। कामना भी नहीं। चूँकि कामना ही तो संसार है। शिव बिना किसी भूमिका के विधि का अनुगमन करने को कहते हैं जिससे अचानक मन मुड़ जाता है वर्तमान में ठहर जाता है। मन के वर्तमान में ठहरते ही विचार विदा हो जाते हैं। गति रुक जाती है। साधक पहले पहल अमन को, मन शून्यता को उपलब्ध होता है। यह पूरी श्वास प्रक्रिया है। इसे यों समझें। श्वास ऐसी प्रक्रिया है जो हर समय, हर क्षण चलती ही रहती है। इसका प्रवाह सदा बना रहता है। सब सोते हैं, जागते हैं परन्तु वह नहीं सोता जरा सा भी भूलता नहीं। आराम नहीं। श्वास का जिम्मा यदि परमात्मा व्यक्ति के हाथों सौंप देता तो वह किसी भी क्षण भूल जाता। श्वास बन्द हो जाता। जीवन का प्रवाह ही बन्द हो जाता। परन्तु वह भी अपने जिम्मे रखा है। फिर मनुष्य के जिम्मे है क्या? निरर्थक बकवास, उपदेश। श्वास ही जीवन का वास्तविक आधारभूत तत्व है इसी से भारतीय मनीषी इसे प्राण कहे हैं। प्राण यानी जीवन शक्ति। श्वास ही शरीर एवं “स्व” के बीच सेतु का काम करता है। यही श्वास “स्व” एवं विश्व ब्रह्माण्ड का भी सेतु है। बस इसी सेतु के सहारे “स्व” तक पहुँच जाना है। इस श्वास के दो बिन्दु हैं एक जहाँ पर शरीर और विश्व को छूता है तथा दूसरा जहाँ “स्व” और विश्वातीत, परम पुरुष को छूता है। सभी जन श्वास के एक बिन्दु से ही, परिचित होते हैं। जो विश्व एवं शरीर में गमन करता है। परन्तु जो श्वास शरीर से अशरीर में और अशरीर से शरीर में संक्रमण कर रहा है। उसे कोई-कोई जानता है। जैसे ही साधक दूसरे बिन्दु को जानता है वह एकाएक बदल जाता है यह बड़ा ही अनूठा तंत्र है। सद्गुरु कबीर भी यही कहते हैं

“श्वासा की करूँ सुमिरणी। करूँ अजपा के जापा॥”

श्वास को ही स्मृति में रखना है। यह हर समय चल रहा है। इसी से अजपा है इसी से यह तंत्र है। जहाँ भी बाह्य वृत्ति का सहारा लिया जाता है वह तंत्र कैसे होगा? तंत्र सहज है। एक तरह यह कबीर का सहज योग है। परन्तु योग में श्वास की व्यवस्था हो ही जाती है। प्राणायाम के द्वारा। परन्तु तंत्र में जो हो रहा है उसी के साथ सामंजस्य स्थापित करना है या होशपूर्वक रहना है।

आदमी शान्ति की खोज में हिमालय जाता है। देश-विदेश की यात्रा करता है। हरिद्वार डेरा डालता है परन्तु जो अत्यन्त निकट है, वहाँ नहीं जाता है। जहाँ कदम रखते ही व्यक्ति बदल जाता है। अमृत की वर्षा हो जाती है। व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता, अब वह दूसरे अस्तित्व में, दूसरी चेतना में प्रवेश कर जाता है परन्तु जो निकटतम है। उस पर आदमी का ध्यान ही नहीं जाता। न ही बताने

पर उसकी कीमत समझता है। जितना समय तीर्थ यात्रा में बर्बाद करता है उतना समय ही अपने निकटतम श्वास पर ही लगा दिया जाये तो सारी यात्रायें पूर्ण हो जायेंगी। अब कोई यात्रा ही नहीं बचती। परन्तु अन्तर्यात्रा है अतएव बहुत कठिन मालूम होती है। व्यक्ति को अपने पर विश्वास भी नहीं होता है सदा दूसरे पर विश्वास होता है। “स्व” एवं शरीर के मध्य श्वास इतना नजदीक है कि देखना भी दुरूह प्रतीत होता है। इसे देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। जब दृष्टिगत करे। अब साधक श्वास के साथ लग जाये। जब अन्दर आता है तब साथ-साथ बाहर आये। मन को इसी पर लगा देना है जिससे मन की भी चंचलता चली जाती है। इसे ठीक से गुरु से प्रयोगिक स्तर पर देख लें। समझ लें। अब ध्यान रहे। जब श्वास अन्दर जाये तो साथ जायें एवं बाहर आते समय मोड़ के पहले, क्षण के लिए या क्षण के हजारवें भाग के लिए श्वास रुक जाता है। जहाँ रुकता है, जिस बिन्दु पर बस वहीं रुक कर देख लेना है। फिर बाहर आता है। जब बाहर आ चुकता है तो फिर एक क्षण के लिए ठहर जाता है। पुनः अन्दर लौट जाता है। श्वास भीतर या बाहर मुड़ने के पहले एक क्षण के लिए श्वास रुक जाता है। सजग साधक उसी क्षण का इन्तजार करता है। वहीं ध्यान को टिका देता है। बस सब कुछ रुक जायेगा। प्राप्त हो जायेगा वह जो अप्राप्त था। जीवन का रहस्य, सत्य उपलब्ध हो जायेगा। हँ साधक को होशपूर्वक श्वास लेना है। उसके साथ मित्रता करना है। साथ-साथ अन्दर जाना है, साथ-साथ बाहर आना है। इसके साथ अभिन्नता का संयोग कर लेना है। जब श्वास अन्दर जाता है। तब जीवन कहलाता है। जब बाहर आता है तो मृत्यु कहलाता है। बाहर निकलने के बाद एक क्षण के लिए रुकता है। यदि उसे साकार कर लिया तो मृत्यु को साकार कर लिया। वही है महामृत्यु। वही है मृत्यु का रहस्य। अन्दर जाते वक्त जहाँ मुड़ता है एक क्षण के लिए रुकता है उस बिन्दु को देख लिया तो जान गये जीवन का रहस्य। जीवन के रहस्य की सारी गुथियाँ अपने आप सुलझ जाती हैं। सद्गुरु कबीर कहते हैं

“छिन्न छिन्न अमावस्या, छिन्न-छिन्न पूर्ण माशी”

जब अन्दर जाता तो पूर्णिमा होती, बाहर आता तब अमावस्या हो जाती। इसी योग से बुद्ध को बुद्धत्व मिला था। इसे बुद्ध अपनी भाषा में अनापानसती योग कहते हैं। बुद्ध ने अपने शिष्यों को श्वास के प्रति सजग रहने को कहा है। बुद्ध ने मात्र इसी विधि का समस्त एशिया में प्रचार किया। करोड़ों लोगों को बताया। इसका बुद्ध ने इतना प्रचार किया कि हिन्दू लोग समझ बैठे कि यह विधि बुद्ध की है। बस हिन्दू लोग इस विधि से घृणा करने लगे। यह भारतीय

लोगों के लिए दुर्भाग्य रहा। विधि भी हिन्दू, बौद्ध, सिख, ईसाई होती है। यह विधि पूरी मानवता के लिए अत्यन्त लाभकारी है। शिव इसे ही देवी से कहते हैं। इसे ठीक से समझ लो। यही श्रेयस्कर है। इसी से जीवन का कल्याण सम्भव है जीवन सहज, सरल हो जायेगा। तुम उपलब्ध हो जाओगे उसको जो सब का रहस्य है। बस सूक्ष्मता से श्वास-प्रश्वास के साथ यात्रा करना है। यह यात्रा होशपूर्वक होगी। अचानक वह क्षण आ जाता है जहाँ सांस जाती है न आती है बिल्कुल ठहर गयी है बस वही ठहराव श्रेयस्कर है। वही ठहराव यात्रा का अन्तिम बिन्दु है। अब कुछ करना ही नहीं है। इसी से बुद्ध कहते हैं जब तक योग-जाप, तप किया, कुछ नहीं मिला। जब सब छोड़ दिया, वह मिल गया। मिला तो पहले से ही था। उसे पहचान गया। पहचाना भी कैसे कहें। ये शब्द मात्र इंगित करते हैं।

श्वास के मोड़ पर रुक जाओ

जब श्वास नीचे से ऊपर की ओर मुड़ता है और जब श्वास ऊपर से नीचे की ओर घूमता है इन दो मोड़ों पर उपलब्ध हो जाओ।

शिव द्वारा प्रदत्त दूसरी विधि पहली विधि से मिलती जुलती है। यदि आप किसी भी विधि से रुक जाते, देख लेते हैं। तब और विधि अपनाने की जरूरत नहीं, सारे आयाम अपने आप खुल जाते हैं। आप जरा शारीरिक संरचना समझ लें। मनुष्य का शरीर सात करोड़ कोशिकाओं से निर्मित है। सभी कोशिकाएं जीवंत हैं। ऊर्जा से भरी हैं। सबका अपना अलग अस्तित्व है। ऐसा समझें सात करोड़ जनता है। शरीर रूपी एक महानगर है। सभी व्यवस्था ठीक-ठाक है। कहीं कोई गड़बड़ी नहीं है। समयानुसार सभी अपना-अपना कार्य करते हैं। वैज्ञानिक इस संरचना को बहुत जटिल परन्तु सुदृढ़ कहते हैं। वे कहते हैं कि शरीर के बराबर कोई यंत्र बनाया जाये तो कम-से-कम चार वर्ग मील से 6 वर्ग मील जगह लेगा। वह इतना शोर करेगा कि सौ वर्ग मील से डेढ़ सौ वर्ग मील का एरिया प्रदूषण युक्त होगा। अब आप सोचेंगे इतनी बड़ी व्यवस्था कौन चला रहा है। मानव इतराता है मैंने यह कर लिया, वह कर लिया। परन्तु वह अपने ही अन्दर एक सेल का क्रिया क्रम नहीं देख सकता। कितनी है आपकी कार्यक्षमता। अब तंत्र कहता है इस नगर को चलाने वाला नगरपति कौन है? कहाँ रहता है। क्या उससे साक्षात्कार सम्भव है? बिल्कुल है इसी क्षण है।

दूसरी विधि मोड़ पर जोर दे रही है पहली विधि अन्तराल पर। आप श्वास अन्दर लेते तथा अन्दर का श्वास बाहर करते तब एक वर्तुल बन जाता है। जैसे

भीतर जाने वाला श्वास आधा वर्तुल और बाहर आने वाला, आधा वर्तुल, यही हुआ पूरा वर्तुल श्वास-प्रश्वास मिलकर। शिव कहते हैं मोड़ों को प्राप्त कर लो और कुछ करना नहीं है बस आत्मा उपलब्ध हो जायेगी। जब श्वास अन्दर जा रहा है तब कहीं मोड़ है। बस उसी मोड़ पर रुक जाना है। जैसे आगे गाड़ी चलाते समय गेयर का प्रयोग करते हैं। सब गेयरों के साथ न्यूट्रल गेयर होता है। जब आप गेयर बदलते हैं तब उस न्यूट्रल गेयर से गुजरना पड़ता है। गाड़ी उसी गेयर के अनुसार गतिशील होती है परन्तु गाड़ी खड़ी करते समय न्यूट्रल गेयर में कर देते हैं। गाड़ी खड़ी हो जाती है। ठीक उसी तरह मोड़ ही न्यूट्रल गेयर है। उसी जगह ध्यान को ले जाना है। आप गाड़ी चालक से गेयर समझ सकते हैं। उसी तरह गुरु से इस मोड़ को साकार कर लें। जब श्वास नीचे से ऊपर की तरफ लौटती है और फिर जब श्वास ऊपर से नीचे की तरफ घूमती है इन दो मोड़ों पर उपलब्ध हों। श्वास के साथ अन्दर जायें मोड़ पर सजग रहें। श्वास के साथ अन्दर आयें मोड़ पर सजग रहें। उस घुमाव बिन्दु पर साक्षी की तरह, दृष्टा की तरह रहना है। ज्यों ही उस मोड़ पर रुकते हो क्षण भर के लिए फिर क्या? अब घटना घट जाती है। यदि श्वास ही जीवन है तो आप मृत हो गये। अगर श्वास ही शरीर तब आप अशरीर हो गये। अगर श्वास ही मन है तब आप अमन हो गये। अब श्वास ठहर गया। आप ठहर गये। सारा जगत् मानो ठहर गया। चूँकि नजर पड़ती वहीं है। अब सब ठहर जायेगा। सद्गुरु कबीर कहते हैं। इसे किसी से मत कहो। कहेगा तो कौन मानेगा। लोक वेद भी नहीं मानता। अतएव अन्तर्मुखी हो मौन हो जाओ। कहो अहो भाग्य गुरुदेव! आपकी अनुकम्पा हमारे साथ। बस धन्यवाद, समर्पण ही काफी है।

केन्द्र पर रुको

जब कभी अन्तः श्वास और बहिःश्वास एक-दूसरे में विलय होते हैं, उस क्षण में ऊर्जा रहित, ऊर्जा-पूरित केन्द्र को स्पर्श करो।

इस तंत्र में शिव केन्द्र को स्पर्श करने को कहते हैं। केन्द्र क्या है? केन्द्र के यहाँ ही सारा रहस्य छिपा है। हम श्वास पूर्ण कभी नहीं लेते। बच्चे को सोते हुए गौर से देखें। उसका पेट पूरा नीचे चलता है। यानी वह पेट से, नाभि से श्वास लेता है। श्वास तो नाक से ही लेता है। नाभि तक जाता है। जो व्यक्ति जितना ही गहरा श्वास लेता है वह उतना ही ऊर्जा से भरा जीवंत होता है। जीवंत व्यक्ति का काम, क्रोध, अहंकार, लोभ भी सुन्दर हो जाता है। आप जरा अपना ध्यान कृष्ण की तरफ ले जायें। भीष्म सेना का नाश करते जा रहे हैं। पाण्डव

पक्ष में हाहाकार मच गया है। सभी भागने लगे। अर्जुन भयातुर हो कहते हैं हे केशव! ये पितामह भीष्म नहीं हैं। साक्षात् काल सामने आ गया है इससे अब युद्ध सम्भव नहीं है। केशव जबकि वचन दे चुके हैं महाभारत में, मैं अस्त्र-शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। फिर भी केशव चक्र उठा लेते हैं। दौड़ जाते हैं पितामह की तरफ कहते हैं रुक जा पितामह। आप भी हद कर दिए। यह कृष्ण का क्रोध है। अत्यन्त बच्चे की तरह पावन पवित्रता, जिसे देख भीष्म जैसी प्रतिभा, देखते ही रह जाती है। वह युद्ध भूल जाते हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य को देखते हुए कहते हैं हाँ-हाँ केशव आ-जा। हम तुम्हें आज गले से लगा लें। तुम्हारा वास्तविक रूप आज निखर आया है। कृष्ण हँसते हुए रुक जाते हैं। यह है केशव का क्रोध। आप किसी नन्हे से बच्चे की तरफ ध्यान ले जाएं। माँ दूध देती है, तुतला बोलता हुआ दूध गिरा देता है। क्रोध करता है। उसका चेहरा सुन्दर खिल जाता है। वहीं क्रोध देखें साधारण आदमी का, वह क्रोध से हाँफने लगता है। उसका चेहरा बदसूरत नजर आने लगता है। बलात्कारी का चेहरा खूँखार भेड़िये की तरह नजर आने लगता है। आखिर ऐसा क्यों? यही रहस्य है केन्द्र का।

साधक को गहरा से गहरा श्वास लेना चाहिये। यदि श्वास मूलाधार चक्र तक चला जाये तो अति उत्तम। तब तो अचानक ऊर्जा का विस्फोट होता है। कामशक्ति भी वहीं है। वह कामशक्ति भी प्रबल हो ऊर्ध्वगामी हो जाती है। जब श्वास अन्दर जाता है तब ऊर्जा से परिपूर्ण होता है। चूँकि शरीर में सात करोड़ नागरिक हैं, जिनके सम्यक पोषण के लिए अनवरत ऊर्जा की आपूर्ति की आवश्यकता है अतएव जो श्वास जाता है ऊर्जा से परिपूर्ण होकर जाता है। जो बाहर निकलता वह ऊर्जा रहित होता है। यानी जो जाता है आक्सीजन के साथ पूर्ण ऊर्जा एवं जो बाहर आता है वह कार्बनडाइऑक्साइड के साथ विजातीय गैस यानी शरीर विज्ञान के लिए ऊर्जा रहित होता है। अतएव वह केन्द्र जहाँ ऊर्जा पूरित है तथा वहीं से ऊर्जा रहित बाहर भी आता हो। उसी केन्द्र बिन्दु को अनुभव से पकड़ लें। फिर हो गया सब कुछ प्राप्त, हो गया आत्मदर्शन। साधारण साधक पहाड़ पर भागते हैं आखिर क्यों? इसमें भी बहुत रहस्य है। हमारे साथ भी कुछ साधक 3.6.95 को हिमालय की चढ़ाई पर चढ़ रहे थे। दिन भर में लगभग चालीस कि. मी. यात्रा तय किया। हँसते-हँसते। हालाँकि शेष पाँच-छह व्यक्ति तो तीन दिन में थकान से पूर्ण यात्रा किये। मात्र दो जो हमारे साथ चल सके, याद दिलाते रहे कि देखो गहरा श्वास अपने आप हो रहा है। प्राणायाम अपने आप हो रहा है। मात्र उसे देखते रहो। खेचरी में रहो। देखो अमृत जल भी तेज आ रहा है। बस उनकी यात्रा आनन्द बन गयी। जो चढ़ाई चढ़े उनकी अभिशाप। पहाड़ पर यात्रा करते अनजाने ही गहरा श्वास केन्द्र को शिव तंत्र

छू जाता है। जहाँ, स्पन्दन मालूम होता है खुश हो जाते हैं। अतएव सजग साधक सदैव गहरा श्वास ले एवं उसके साथ-साथ यात्रा करे। जब अन्तः श्वास बहिर्श्वास एक-दूसरे में विलय होते हैं, उस क्षण में ऊर्जा रहित, ऊर्जा पूरित केन्द्र को स्पर्श करो। बस यात्रा पूर्ण हो गयी।

श्वास का ठहरना

शिवोक्त एक-एक विधि पूरा वेद है। पूरा का पूरा बाईबिल, पूरा कुरान है। सभी विधियाँ अपने आप में अनमोल हैं। बेहद बेशकीमती हैं। अनमोल रत्न की तरह। इसमें नव विधियाँ श्वास पर हैं और भिन्न हैं। जगत् के किसी न किसी काम से जोड़कर ही विधि दी गयी हैं। अतएव हम श्वासगत नवविधि को तो जरूर देखेंगे सम्भव है अन्य एक-दो विधि भी देख लें। शिव कहते हैं जब श्वास पूरी तरह बाहर गया है और स्वतः ठहरा है और पूरी तरह भीतर आया है, ठहरा है, ऐसे जागतिक विराम में व्यक्ति का क्षुद्र अहंकार विसर्जित हो जाता है। केवल अशुद्ध के लिए यह कठिन है।

शिव अब श्वास के ठहराव पर जोर दे रहे हैं। यह ठहराव शुद्ध के लिए सरल है। अशुद्ध के लिए कठिन है। अशुद्ध जिनका मन काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि वासना से भरा है। उसका श्वास कैसे ठहरेगा। श्वास के ठहरते ही मन ठहर जाता है। काम, लोभ, क्रोध या किसी भी वृत्ति के आक्रमण पर श्वास तेज हो जाती है। तब मन की गति तेज हो जाती है। शुद्ध रहने पर श्वास सामान्य रहता है अब वह केन्द्र तक जायेगा। ठहर जायेगा। मन ठहर जायेगा। इसी से शिव जहाँ जाते ठहराव पैदा कर देते हैं। शिव को ठीक-ठीक समझने वाले बहुत कम हुए। सब शिव के नाम पर दुकानें चलाने वाले हुए। शिव जब शादी करने के लिए जाते हैं, नाचते, गाते। उनकी शिष्य-मण्डली भी उसी रस में मस्त है। सभी खेचरी मुद्रा के द्वारा मद पी लिए थे। सभी अपने में मस्त थे। वे मस्ती में, उत्सव में थे। कोई नंगे हैं, तो कोई ताण्डव की मुद्रा में, तो कोई खपड़ लिए हैं। उन्हें अपने शरीर का भान नहीं है। ऐसे व्यक्ति को कौन स्वीकार करेगा। तथाकथित सभ्य समाज कैसे बर्दाश्त करेगा। देवी के माँ-बाप शादी से इनकार कर दिए। गाँव के रास्ते के सारे लोग देखकर भाग चले। ये पागलों की जमात है। भाग चलें। भागना ही क्षणभर के लिए ठहराव है। ठहराव-सा आ गया सब लोगों में। यह भी शिव का तंत्र था। अनमोल जिसे कोई समझ नहीं पाया।

इस विधि को भारतीय लोग स्वीकार नहीं कर सके। इसे जापान के झेन फकीर ने देखा करीब से, प्रयोग किया। पाये बहुत ही अनमोल है। वे अपने शिष्यों के साथ बैठ जाते। गर्पे करते। एकाएक प्रहार कर उठते। एकाएक मार उठते। एकदम ठहराव-सा आ जाता। शिष्य निश्चिन्त है। उसे क्या उम्मीद गुरु मारेगा परन्तु कभी भी खाते वक्त, सोते वक्त प्रहार कर देते। बस वहीं ठहराव आ जाता रुक जाते। श्वास रुक जाता। मन ठहर जाता। क्षुद्र अहंकार अपने आप विसर्जित हो जाता। आत्मा को उपलब्ध हो जाते। यह जीवन का रहस्य है। ये विधियाँ देखने में, सुनने में छोटी हैं परन्तु आणविक हैं। वैज्ञानिक सदैव छोटे नगर से आते हैं अपनी छोटी प्रयोगशाला में अणु पर परमाणु पर काम करते। अकेले लगे रहते हैं। परन्तु नेता हर समय भीड़ में रहता है। बड़े दफ्तर में रहता है। लेकिन आप देखें हिटलर, माओ, खुश्चेव को जो भीड़ में काम किये तथा आइन्सटीन गैलिलियो, न्यूटन व डार्विन जो अपनी-अपनी छोटी-छोटी प्रयोगशाला में काम किये। किस की कितनी मानवता को देन है। आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

भृकुटी के बीच अवधान

भृकुटियों के बीच अवधान को स्थिर कर विचार को मन के सामने करो। फिर सहस्त्रार तक रूप को श्वास-तत्व से, प्राण से भरने दो। वहाँ वह प्रकाश की तरह बरसेगा।

यह तंत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भृकुटियों के बीच अवधान को स्थिर करना है। वही मुख्य ग्रन्थि है। अब वैज्ञानिक कहने लगे हैं, वही चुम्बकत्व शक्ति है। जहाँ साधक अवधान करता है। वह भी अपनी तरफ खींचता है। वैज्ञानिक इसको पाइनियल ग्रन्थि नाम दिए हैं। दार्शनिक इसे त्रिनेत्र कहते हैं। यह ग्रन्थि युगों से बेकार पड़ी है। उधर ध्यान ही नहीं दिया। अतएव निष्क्रिय पड़ी है। साधक को वहीं अवधान करना है फिर तो सक्रिय स्वतः हो जाती है। जब साधक यहाँ अवधान उपस्थित करता है तब त्रिनेत्र खुल जाता है। यहाँ से साधक कुछ भी कल्पना करता है। वह सत्य में परिणत होने लगता है। सम्मोहन की कला भी यहीं से की जाती। समाधि भी यहीं से होती है। शिव यहीं से युगों की समाधि ले लेते हैं। यही विधि मिस्त्र में, यूनान में प्रचलित है। भारतीय लोग अब इसे वहाँ से आयात कर रहे हैं। यूनान का पैथागोरस इसी से बहुत बड़ा रहस्यवादी बन गया। जो वहाँ के श्रेष्ठतम लोगों में से एक था।

साधक सर्वप्रथम पद्मासन, सिद्धासन या जैसे आराम से बैठना चाहें, बैठ जायें। दोनों आँखों को बन्द कर दें। अब दोनों आँखों से जो ऊर्जा बाहर बह रही थी उसे बन्द कर भृकुटियों के मध्य में लगा दें। जो जन्मों से निष्क्रिय है। एकाएक सक्रिय हो उठेगा। अवधान ही इसका आहार है। अब अवधान दोनों आँखों के मध्य घूमेगा। ज्यों ही मध्य बिन्दु पर पहुँचेगा, बस स्थिर हो जायेगा। वही वास्तविक बिन्दु है। अब भृकुटियों के बीच अवधान को स्थिर कर विचार को मन के सामने करें। अगर अवधान प्राप्त हो जाये तो पहली बार एक-एक अद्भुत रहस्य सामने आता है। अब विचार चल भी रहा है तो सिनेमा की तरह साक्षी बन देख रहे हैं। पहले पहल साक्षी का भाव उत्पन्न हो रहा है। यहाँ साक्षीत्व को उपलब्ध हो जाते हैं। अब अवधान को स्थिर कर विचार को, मन के सामने करना है फिर सहस्रसार तक रूप को श्वास तत्व से, प्राण से भरने देना है। तब वहाँ वह प्रकाश की तरह बरसता है। श्वास तत्व यहाँ माध्यम है। प्राण तत्व का। यह विचारणीय विषय है। जो श्वास हम लेते हैं, वैज्ञानिक उसे ऑक्सीजन हाइड्रोजन इत्यादि कहते हैं परन्तु अब शिव कहते हैं श्वास तो माध्यम है। हम प्राण तत्व लेते हैं।

अब प्रश्न उठता है प्राणतत्व है क्या? वैज्ञानिक प्राण तत्व जैसी कोई चीज़ मानते नहीं। शिव आज से दस हजार वर्ष पूर्व की प्राणतत्व की बात कहते हैं। अभी तक वैज्ञानिक इस प्राणतत्व को पकड़ नहीं पाये। आप बाह्य दृष्टिकोण से देखें एवं अनुभव करें। जब आप किसी प्राणवान महात्मा के पास जायेंगे तो आप अनायास ही प्रफुल्लित हो जायेंगे, फूल की तरह खिल जायेंगे या उसके साधना कक्ष में जाकर बैठते हैं तो आप को शान्ति महसूस होती है। परन्तु यह अनुभव तब होता है जब आप में थोड़ी-सी भी सम्भावना है। पात्रता है अन्यथा कुपात्र को यह उद्वेलित कर देता है। बेचैनी सी पैदा कर देता है। भागने के लिए। यही कारण है कि सिद्ध-महात्मा के आसन पर कोई नहीं बैठता। उसका कपड़ा कोई नहीं पहनता। साधारण व्यक्ति के लिए यह उलटा ही परिणाम पैदा करता है विकर्षण पैदा कर देता है। पागलपन पैदा कर देता है जिससे वह वहाँ से भाग खड़ा होता है। वहीं सम्भावित साधक के लिए उछाल पैदा कर देता है। सीधे ध्यान धारणा में ला खड़ा कर देता है। यही कारण है कि गुरु के साथ भीड़ इकट्ठी हो जाती है परन्तु सद्गुरु के साथ रहने की हिम्मत किसी-किसी में होती है। साधारण व्यक्ति हर समय हर क्षण बेचैन रहेगा। उसे भागने के सिवाय दूसरा रास्ता ही नहीं। भीड़ तो व्यासों के साथ होती है। नाच-मण्डली के साथ होती है। सद्गुरु के साथ साधक, संस्कार युक्त त्यागी, वीतरागी ही टिक सकता है।

हाँ अभी के जर्मन मनोवैज्ञानिक विलियम रेख ने प्राण तत्व पर शोध किया है। उन्होंने इसे आरगोन एनर्जी (जैविक ऊर्जा) कहा है। वह भी कहता है आप श्वास लेते हैं तो हवा तो आधार मात्र है परन्तु उसके भीतर जो जीवन शक्ति है, आरगोन है। वह भौतिक नहीं है। उसके भीतर कुछ अलौकिक तत्व चल रहा है। उसी को शिव प्राण तत्व कहते हैं।

समाधि कुछ और नहीं बस इसी प्राण तत्व का खेल है जिस प्राणतत्व को समाधि वाले भी नहीं बता पाते। यह तो अभ्यास की कला है। आप कैसे प्राणतत्व को ग्रहण करें। जहाँ हवा प्रवेश नहीं करती, वहाँ भी प्राणतत्व प्रवेश करता है। आपने कितने ही साधु, महात्माओं को देखा होगा, सप्ताहों की, महीनों की समाधि लेते। जब समाधि से निकलते हैं तो पीला चेहरा हो जाता है। जैसे आप मेढ़क को देख कहोगे बरसात खत्म होते ही जमीन की गहरी-से-गहरी पर्त में चला जाता है। वह भी उसकी एक तरह समाधि ही है। पूरा 6 माह से नव माह तक अन्दर ही रहता है। बरसात के आगमन पर स्वतः पीला-पीला बाहर निकलता है। वह कहीं से न कहीं से जमीन के अन्दर ही प्राणतत्व ले रहा है। हमने सुना है मिस्र में एक व्यक्ति 1880 में जमीन के अन्दर 40 वर्षों तक समाधि लिया। जो व्यक्ति उसे जमीन में गाड़ा था वह उसे निकालने के लिए नहीं रहा। उसके लड़के ही रहे। सभी सोचने लगे वह मर गया होगा। सड़ गया होगा। परन्तु कौतुहलवश 1920 में निश्चित समय पर खोदा गया। वह व्यक्ति बिल्कुल पीला जीवित था। बाहर आया। इसके बाद भी अपनी दस वर्ष की आयु जिया। वैज्ञानिकों, डॉक्टरों के लिए कौतुहल हो गया। सभी पूछे हवा तो वहाँ गयी नहीं कैसे जिन्दा रहा। वह भी कहा हमें पता नहीं परन्तु प्राणतत्व हम को मिल रहा था। भृकुटी के मध्य में श्वास के सार तत्व (प्राण) को देख सकते हैं। उस प्राण को देखना ही क्रान्तिकारी घटना है। क्रान्तिकारी परिवर्तन है। पूर्ण परिवर्तन है।

शिव आगे कहते हैं “सहस्रसार तक रूप को प्राण से भर जाने दो।” जब साधक प्राण देख लेता है। तब उसकी कल्पना भी सत्य होती है। जो कल्पना करता है वही सत्य में बदल जाता है। अब भृकुटियों के बीच स्थिर हो प्राण का अनुभव करते हुए रूप को भरने दें। अब आप कल्पना करें प्राण पूरे मस्तिष्क में भर रहा है। सहस्रसार में भर रहा है। बस भर जाता है। अब साधक देखता है सहस्रसार से प्रकाश की वर्षा हो रही है। यह भी अनहोनी घटना है। अब साधक वह नहीं होता जो कुछ क्षण पहले यात्रा पर निकला था। वह बिल्कुल दूसरा होता है। नया जन्म लेकर। नया प्राण लेकर खिले हुए कमल की तरह वापस आता है। इसी से शुद्धता पर जोर दिया गया है। यदि मन शुद्ध नहीं है

तब वह दुर्वासा की तरह, परशुराम की तरह श्राप की वर्षा करा देगा। शुद्ध है तब बुद्ध की तरह, कबीर की तरह बुद्धत्व से भर देगा। इसी से शिव कहते हैं यह संसार परमात्मा की माया के सिवाय कुछ भी नहीं। सद्गुरु कबीर भी कहते हैं। “दस अवतार ईश्वरी माया।” अवतार तक ईश्वर की माया ही है। वह तो सदा है, सनातन है। उसका स्वप्न ही सत्य में बदल जाता है। यह साधना अत्यन्त ही उच्चकोटि की सर्वमंगलमयी है।

दो श्वासों के मध्य

“सांसारिक कामों में लगे हुए, अवधान को दो श्वासों के बीच टिकाओ। इस अभ्यास से थोड़े दिनों में ही नया जन्म होगा।”

इस सूत्र में शंकर पार्वती से कहते हैं कि सांसारिक कामों में लगे रहना है। इन कामों को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं कामों में ही ध्यान को उपलब्ध हो जाना है। यह कुछ विचित्र बात लग रही है चूँकि हमारे तथाकथित धर्मगुरु संसार छोड़ने को कहते हैं। अन्यत्र जाने को कहते हैं। परन्तु शंकर ऐसा करने से मना करते हैं एवं कहते हैं उन्हीं कामों में ही उपलब्धता सम्भव है। श्वास आ रहा है, जा रहा है, जब श्वास भीतर आता है इसके पहले कि वह लौट जाए, जहाँ एक अन्तराल हो बस वहीं सांसारिक कार्य करते हुए अवधान को टिका देना है। जब अवधान टिक गया तब सांसारिक कार्य व्यवधान उत्पन्न नहीं करता। बल्कि उसी स्थिति में ही इसे साधना है। साधक को मात्र सजग रहना है। वह चल रहा है, खा रहा है, पढ़ रहा है, सो रहा है या सफाई कर रहा है, सजग है दो श्वासों के अन्तराल के प्रति। अब अस्तित्व के ही दो तल हो जायेंगे। एक करने का तल दूसरा होने का तल। एक परिधि होगा तो दूसरा केन्द्र। परिधि पर सांसारिक काम करना है एवं केन्द्र के प्रति सजग रहना है। तब सारा सांसारिक कार्य नाटक होगा, लीला होगा, जीवन का दृश्य ही बदला होगा। अब केन्द्र पर अवधान हो गया, परिधि पर कभी राम का तो कभी कृष्ण या मुहम्मद की लीला हो सकती है। इसी से कृष्ण के चरित्र को लीला कहते हैं चूँकि कृष्ण सदा केन्द्र पर स्थिर थे एवं परिधि पर उनका खेल जारी था। वह खेल ही लीला हो गया। जब व्यक्ति केन्द्र के प्रति सजग रहता है तब परिधि पर अपने आप लीला प्रतीत होती है। अब उसे चिन्ता नहीं है कि सीता का अपहरण हुआ या लक्ष्मण को बाण लगा। वह निश्चित है। बाहर की उथल-पुथल रुक गयी। बाहर का सारा व्यतिक्रमण रुक गया। केन्द्र पर स्थिर हो गया। थीर हो गया। इसको लगातार करना है। ज्यों ही अवधान श्वास को श्वासों के बीच टिकाता है। बस कुछ ही दिनों में नया जन्म होता है। अब साधक वह नहीं होता

है जो कुछ दिन पहले था। अब सब कुछ नियति के अनुसार होता है। वह मात्र प्रतीक हो जाता है। माध्यम हो जाता है।

स्वयं का मालिक

ललाट के मध्य में सूक्ष्म श्वास (प्राण) को टिकाओ। जब वह सोने के क्षण में हृदय में पहुँच जायेगा तब स्वप्न और स्वयं पर अधिकार हो जायेगा।

भगवान शिव का यह सूत्र अत्यन्त क्रान्तिकारी है। यह गहराई की तरफ बढ़ता जा रहा है। यह सूत्र त्रिनेत्र की तरफ इंगित कर रहा है। ललाट के मध्य में श्वास को टिकाने के लिए कहते हैं। साथ ही सोने के क्षण में हृदय तक पहुँच जायेगा। यानी यह विधि सोते वक्त ही करना श्रेयस्कर है चूँकि शिव प्रत्येक विधि अलग-अलग समय के लिए कह रहे हैं। इस विधि को सोते समय ही प्रयोग किया जाये। जब नींद आ रही हो, चेतना लुप्त हो रही हो। तब साधक को श्वास के प्रति सजग हो जाना है। श्वास एक तरह से वाहन का काम करता है प्राण का। श्वास प्राण को हृदय तक ले जाता है एवं खाली लौट आता है। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म है। जब वह हृदय तक जाता है तब अनुभव करना है। प्राण हृदय तक आकर ही शरीर में फैल जाता है इसे भी सजग होकर अनुभव करना है। जब साधक हृदय तक प्राण को आते देख लेता है एवं नींद को भी देख रहा होता है तब सारा खेल ही सपना हो जाता है। यह सपना त्रिनेत्र के चलते होता है। गहरी नींद में ये दोनों नेत्र त्रिनेत्र में ही विश्राम करते हैं। आप कभी भी किसी बच्चे की सोते में, उसकी पलकों को उठाकर देखें। पुतलियाँ बिल्कुल ऊपर नज़र आयेंगी। उसी त्रिनेत्र में रहने के कारण सपने सत्य मालूम होते हैं।

गहरी निद्रा मृत्यु भी है। यह रोज़-रोज़ की मृत्यु है। आदमी जितनी भी गहरी निद्रा में जाता है वह उतना ही नयी शक्ति से भरकर वापस आता है। जिसे नींद ही नहीं आती वह पागल हो जाता या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। मृत्यु अत्यन्त गहरी निद्रा है। जब व्यक्ति 80 साल या 100 साल तक काम करते-करते थक जाता है शरीर अब ऊर्जा ग्रहण करने की स्थिति में नहीं होता तो मृत्यु को उपलब्ध होता है।

अब नया जन्म लेता है। नयी क्षमता, नयी उमंग, काम करने की नयी शक्ति होती है। जब श्वास लेते हैं तो प्राण अन्दर जाता है। जिसे हृदय ग्रहण कर लेता है। शरीर थक जाने पर वह प्राण को ग्रहण करने की स्थिति में नहीं होता। अतएव साधक मृत्यु से पहले ही मृत्यु का ठीक-ठाक समय जान सकता है चूँकि प्राण श्वास के मध्य से अन्दर न जाकर अब बाहर आने लगता है। नदी की

धारा अब उल्टी बहने लगती है। जो प्राण श्वास के मध्य से अन्दर जा रहा था। अब बाहर आने लगा। अब साधक समझ जाता है कि हमारी मृत्यु कब होगी। चूँकि अब स्वप्न का मालिक है। मृत्यु का मालिक है। यानी सभी कुछ साक्षी के सदृश देख रहा होता है। बुद्ध इस, जन्म के पूर्व ही कह चुके थे। मेरा जन्म कहाँ होगा। माता-पिता कैसे होंगे। माँ स्वप्न कैसे देखेगी। मेरा जन्म ताल वृक्ष के नीचे होगा। जन्म के बाद सात कदम चलूँगा। जन्म के बाद माँ की मृत्यु हो जायेगी। इत्यादि। सारी बातें सत्य हुईं। जब साधक अपने स्वप्न का मालिक हो जाता है तब दूसरे के स्वप्न का भी मालिक हो जाता है। जन्म-मृत्यु को साक्षी बनकर देखता है या जन्म अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण करता है। जहाँ से उसे उचित सुविधा मिले एवं वह बुद्धत्व को ग्रहण कर ले। व्यक्ति न स्वप्न को पैदा कर सकता है न ही इच्छानुसार स्वप्न देख ही सकता है लेकिन जब साधक नींद में उतरते समय यह अनुभव कर रहा है कि हृदय प्राण से भर रहा है तब उसकी मिलकियत हो जाती है स्वप्न पर। इसी से सूत्र में कहा गया है “नींद और मृत्यु पर अधिकार हो जायेगा।” अब मालूम हो गया मृत्यु एक लम्बी नींद है। अब वह सहयोगी होगी, सुन्दर होगी। इसी से लगभग जैन मुनियों के सम्बन्ध में भी मिलता है कि जन्म कैसे लेंगे, कब लेंगे। राम, कृष्ण के सम्बन्ध में भी मिलता है। कबीर के सम्बन्ध में भी ज्ञात था। यह शिव की इसी क्रिया की देन है।

ज्ञाता ही ज्ञेय है

“आत्यंतिक भक्तिपूर्वक श्वास के दो सन्धि स्थलों पर केन्द्रित होकर ज्ञाता को जान लो।”

इस सूत्र में शिव भक्ति की बात कह रहे हैं। इसके पूर्व के सूत्रों में वैज्ञानिक बातों की थीं। यह करो, ऐसा हो जायेगा। अब कहते हैं आत्यंतिक भक्तिपूर्वक श्वास के दो सन्धि स्थलों पर केन्द्रित होकर ज्ञाता को जान लो। साधारण-जन के लिए यह बात सोचनीय है क्योंकि भक्ति तो राम के लिए हो सकती है। कृष्ण के लिए हो सकती है। बुद्ध के लिए या मुहम्मद के लिए हो सकती है। स्व के लिए भक्ति कैसे हो सकती है। परन्तु तंत्र इस शरीर को ही मन्दिर मानता है। तंत्र कहता है जो मन्दिर आदमी बनाता है। वह पत्थर, मिट्टी का है। जो मन्दिर परमात्मा बनाता है वह जीता जागता है। उस मन्दिर में परमात्मा स्वयं बैठा रहता है। जब आप चलते हैं, परमात्मा चल रहा होता है। जब आप खाते हैं, सोते हैं, स्नान करते हैं। परमात्मा ही कर रहा होता है। जब आप श्वास ले रहे हैं, परमात्मा ही ले रहा होता है। इसी से भारतीय महात्मा सन्त कहते हैं पहले अपने शरीर से प्रेम करो। ऐसा प्रेम करो मानों वह प्रेमिका हो। यह शरीर स्वयं अपने

आप में चमत्कार है। चूँकि परमात्मा का जो घर ठहरा। निराशावादी में अपराध भाव होता है। वे इसे पापों का भण्डार, गन्दगी का ढेर मानते हैं। तंत्र इसे चमत्कार मानता है। इसे जरा ध्यान से समझना होगा। भीतर जाने वाले श्वास को दो सन्धि स्थलों पर केन्द्रित हो जाना है। बस ज्ञाता को जान लेना है ज्ञाता ही ज्ञेय है। उसे जानने के बाद कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता यह अत्यन्त भक्तिपूर्वक ही सम्भव है। श्वास हृदय तक जब जाता है तब हृदय प्राण को पी जाता है। वही प्राण पूरे शरीर में फैल जाता है। हृदय से ही प्रेम उत्पन्न होता है। श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा ही भक्ति का रूप ग्रहण करती है। अतएव हृदय की अहम् भूमिका है। यहाँ मस्तिष्क को कुछ विश्राम के लिए छोड़ना होगा। अन्यथा वह श्रद्धा की जगह सन्देह पैदा कर सकता है। अतएव भक्ति की अहम् भूमिका होनी चाहिये तब ज्ञाता को जाना जा सकता है।

भारतीय सोच में एवं पश्चिमी सोच में यही बुनियादी फर्क है। हालाँकि अनुभूति एक ही है। अपने-अपने ढंग से पहुँचने की बातें कहते हैं। चूँकि दोनों के साथ दो तरह के व्यक्ति थे अतएव दो तरह से बात को कहना पड़ा। भारतीय बुद्ध, महावीर, कृष्ण, राम या बुद्ध के सारे के सारे तीर्थंकर सामन्तों के घर से आये हैं। राज परिवार से आये हैं। धन-सम्पत्ति से ऊब कर आये हैं। चूँकि पूर्वकाल में पूरब समृद्ध था। अतएव ये स्वर्ग से समझौते को तैयार नहीं हैं। भक्ति करो स्वर्ग को प्राप्त हो जाओगे। ये निर्वाण से, मुक्ति से कम पर बात नहीं करना चाहते। ये स्वर्ग का सुख भोग रहे थे। धन, पद, प्रतिष्ठा, काम से ऊब गये थे। अब ये वस्तुएँ इन्हें अच्छी नहीं लग रही थीं। उनके साथ भी इसी तरह के व्यक्ति थे। अतएव ये कहते हैं-तुम भक्ति करो, ध्यान करो एवं निर्वाण को उपलब्ध हो जाओ अन्यथा तुम्हें पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहना होगा। अब हृद हो गयी, बार-बार वही धन-सम्पत्ति, पति-पत्नी, राजा-रानी। कितने बार यह काम चलेगा। ये सभी स्वर्ग से ऊब चुके हैं। ये शिक्षित हैं, सभ्य हैं, परिष्कृत हैं। इसी तरह की जमात भी इनके साथ है। बुद्ध से ज्यादा परिष्कृत व्यक्ति खोजना असम्भव है। उसमें कुछ जोड़ा नहीं जा सकता। कृष्ण में कुछ भी जोड़ने की सम्भावना नहीं है। यदि पुनः वे आते तो उससे आगे कुछ भी नहीं जोड़ सकते। सभी अत्यन्त शिक्षित, साशय, परिष्कृत हैं। धनी हैं, राज-परिवार के ही नहीं राजा हैं। अब इन्हें स्वर्ग का सुख कैसे अच्छा लगेगा। अप्सरायें कैसे इन्हें मोहित करेंगी। इन्द्र कैसे इन्हें लोभ में डालेगा? इनसे परिष्कृत व्यक्ति की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इसी से ये कहते हैं योग युक्त होकर मुक्ति को प्राप्त हो जाओ अन्यथा पूर्वजन्म के चक्र में पड़े रहोगे। पश्चिम का मुहम्मद साहब

हो या ईसा हो, सभी पैगम्बर सभी संत गरीब, दरिद्र परिवार से आते हैं। सभी अशिक्षित हैं। सभी का जीवन कष्टपूर्ण है। उनके इर्द-गिर्द खड़े लोग भी दीन-हीन हैं। अत्यन्त गरीबी में हैं। कष्ट में हैं। अब आगे ये कष्ट नहीं बर्दाश्त कर सकते हैं। अब उन्हें सुख चाहिये। स्वर्ग चाहिये। इसी से ईसा कहते हैं-प्रभु का स्वर्ग नज़दीक ही है। तुम सभी इसी जीवन में स्वर्ग को उपलब्ध करोगे। दूसरे जन्म की अब आवश्यकता ही नहीं। मेरे ही जीवन काल में उस प्रभु के राज्य को उपलब्ध हो जाओगे। ईसाईयत दो हजार वर्षों से इसी चक्कर में पड़ा है। आखिर प्रभु का राज्य कहाँ है। ईसा के सामने यह कहने के अलावा अब कोई रास्ता नहीं था। सभी दुःखी थे। गरीब थे। अब आगे दुःख देखने की स्थिति में नहीं थे। अतएव उन्हें कहा जल्दी करो। तुम इसी जीवन में स्वर्ग को प्राप्त कर लो। अब दूसरे जीवन की जरूरत ही नहीं। मुहम्मद साहब के साथ भी यही स्थिति है। अतएव वे भी दूसरे जीवन को नकार गये। इसी जीवन में बहिश्त मिलने को कहते हैं। बस कयामत का बिगुल बजने ही वाला है। निर्णय हो जायेगा तुम्हारे कर्मों का। तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। अब आगे जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। अब चक्का उल्टा ही चल गया पूरब ही दरिद्र हो गया। पश्चिम समृद्धशाली। शिव इस सूत्र के माध्यम से भक्तिपूर्वक श्वास के दो सन्धि-स्थलों पर केन्द्रित होकर ज्ञाता को ही जान लेने को कहते हैं। ज्यों ही ज्ञाता को जान लेते हो अब कुछ भी अज्ञेय नहीं रह जाता है। उसे जानते ही सभी कुछ जान लिया जाता है। अब जानने को कुछ शेष नहीं रहा जाता है। हाँ भक्ति की जरूरत है। वह भी थोड़ी-बहुत भक्ति से काम नहीं चलेगा। आत्यांतिक भक्ति की जरूरत है इस सूत्र में। यह सूत्र भक्ति प्रधान सूत्र है।

अपने शरीर को मृतवत् देखना

मृतवत् लेते रहो। क्रोध से क्षुब्ध होकर भी उसमें ठहरे रहो। या पुतलियों को घुमाये बिना घूरते रहो या कुछ चूसो और चूसना बन जाओ।

यह तंत्र उपरोक्त तंत्रों से बिल्कुल ही भिन्न है। अब इसमें श्वास की बात नहीं है। यह प्रयोग श्वास क्रिया से अलग हटकर है। अपने आप में अनूठा है। इस विधि का प्रयोग बहुत ही कम लोग किये हैं। यह विधि जन्म-जन्मों के प्रयास, लगन से सम्भव है या इस विधि के पूर्ण ज्ञाता गुरु यदि उपलब्ध हो जाएं तब कहीं संभव है परंतु इस विधि के ज्ञाता गुरु की संख्या नगण्य है। इस विधि में पहले मृतवत् लेते रहना है। बिल्कुल स्थिर, मुर्दा के सदृश। कुछ भी हलचल हो रही है, होने देना है। स्वयं मुर्दे की तरह पड़े रहना है। बाहर कुछ भी हो रहा है, होने देना है। साक्षी भाव रखना है। बाहर से कोई चिल्ला रहा है, चिल्लाने

दें। कुत्ता चाट रहा है, चाटने दें। मच्छर काट रहे हैं, काटने दें। शरीर पर दीमक लग रही हैं, लग जाने दें। कुछ भी नहीं करना है। ऐसा लगता है महर्षि वाल्मीकी, महर्षि रमण इसी विधि को अपनाये थे। मैंने अपने गुरुदेव से भी सुना है। एक दिन सत्संग में मुझ से कह रहे थे अपने सम्बन्ध में। बचपन में ही गाँव से बाहर लेटे थे खलिहान में। अकेले, रात्रि का समय था। आध्यात्म अनजाने मन में प्रवेश कर रहा था। रात्रि के सन्नाटे में मृतवत् लेते थे। मानो शरीर मृत्यु को उपलब्ध हो गया। उठने को जी चाहता है परन्तु उठ नहीं पाते हैं। देख रहे हैं स्वप्नवत्। एक चमचमाता हुआ तारा दूर से आ रहा है। सामने आकर देवरूप ग्रहण कर लेता है। वह व्यक्ति सामने साकार रूप में खड़ा है। उसके चारों तरफ प्रकाश की आभा है। वह प्रकाश चक्रनुमा घूम रहा था। उसके मध्य में वह दिव्य पुरुष मुस्कुरा रहा था। मेरे समीप आकर कहा उठो, अब कब तक लेटे रहोगे। तू मृत्यु को प्राप्त हो गया है। तुम्हारी श्वास गति रुक गयी है। अब आगे बचने की सम्भावना नहीं है। जरा शरीर से अलग अपने ही शरीर का ठीक से निरीक्षण तो कर लो। मैं उसके आदेशानुसार अनायास ही करता जा रहा था। पुनः वह दिव्य पुरुष पुआल के गल्ला पर बैठ जाता है। मुझे भी शरीर छोड़कर वहीं आने का आदेश देता है। मैं सूक्ष्म शरीर में उसके सामने बैठता हूँ। वह कहता है जो मैं हूँ, वही तुम हो। अब तुम अपने को ठीक से पहचान लो। कितने बार शरीर ग्रहण करोगे। अब रुक जाना है। यही जन्म काफी है। अब आगे यात्रा सम्भव नहीं। मुझे चुप बैठने को कहता है एवं सिर पर हाथ रखता है। बस अब क्या था। मैं देख रहा हूँ सृष्टि तो मुझ से ही निकल रही है। मुझ में ही प्रवेश कर रही है। मैं प्रकाश स्वरूप ही पूर्ण चेतन था। शरीर बेचारे की तरह बेसहारा पड़ा था। मैंने विभिन्न प्रकार के सृष्टि लोक को देखा जिसका वर्णन सम्भव नहीं था। मैं शरीर में प्रवेश करना नहीं चाहता था। चूँकि शरीर गल्ला के नीचे था। शरीर पर सर्प कुण्डली मारे बैठा था। मैं देख रहा था। संवैरा होने जा रहा था। पिता जी खोजते-खोजते वहाँ पहुँच गये मृतवत् शरीर देख, उस पर भी शरीर पर सर्प को कुण्डली मारे देख कांप उठे। एक दो बार चिल्लाये परन्तु उन्हें बर्दाश्त नहीं हुआ। उनका मैं इकलौता पुत्र था। मूर्च्छित होकर गिर गये। बेहोश हो गये। मैं देख रहा था। एकाएक शरीर से सर्प हटता है, मैं शरीर में प्रवेश करता हूँ। मैं उठ बैठा। अब अपने पर कैसे करूँ विश्वास या अविश्वास। पिताजी सामने ही बेहोश गिरे थे। मैंने उन्हें उठाया। उन्होंने हमें जीवित देख हृदय से लगा लिया। बोले तू खलिहान में क्यों आया? किसने कहा था? फिर बोले वह सर्प, कहाँ गया? जो तुम्हारी छाती पर कुण्डली मारे बैठा था। मैं अनजान सा बनकर बोला पिताजी

कहाँ सर्प? कहीं आपने गलत तो नहीं देख लिया। उनकी आँखों में आँसू थे। मुझे हृदय से लगाकर बोले-हाँ बेटा, जो देखा है वह गलत ही हो जाता है। हे भगवान! उसे गलत ही कर दो। मेरे बेटे को दीर्घायु बना दो। अब अपने कन्धे पर बैठा कर घर लाते हैं। मैं सोचता जा रहा हूँ। यह सत्य है या वह। कौन सा सत्य हो सकता है। जिसे ग्रहण करूँ। अन्त में उसको सत्य मान उसका ही अवलम्बन ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा। यह विधि ऐसी कि मान लिया जाये किसी खेत में बीज पड़ गया है परन्तु अनुकूल समय के अभाव में, वह अंकुरित नहीं हो सका। परन्तु वर्षा होते ही समय अनुकूल पाकर जन्म ले लेता है। वही स्थिति है साधक की। किसी भी जन्म में तंत्र का बीजारोपण हो गया। किसी अगले जन्म में वह बीज जन्म ले लेगा तो किसी जन्म में वह पेड़ बन सकता है किसी जन्म में फल ले लेगा। बुद्ध तो मानते हैं यह जन्म पिछले जन्म की शृंखला है। एक पड़ाव भर है। सूत्र में शिव कहते हैं

“मृतवत् लेते रहो। क्रोध से क्षुब्ध होकर उसमें ही ठहरे रहो।” जब भी साधारण व्यक्ति मरता है भयभीत हो जाता है, क्रोधित हो जाता है। शोक से भर उदास हो जाता है परन्तु यह सूत्र अत्यन्त महत्व का है क्योंकि कहता है कि यदि क्रोध से भरे हो तो उसी स्थिति में रहो। उदास, भय, चिन्ता, कुछ भी हो बस उसी स्थिति में ठहरो। रुक जाओ। चूँकि अब शरीर तो मृतवत् है या मर ही गया है।

उस स्थिति में वहीं ठहर जाना है। क्षण भर के ठहराव से स्थिति ही बदली रहती है। सभी कुछ ठहर जाता है। आगे सूत्र कहता है “या पुतलियों को घुमाये बिना घूरते रहो।” यह सूत्र अत्यन्त छोटा है परन्तु सम्पूर्ण जीवन बदलने के लिए काफी है। मैं पूजा ध्यान के बाद मात्र पाँच मिनट से दस मिनट तक बिना पुतलियाँ घुमाये घूरने को कहता हूँ। चाहे आप प्रातः सूर्य पर घूरते रहें या सन्ध्या सूर्य पर या रात्रि के चन्द्रमा पर या अपने गुरु की प्रतिमा पर। देखें कुछ ही काल के अभ्यास से मन शान्त हो जायेगा। यह आँख तीसरी आँख के भीतर हो जायेगी। अब चाहने पर ही घूमेगी। मन निर्विचार को प्राप्त हो जायेगा।

एक थे मेहर बाबा। अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सिद्ध सन्त थे। वे कुछ भी नहीं करते बस मृतवत् अपनी कोठरी में लेते रहते एवं छत की तरफ देखते रहते। वह तीन साल तक बस छत की तरफ घूरते रहे। एकाएक मौन हो गये। शान्त हो गये। वे पा गये वह सभी कुछ जो पाना शेष था। एक बार उनके भक्तगण उन्हें अमेरिका ले गये। अमेरिका में एक मनोवैज्ञानिक था जो मन की बात को पढ़ लेता था। उसे मेहरबाबा के नज़दीक लाया गया। उसने कलम लेकर उन्हें

देखा एवं आँख बन्द कर ध्यान किया। परन्तु कुछ पढ़ नहीं सका। जीवन में यह सम्भवतः प्रथम बार ऐसा हुआ। वह कहा यह गज़ब का आदमी है। जब मैं ध्यान के द्वारा पढ़ना चाहता हूँ तो पाता हूँ यहाँ कोई आदमी ही नहीं है। जब आँख खोलता हूँ तो यह यहीं बैठा मिलता है। जो व्यक्ति निर्विचार हो गया उसे आप कैसे पढ़ पायेंगे।

अन्तिम सूत्र है “या किसी चीज को चूसो और चूसना बन जाओ।” ये सारे सूत्र अत्यन्त छोटे-छोटे हैं परन्तु अत्यन्त मूल्यवान हैं। इनकी कीमत नहीं लगाई जा सकती। पूरे नारकीय जीवन को बदलने के लिए काफी हैं। बस इस में मात्र चूसना बन जाना है। बच्चा जब जन्म लेता है तो रोता है। इसका रोना क्या है? बच्चा माँ के पेट में जब होता है तब वह श्वास नहीं लेता वह माँ के द्वारा सीधे प्राण ही ग्रहण करता है। जैसे साधु लोग समाधि में करते हैं। इसी से माँ-बेटे में आत्मीय प्राण का सम्बन्ध होता है। यह प्रेम अत्यन्त पवित्र, पावन होता है। जब बच्चा माँ के गर्भ से बाहर आता है। पहली दफा नाल काटा जाता है। वह स्वयं हवा चूसना शुरू करता है। यह घटना उसके लिए अनहोनी है। एकाएक है। अतएव वह रोने लगता है। यदि बच्चा रोये नहीं तो मृत हो जायेगा। वह हवा चूसता है। वह चूसना ही बन जाता है। अतएव शिशु कोमल, अपने में मुस्कुराता हुआ, हँसता हुआ, पवित्रतम होता है। इसी से शिशु को ईश्वर का स्वरूप कहा गया है। माँ बच्चे को स्तनपान कराती है। यह बाहर आने पर हवा के बाद माँ के स्तन से दूसरा सम्बन्ध होता है। उसे माँ का, अपने होने का भान नहीं होता। मात्र चूसना होता है। जो बालक तीन से पाँच वर्ष तक माँ के सम्पर्क में रहेगा। माँ का स्तनपान करेगा। उसमें धूम्रपान, शराब पान की कम सम्भावना है। आज की औरतें बच्चे को जन्म लेते ही बोटल पकड़ा देती हैं। यही कारण है कि बच्चा धूम्रपान का, शराब का, वेश्यावृत्ति का आदी हो जाता है। आज पूरा पश्चिम से पूर्व इसी बुरी आदत से भरा पड़ा है। चूँकि वह व्यक्ति जाने-अनजाने माँ का स्तन खोज रहा है। चूसना खोज रहा है। यदि आप शराब पीते हैं तो कुछ क्षण के लिए भूल जायें कि आप हैं, शराब है। आप पी रहे हैं। मात्र पीना बन जायें। देखें उसका असर, उसका करिश्मा। अलग साक्षी बनकर। आप में मात्र एक सप्ताह में परिवर्तन आ जायेगा। अब आप पीना ही पसन्द नहीं करेंगे। यह विधि सबसे उपयुक्त है उनके लिए जो साधक खेचरी मुद्रा सीख लिए हैं। वे खेचरी में स्थित हो मात्र तीन दिन चूसते रहें। कुछ न करें। तीन दिन चूसना ही बन जायें। देखें, कैसे रस आता है? कैसा आनन्द आता है। एकाएक परिवर्तन आ जायेगा। तीन माह में तो वह व्यक्ति नाचता हुआ होगा। मीरा की तरह। चैतन्य महाप्रभु की तरह। इसे प्रायोगिक स्तर पर करके

देखें। जैसे विज्ञान कहता है (H₂O) दो भाग हाइड्रोजन एक भाग ऑक्सीजन मिलने पर जल बनेगा ही। उसी तरह आप चूसना बनो एका-एक परिवर्तन आयेगा ही। ये वैज्ञानिक प्रक्रिया है। स्वर्ग-नरक से हटकर है। पाप-पुण्य से कुछ लेन-देन नहीं है। देवी-देवता से वास्ता नहीं। अपने परिवर्तन से ही सम्बन्ध है।

जीवन साधना की अन्य विधि

साधक को सर्वप्रथम गुरु अनुकम्पा ग्रहण करना अत्यन्त श्रेयस्कर है। गुरु का वचन ही ब्रह्म-वाक्य मानकर अनुपालन करना ही सही कदम होगा। अन्यथा विभिन्न साधकों में भिन्नता देखी जाती है। उनके इष्टदेव भी विभिन्न उपास्य होते हैं जिनसे अनुग्रह अनुकम्पा की आशा ही नहीं की जाती बल्कि मनोकामनायें पूर्ण करने की अपेक्षा भी की जाती है। जबकि पराधीनता की स्थिति में स्वामी की इच्छा पर ही सभी कुछ निर्भर करता है। सेवक तो अनुनय-विनय ही कर सकता है परन्तु स्वधर्म (साधना) के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसकी अभ्यर्थना सही रूप में बन पड़ने पर वह सभी कुछ इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है, कहीं अन्यत्र से पाने की आशा करना भ्रांतिधारणा है। आप अपने को जैसा सोचें एवं कार्य करें वैसा ही बन जायेंगे। जिसने अपने अन्दर में महानता आरोपित की है उसे अपना अस्तित्व मानवीय गरिमा से ओत-प्रोत दिखायी पड़ेगा। परमात्मा सभी कुछ करने में समर्थ है। आपको मन्दिर बनाकर वह आप में ही बैठ गया है। अतएव आप पर निर्भर करता है कि आप अपने को परमात्मा का पुत्र समझें या उत्तराधिकारी या भेड़ों के बीच में पल रहे सिंह की तरह अपने को भेड़ समझ लें परन्तु आप तो अत्यन्त शुद्ध चित्त-आनन्द स्वरूप ही हैं। तब ही तो वेदान्त कहता है “शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।” अब आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि “कस्मै देवाय हविषा, विधेम।” यानी हम किस देवता के लिए भजन करें? इसका उत्तर आपके पास है आप स्वयं परमशुद्ध परमात्मा स्वरूप ही हैं।

जीवन को तीन भागों में बाँट सकते हैं (1) आत्मा, (2) शरीर, (3) पदार्थ सम्पर्क। प्रत्येक व्यक्ति शरीर की सुन्दरता पर ध्यान देता है। आज-कल लड़के की शादी में सुन्दर से सुन्दर शरीर वाली लड़की का चुनाव करते हैं। जरा-जरा सी बात के लिए लड़की में काँट-छाँट करते हैं। वही स्थिति पदार्थ की भी है। पूरा परिवार पदार्थ के झाड़ में लगा है। सुन्दर लड़की भी चाहिए एवं दहेज भी। मात्र दो में ही सारा जगत् लगा है। परन्तु आत्म-चिन्तन या आत्म-परिष्कार की कहीं बात ही नहीं की जाती है। जिससे सारा परिवार सब कुछ होते हुए भी कुरूप

हो जाता है। इसलिए सबसे प्रधानता आत्मा (चेतना) को देना होगा। तभी तो आत्म-बल को जीवन की सर्वोपरि सम्पदा एवं सफलता माना गया है। इससे मन में ओजस्, तेजस् और वर्चसकारी प्रतिभा का जन्म होता है। इस आत्मिक पूजा का सार्वभौम एक ही उपाय है वह है उपासना। उपासना के लिए जप, ध्यान एवं प्राणायाम की जरूरत है। इससे अन्य पूजा आत्मबोध का प्रयोजन पूरा नहीं कर सकता है। आज के युग में लोग कर्मकाण्ड को या कृत्य विधान को किसी पुरोहित से ठेके पर करा लेते हैं उसी से अपने को पुण्यवान समझ बैठते हैं। फलतः उसमें संलग्न लोगों के जीवन में विकास के कोई लक्षण नहीं दिखते हैं। अतएव साधक अपने जीवन में तीन को अवश्य अपनाये (1) उपासना (2) साधना (3) आराधना।

(1) **उपासना** (उप + आसन) नजदीक बैठना। यानी ईश्वर के नजदीक बैठने को ही उपासना कहा गया है। साकार बैठना है तो गुरु के नजदीक बैठ सकते हैं। एवं उसके आदेश से आत्मदर्शन करना ही उपासना होगा।

(2) **साधना** यानी साध + लेना। शरीर धर्मा-धर्म की धारा विद्या ही साधना है। जिसकी व्याख्या कुण्डलिनी जागरण पुस्तक में कर दी गयी है। इसमें रहन-सहन, आहार-विहार, संयम, कर्तव्य का पालन, सद्गुणों का अभिवर्धन, दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन आदि आते हैं।

(3) **आराधना** यानी अर्चना। जन-कल्याण, लोक मंगल के लिए जो कुछ भी किया जाये वह आराधना है।

इस साधना में स्वाध्याय की, संयम शीलता की लोकमंगल के लिए निरन्तर समयदान, अंशदान लगाते रहने की आवश्यकता है। इसके बिना पुण्य संचय होगा ही नहीं। संयम तो अपने शरीर, मन और स्वभाव में स्वयं ही साधा जायेगा। परन्तु सेवाधर्म अपनाने के लिए समयदान के साथ साधन दान की भी जरूरत पड़ती है। अपने उपार्जित धन का सारा भाग परिवार के लिए ही खर्च करते रहना श्रेयस्कर नहीं है बल्कि समाज के प्रति अपराध भी है। उसका महत्वपूर्ण अंश लोक मंगल के लिए नियमित और निश्चित रूप से निकालते रहना चाहिये अन्यथा प्रकृति आपको मुफ्त में हवा, प्रकाश, ऊर्जा, वर्षा, शीतलता आदि जो देती है उसका कर वसूल कर लेती है। नास्तिक उन तथाकथित आस्तिकों से अच्छे हैं जो प्रत्यक्ष ईश्वर को न देखकर उसकी सत्ता को नकार देते हैं परन्तु आस्तिक तो पक्षपात की मूढता में लम्बी-चौड़ी मनोकामनाओं की पूर्ति चाहते रहते हैं। वह ईश्वर पर, गुरु पर दबाव डालते हैं कि उसके पक्ष के लिए ईश्वर प्रदत्त विधि-व्यवस्था को तोड़ दें। यदि उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं होती तो गुरु के प्रति, ईश्वर के प्रति आस्था समाप्त हो जाती है। ये नास्तिकता से भी

खतरनाक है। इसमें चेतन शक्ति की सम्भावना नहीं होती जबकि संसार में यही शक्ति सबसे कीमती है।

संयम

साधक को चार प्रकार के संयम का पालन अवश्य करना चाहिये।

- | | |
|-------------------|----------------|
| (1) इन्द्रिय संयम | (2) समय संयम |
| (3) अर्थ संयम | (3) विचार संयम |

- (1) **इन्द्रिय संयम** साधक प्रधानतः दो ही इन्द्रिय से परेशान हो उठता है। एक जीभ दूसरा जननेन्द्रिय। जीभ के वश होकर नाना प्रकार का खट्टा-मीठा तीता पदार्थ ग्रहण करते। शरीर बेकार हो जाता। मन बुद्धि भी मारी जाती है। पूरा जन्म जीभ के चलते बर्बाद हो जाता है अतएव साधक अभक्ष्य ग्रहण कदापि न करे। बिना नमक, बिना मीठा का भोजन सप्ताह में एक दिन अवश्य करे तथा जीभ ही कटु शब्द का प्रयोग करती है। इसे संयमित करना होगा। दूसरा जननेन्द्रिय कामुकता की प्रवृत्ति, कुदृष्टि की प्रवृत्ति लाती है जिसपर संयम करना अत्यन्त जरूरी है। असंयम से शरीर और मस्तिष्क खोखला हो जाता है। इसी तरह श्रवण एवं ध्राणेन्द्रिय पर भी अवलोकन करते रहना है।
- (2) **समय संयम** मनुष्य व्यर्थ गप करने में, ताश खेलने में व्यर्थ का समय बर्बाद कर देता है। साधक पूरे दिन के लिए धर्म-कर्म हेतु समय निर्धारण कर एक-एक मिनट का सदुपयोग करे। जब खाली समय हो तो गुरु द्वारा प्रदत्त धर्म का प्रचार करे जिससे एक भी तो व्यक्ति रास्ते पर आकर अपना जीवन सुधार सके। प्रति दिन कम-से-कम एक घंटा समय परोपकार में धर्म प्रचार में अवश्य लगाए।
- (3) **अर्थ संयम** अर्थ को अनर्थ में खर्च न किया जाये। ईमानदारी और परिश्रम से ही अर्थ कमाया जाये। सादा जीवन एवं उच्च विचार की नीति से जिया जाये। विलास, कुरीति के नाम पर अर्थ न खर्च किया जाये। बचत का बड़े-से-बड़ा अंश परमार्थ में ही खर्च किया जाये। कम-से-कम प्रत्येक माह में अपना एक दिन का पारिश्रमिक अवश्य दान करें।
- (4) **विचार संयम** कभी भी अनर्गल विचार नहीं उठने दिया जाये। हर समय मिथ्या कल्पना में रहना अत्यन्त हानिकारक है। यह अकर्मण्यता का प्रतीक है। अतएव विचार के लिए विवेक को एक चौकीदार बना दें। विचार हर समय श्रेष्ठ काम के प्रति रखना चाहिये। गुरु द्वारा प्रदत्त कार्य पर विचार करना, लोक मंगल कार्य के लिए ही विचार करना श्रेष्ठतम है।

विशेष विधान साधक को साप्ताहिक विशेष साधना के लिए विशेष नियम अपनाना उचित है। चूँकि व्यक्ति कार्य करते-करते थक जाता है तो सप्ताह में एक दिन छुट्टी मिलती है जिससे वह ऊर्जा का संचय करता है एवं पुनः कार्य में जुट जाता है। दिन भर कार्य करते-करते थक जाता है तो रात्रि में सो जाता है। प्रातः ऊर्जा से भरा जागता है एवं कार्य में लग जाता है। प्रकृति भी परिवर्तन करती रहती है। जाड़ा के बाद गर्मी, गर्मी के बाद वर्षा। इससे प्रकृति में नवीनता बनी रहती है। अतएव साधक निम्न चार विद्या को अपनाते हैं।

- | | | | |
|-----------|----------------|----------------|----------|
| (1) उपवास | (2) ब्रह्मचर्य | (3) प्राण संचय | (4) मौन। |
|-----------|----------------|----------------|----------|

- (1) **उपवास** हालाँकि इसकी व्याख्या पूर्व पुस्तक में की जा चुकी है। उप यानी नजदीक वास यानी निवास। परमात्मा के नजदीक निवास करना। परन्तु हम इतना ठूस-ठूस कर जीभ के चलते खा लेते हैं कि नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार हो जाते हैं। परमात्मा के नजदीक न जाकर बीमारी के नजदीक चले जाते हैं। अतएव सप्ताह में एक दिन गुरु के निर्देश पर उपवास करें। यदि सप्ताह में नहीं रह सकते तो अमावस्या तथा चतुर्दशी पूर्णिमा को अवश्य रहें। भजन कीर्तन में समय व्यतीत करें। जिससे शरीर का विकार दूर होता रहे तथा तरोताजा बना रहे।
- (2) **ब्रह्मचर्य** इसका भी वर्णन किया जा चुका है परन्तु फिर भी शरीर रूप से विकृत यौनाचार से दूर रहें। मानसिक रूप से ब्रह्मचर्य से रहें जिसके लिए कुदृष्टि अश्लील पत्र, पत्रिका, कल्पना का परित्याग करना होगा। प्रत्येक नारी को माँ, बहन के रूप में देखें, नारी पुरुष को भाई, पुत्र, पिता के रूप में ही देखें। पति-पत्नी भी एक-दूसरे के प्रति अर्धांग की उच्चस्तरीय आत्मीयता संजोये। अश्लीलता दुश्चिन्ता को नजदीक न फटकने दें। इसके लिए जरूरी है कि अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा प्रेम से भरे रहें जिससे कुविचार नजदीक नहीं आयेंगे।
- (3) **प्राण संचय** प्राणायाम से ही प्राण संचय आसानी से सम्भव है या गुरु के निर्देशन में प्राण संचय की कला सीख लें। शिव नृत्य से भी प्राण संचय होता है। जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।
- (4) **मौन** यानी चुप रहना। बोलना नहीं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बोलने में बहुत ऊर्जा का क्षय होता है। बिना मौन हुए कुछ भी प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। यदि व्यक्ति मौन हो जाये तो 95 प्रतिशत समस्या अपने आप दूर हो जायेगी। केवल बोलने से व्यक्ति 95 प्रतिशत समस्याएँ स्वयं आमन्त्रित करता है। मौनता में ही बीज वृक्ष बनता है, मौनता में ही बुद्धत्व अवतरित होता है। अतएव मौन रहकर प्राण संचय करें। जगत् मंगल कार्य करें। गुरु के निर्देशन में जगत् मंगल कार्य अनवरत करते रहो जिससे मौनता

में चार चाँद लग जायें। मौनता जीवन का श्रेष्ठतम उपहार है। बोलना कोई कला नहीं, मौनता ही कला है। मौनता में ही श्रद्धा-प्रेम का उद्भव होता है जो परमपुरुष की तरफ अग्रगति से बढ़ता है। अतएव साधक सुबह चार बजे से आठ बजे तक प्रतिदिन अवश्य मौन रहे। सारा कार्य सम्पादन मौनता से ही करे।

शिव कीर्तन

कीर्तन शब्द से सभी लोग परिचित हैं। ऐसा कुछ किया जाये जिससे शरीर स्वतः नाच उठे। प्रभु प्रेम में, श्रद्धा से एवं उत्साह से, समर्पित भाव से शरीर नाच उठता है। मुँह से अनायास कुछ शब्द निकल पड़ता है वही शब्द मन्त्र हो जाता है। जो होता है वही कीर्तन है। इसमें कर्तापन का बोध ही समाप्त हो जाता है। इससे आप सहज ही शिवत्व को उपलब्ध होते हैं। इसी से इसे शिव कीर्तन कहते हैं। बहुत काल बाद यही कीर्तन शिव हनुमान जी को दिए। नारद जी को दिए। हनुमान जी इसी कीर्तन से सभी कुछ प्राप्त कर लिए। वे ही इसे सुग्रीव को बताये, विभीषण को बताये। इस प्रकार यह कीर्तन इस धरा-धाम पर अवतरित हुआ। कीर्तन में जो कुछ शब्द का उच्चारण होता है वही महामन्त्र हो जाता है। अभी कीर्तन का रूप विकृत हो गया है। कीर्तन भी ठेके पर कराये जा रहे हैं। इसे करने वाले की एक मण्डली होती है जो दीन-हीन अकिंचन की तरह होती है। आखिर कीर्तन करने वाले की ऐसी स्थिति क्यों? जो कराता है वह भी किसी-न-किसी विवशतावश, भखौटी वश। कीर्तन करना न ही उसका स्वभाव है न ही कराना। मानो मुर्दे की तरह ढोये चले जाते हैं। कीर्तन करने वाले पहले ही तय करते हैं खाने में अमुक-अमुक भोजन (अभक्ष) चाहिए। सुर मिलाने के लिए शराब चाहिए। नींद नहीं आये उसके लिए सिगरेट या गांजा, चरस चाहिए। कैसा कीर्तन? यदि कीर्तन ऐसा ही है तो उससे भगवान ही बचायें। गलत किया हुआ योग-जाप सबसे पहले करने वाले का नाश करता है तब कराने वाले का। इसके बाद दोनों के परिवार का, तब मुहल्ले एवं देश का। क्या इसी कीर्तन से उनका अधःपतन हो रहा है। आज कीर्तन का सही स्वरूप जानने वाले भी नहीं के बराबर रह गये हैं।

शिव कीर्तन करने से व्यक्ति का शरीर ओज से शक्ति से भर जायेगा। प्राण का संचय होगा। जबकि विकृत कीर्तन से प्राण शक्ति का हास होता है। यदि साधक दस मिनट सुबह, शाम भी करे तो उसे कोई भी बीमारी नजदीक नहीं आयेगी, उसका चेहरा चमकता हुआ होगा। इससे शारीरिक विकास, मानसिक उत्थान तथा आध्यात्मिक उन्नयन होता है। ध्यान की एकाग्रता होती है। मानसिक तनाव कोसों दूर होता है। साधक सिद्धियों का स्वामी बन जाता है।

वह स्त्री-पुरुष बच्चा-बच्ची सभी को समान रूप से लाभकारी है। अभी वर्तमान काल के लिए अत्यन्त लाभकारी है। इसके करने से एक विशेष प्रकार का हार्मोन उत्पन्न होता है जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का निखार होता है। उससे बुराई स्वतः दूर होने लगती है। अच्छाई स्वतः आने लगती है। अतएव वर्तमान काल में विद्यार्थी से लेकर, नौकरी करने वालों तक या हल चलाने वालों से लेकर सेना में काम करने वालों तक के लिए नितान्त आवश्यक है। यदि इसे जेल के कैदियों को सिखाया जाये तो उसका दोष स्वतः दूर हो जायेगा। एवं वह एक ईमानदार, सदाचारी नागरिक ही नहीं, संन्यासी की तरह जीवन व्यतीत करने लगेगा। चूँकि कीर्तन से दुर्गुण सम्बन्धी हार्मोन का निर्माण स्वतः बंद हो जाता है। उच्च विचार का निर्माण शुरू हो जाता है।

कीर्तन विधि

इस कीर्तन को मैंने दिल्ली में नव साधकों के बीच पहले पहल दिनांक 15 जुलाई 1995 को किया। साधक गण (स्त्री-पुरुष) ने बहुत ही मन से इसे ग्रहण किया। सात दिन सुबह शाम इन्हें अभ्यास कराया। सभी प्रफुल्लित थे। आनन्दित थे। मैंने उन्हें अपने परिवार के सारे सदस्यों को सिखाने का आदेश भी दिया। इसके बाद समाज के इच्छुक व्यक्ति को बताने के लिए आग्रह किया। साधक को सबसे पहले जानकार व्यक्ति से, गुरु से सीख लेना ही उचित है। तब वह प्रतिदिन चाहे जहाँ भी हो इसे करे। साधक खुली हवा में बैठ जाये। यदि खुली जगह उपलब्ध न हो तो हवादार कमरे का प्रयोग कर सकते हैं। घर की छत का प्रयोग कर सकते हैं। जगह साफ सुथरी, स्वच्छ हो। ध्यान के लिए उपयुक्त हो। प्रातः काल सूर्योदय के समय एवं सन्ध्या काल सूर्यास्त के समय किया जाये तो अत्यन्त उत्तम है। समय नहीं मिलने पर रात्रि पहर का प्रयोग कर सकते हैं। प्रातः काल सूर्य की लालिमा निकल रही हो छत पर तो ठीक है। यदि कमरा हो तो खिड़की के सामने करें जहाँ से सूर्य की लालिमा आपके शरीर पर पड़े। यदि वह भी सम्भव न हो तो बल्ब जला दें। वहाँ दरी, चटाई या चादर अपनी सुविधा अनुसार बिछा दें।

प्रथम चरण अब साधक निश्चिन्त पद्मासन या सिद्धासन पर बैठ जाये। गुरु का ध्यान कर त्रिकुटी पर ध्यान करे। भावना करे मैं हिमालय के गौरी शंकर पर्वत पर बैठा हूँ। मैं शिव कीर्तन करने जा रहा हूँ। शिव स्वरूप हूँ। हिमालय की शीतल वायु शरीर में लग रही है। सूर्य की सूक्ष्म किरणें अपने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में प्रवेश कर रही हैं। ये किरणें ऊर्जा और आभा की प्रतीक हैं। ऊर्जा अर्थात् शक्ति, आभा अर्थात् प्रकाश। दोनों का समन्वय तीनों शरीरों में प्रवेश करके उन्हें प्रभावित कर रहा है। प्रत्यक्ष शरीर में स्वास्थ्य

और संयम, सूक्ष्म शरीर में मस्तिष्क में विवेक और साहस, कारण शरीर अर्थात् अन्तःकरण में श्रद्धा, सद्भावना सूर्य किरणों के रूप में प्रवेश करके अस्तित्व की समग्र सत्ता को अनुप्राणित कर रही है यह ध्यान, धारणा और गुरु मन्त्र का जाप श्वास के साथ साथ निर्धारित समय तक करें। अब हिमालय के बर्फ का शीतल जल आत्मसत्ता का समर्पण है।

द्वितीय चरण आँख बन्द हैं। ध्यान त्रिकुटी पर है। अब उपरोक्त भावना के साथ खड़े हो जायें। दोनों हाथ समानान्तर में फैला दें। दाहिना पैर आगे की तरफ झुका दें यानी घुटने से 60 डिग्री पर मोड़ें। बायाँ पैर का अँगूठा दाहिने पैर की एड़ी के नजदीक रखें बायाँ हाथ सीधा ऊपर उठा दें। दायाँ समानान्तर में ही रहेगा। अब आप कीर्तन का मन्त्र **“श्री राम जय राम जय राम।”** का जाप बोलकर शुरू कर दें। तत्पश्चात् बायाँ पैर तीस इंच की दूरी पर रखें एवं उसे 60 अंश पर झुकाएं एवं दायाँ पैर के अँगूठे को बायाँ पैर की एड़ी के नजदीक रखें। हाथ भी अब दायाँ ऊपर जायेगा। तथा बायाँ समानान्तर में रहेगा। इस तरह पैर एवं हाथ बदलते रहेंगे। मन्त्र जाप चलता रहेगा। ध्यान स्थिर रहेगा। धीरे-धीरे कीर्तन तेज होता जायेगा। पैर एवं हाथ की गति तेज होती जायेगी। पाँच मिनट में रफ्तार तेज होगी तथा दूसरा पाँच मिनट अत्यन्त तेज रफ्तार का होगा। अन्तिम पाँच मिनट साधक पूरी तरह दौंव पर लगा ले। किसी भी हालत में अपने को बचाने का प्रयास न करे। इतना तेज रफ्तार कर दे कि शरीर का भान मिट जाये। प्रारम्भ काल में यह कीर्तन मात्र दस मिनट का होगा। तत्पश्चात् साधक बैठ जाये। चाहे जिस भी आसन पर बैठना चाहे। यदि बैठने की स्थिति नहीं हो तो साधक लेट भी सकता है। सुविधा के अनुसार लेट जाये।

तृतीय चरण साधक निश्चित हो गहरी श्वास के साथ जाये एवं आये। अब गुरु मन्त्र का श्वास पर जाप कर सकता है। ध्यान त्रिकुटी पर ही रहे। भावना करे शरीर शिथिल है। मन शिथिल है, चित्त शान्त है। श्वास गहरा चल रहा है। साधक शरीर से बाहर होकर मृतवत् अपने शरीर को देख सकता है। साक्षी बन कर अलग से शरीर का अवलोकन करे। वह साधक की स्थिति के ऊपर निर्भर करता है। जिस कोटि का साधक हो उसी तरह का अभ्यास बताया जाये। पाँच मिनट के त्रिकुटी पर ध्यान के उपरान्त ऐसी भावना करे कि प्रकाश पूरे शरीर में फैल रहा है। शरीर के सारे रोग बाहर निकल रहे हैं। श्वास के माध्यम से प्राण ले रहे हैं। ऊर्जा ले रहे हैं। वह ऊर्जा हृदय में भर रही है। हृदय से फिर पूरे शरीर में। जैसे जैसे प्रकाश ऊर्जा फैल रही है, वैसे-वैसे कुवृत्तियाँ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, विकार बाहर हो रहा है। इसी से जो प्राण, ऊर्जा, नीचे जा रही है। वह हृदय से होकर सारे शरीर में फैल रही है। पाँव की अँगुली से हाथ की अँगुली से सारे कष्ट रोग बाहर हो रहे हैं। अब ध्यान दे त्रिकुटी पर,

वह प्रकाश अब ऊपर फैल रहा है। वह प्रकाश ऊपर सहस्रसार, तक फैलते जा रहा है। जब सहस्रसार पर ध्यान चला जायेगा तब साधक समाधिस्थ हो सकता है। सारी कुवृत्तियों से मुक्त हो जाता है। पाँच मिनट के बाद साधक भावना करे कि शरीर पूर्ण स्वस्थ है। गुरु का आशीर्वाद प्रकाश रूप में बरस रहा है। साधक उस वर्षा में भीग रहा है। मन प्रफुल्लित हो रहा है। चेहरा कमल की तरह खिल रहा है। पूरा शरीर ही खिल गया है। स्वयं हँसता हुआ, मुस्कराता हुआ हो। धीरे-धीरे चार मिनट के बाद प्रभु अनुकम्पा, गुरु कृपा ग्रहण करते हुए प्रसन्नचित्त पाँचवें मिनट में आँख खोले एवं गुरु को परमपिता परमात्मा को नमस्कार करे। धन्यवाद दे। यह भी दस मिनट का होगा। जब साधक दस मिनट का कीर्तन एवं दस मिनट का ध्यान कर लेता है तब इसे क्रमशः बढ़ाना होगा। इस तरह कम से कम तीस मिनट का कीर्तन एवं तीस मिनट का ध्यान करना होगा। अब जब 30 मिनट का कीर्तन सिद्ध हो जाये। आनन्द आ जाये तब साधक हनुमान की तरह, मीरा की तरह दोनों हाथों में करताल ले ले एवं कीर्तन शुरू करे। यदि कीर्तन एक घण्टा का सिद्ध हो जाता है तब साधक का ध्यान भी अचल हो जायेगा। वाणी सिद्ध हो जायेगी। चेहरा कान्ति से भर जायेगा। इसी शरीर में वह सब कुछ प्राप्त कर लेगा जो उसके लिए अलभ्य था, दुष्कर था। जो खडेश्वरी जीवन भर खड़ा रह कर नहीं प्राप्त कर सकते, जो नागा पंचाग्नि लेकर नहीं प्राप्त कर पाते या कर्मकाण्डी कर्मकाण्ड के द्वारा नहीं पाते वह साधक मात्र एक घण्टे के कीर्तन से प्राप्त कर लेगा। यही कीर्तन, हरिभजन एवं रामनाम कलिकाल का आधार है। साधक को योग, जाप, तप, यज्ञ, तीर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह स्वयं प्राण शक्ति से भरा हुआ है। उस शक्ति का स्रोत भी उसने देख लिया। वह अब उसी शक्ति से जुड़ गया। अब वह साधक योग युक्त हो गया। संसार में रहकर लोकहित में कोई भी कार्य कर सकता है। अब उसे निराशा कैसे हाथ लगेगी। प्रकृति उसकी इच्छानुसार कार्य करना चाहेगी। परन्तु वह इच्छा से भी ऊपर उठ जाता है। वह **“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयः।”** की भावना से कर्म करता है। अपना-पराया का भाव मिट जाता है। “स्व” चला जाता है।

इसे अतिशयोक्ति न समझें। करें एवं देखें। यह वैज्ञानिक सत्य है। एक दिन ही करें आप में कुछ परिवर्तन तो होगा ही। आप परमात्मा की तरफ एक कदम तो बढ़ेंगे ही। आपकी यात्रा एक कदम तो कम होगी ही। यात्रा प्रारम्भ करके तो देखें। यह नकद का सौदा है। एक हाथ देना है। दूसरे हाथ ग्रहण करना है। अभी ही इसी वक्त।

इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए आश्रम से सम्पर्क कर सकते हैं। इसे विधिवत सीख सकते हैं। सभी कुछ नहीं लिखा जा सकता है।



शिव के द्वारा गंगा को उतारना

मानव संस्कृति का भू-भाग सदाशिव को तंत्र के लिए सबसे उपयुक्त जगह लगा। परन्तु इस भू-भाग में जल का अभाव था। कोई बड़ी नदी नहीं थी। काशी से ही अयोध्या का राज लगता था। जिस राज्य का राजा एवं प्रजा दोनों ही सदाशिव से तंत्र सीखे थे। अयोध्या के लोग इन्हें अच्छे तंत्र साधक के रूप में मिले। अतएव उनसे कहा कि तुम लोग यदि तैयार हो जाओ तो गंगा को स्वर्ग से इस धरती पर उतारा जा सकता है। उस समय गंगा स्वर्ग (चीन-रूस) में बहती थी। अयोध्यावासी सहर्ष तैयार हो गये। सदाशिव ने समझाया यह कार्य एक-दो दिन का नहीं है। बहुत ही कठिन कार्य है। यह कठोर तपस्या होगी, जिसका फल होगा गंगाजल। अयोध्या के राजा सहर्ष तैयार हो गये। अपनी पूरी ताकत के साथ सदाशिव के बताये मार्ग पर चलकर कैलाश पहुँचे। वहाँ बहुत दिनों तक रहकर सोच-विचार किया गया। गंगा के प्रवाह को कैसे मोड़ा जाये। जब ऋषियों-मुनियों के द्वारा विचार-विमर्श कर लिया गया तब उसके प्रवाह को कम करने के लिए धारा को विभिन्न भागों में बाँटने का उपक्रम हुआ, जिसमें बहुत समय लगा परन्तु लगन एवं कठोर परिश्रम तो फल लाता ही है। श्रद्धा एवं लगन से सद्गुरु के निर्देशन पर किया गया कार्य अत्यन्त ही महत्वपूर्ण फल लाता है, जिसका मानव मन कल्पना तक नहीं कर सकता। कठिनाई, विपत्ति, बाधाएँ विभिन्न रूपों में आती ही हैं। देव एवं यक्ष लोग बाधा का काम करते रहे परन्तु विभिन्न स्रोतों का निर्माण कर लिया गया जिससे गंगा की धारा विभिन्न भागों से घूमते हुए गुजरे, जिन्हें शिव की जटा भी कहते हैं। तब शिव के निर्देशन पर गोमुख पर खुदाई की गयी। जहाँ से गंगा का शीतल जल प्रवाहपूर्ण ढंग से निकल गया। हो गयी लोगों की तपस्यापूर्ण। गोमुख के ऊपर लगभग 15-20 किलोमीटर में दल-दल भूमि है। यानी बर्फ की केवल चट्टान है, जो पिघलकर पानी के रूप में नीचे आती है। उस पर चलना अत्यन्त दुरूह होता है। पैर रखने पर कहीं-कहीं अन्दर की ओर चली जाती है। वहाँ न कोई पेड़ है, न ही जीव-जन्तु। मैं वहाँ कुछ समय रहा हूँ। अत्यन्त ठण्ड है। हाँ, आवाज़ यदि है तो मात्र गंगा के ही कलरव की। गोमुख के ऊपर तपोवन है जहाँ रहकर सदाशिव के साथ अयोध्या

के राजा वगैरह गंगा को उतारने के लिए वर्षों प्लानिंग रूपी तप करते रहे। इसी से इसे तपोवन कहा गया। हालांकि यहाँ कोई पेड़ नहीं है। फिर भी तपोवन कहा गया। हज़ारों-हज़ार लोग उस बर्फ में, सर्दी में दुर्गम स्थान में, उस गंगा को उतारने के लिए जो कठोर संकल्प लेकर पड़े रहे। सद्गुरु के निर्देश पर तंत्र के माध्यम से ही जिन्दा रहे एवं अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हुए इसी से इसे तपोवन कहते हैं। इसी से चार किलोमीटर की दूरी पर नन्दन वन है। यह आश्चर्य ही है कि यहाँ विचित्र गुलाबों की घाटी है। वन हैं। तितलियाँ हैं। यहाँ सदाशिव के नन्दन यानी गणेश ने तप किया। यहीं सदाशिव से दीक्षित हुए। इसे नन्दन वन कहते हैं। मैं कुछ काल वहाँ भी रहा। तप के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त जगह है। मालूम होता है साक्षात् शिव की गोद में बैठकर साधक तंत्र की साधना में खो जाता है। मानो शिव अपने प्यारे शिष्य को अपने हृदय से लगाकर सब कुछ उड़ेल देना चाहता है। यह मेरी अनुभूति है। हो सकता है आपकी कुछ भिन्न हो।

शास्त्रों में एक और भी दृष्टान्त मिलता है। वाल्मीकीय रामायण में जब विश्वामित्र राम को लेकर यज्ञ पूरा कराने के पश्चात् जनकपुर के लिए प्रस्थान करते हैं तब सोन नदी के बाद गंगा मिलती है। जहाँ रात्रि विश्राम के समय श्रीरामचन्द्र अपने सद्गुरु से गंगा की उत्पत्ति के विषय में पूछते हैं। तब वे राजा सगर की कथा सुनाते हैं। उस कथा का अवलोकन करने पर भी मालूम होता है कि देवतागण किसी भी तरह से मानव श्रेष्ठ, राजा एवं ऋषि को तंग करने से बाज नहीं आते। राजा सगर यज्ञ करते हैं। यज्ञ में अश्व छोड़ा जाता है। वह अश्व विभिन्न देशों को घूमता हुआ आगे बढ़ता जाता है। उस वक्त भी रक्ष संस्कृति एवं मानव संस्कृति में प्रगाढ़ सम्बन्ध था। तभी तो देवेन्द्र इन्द्र अपना रूप बदलकर राक्षस का रूप पकड़ लेते हैं एवं घोड़े को चुराकर चल देते हैं। पुनः त्रिविष्टिक में, देवताओं के साथ मंत्रणा करते हैं। जिसमें यह चर्चा होती है कि किसी भी तरह सगर को ज्ञात हो जायेगा कि घोड़ा चुराने वाला इन्द्र ही है तो वह स्वर्ग एवं देवगण को छोड़ने वाला नहीं। उसके साठ हज़ार पुत्र हैं। सभी धर्मात्मा हैं। अत्यन्त बलवान् हैं। यानी यह सम्भव है, उस समय अयोध्या की सेना में साठ हज़ार सैनिक हों जिन्हें राजा सगर अपने पुत्र के समान समझते हों। सगर के डर से देवेन्द्र ने उस घोड़े को महर्षि कपिल के आश्रम में बाँध दिया। ऋषि कपिल समाधि अवस्था में थे। देवेन्द्र यह सोचे कि वे लोग खोजते हुए यहाँ आयेंगे एवं कपिल से दुर्व्यवहार करेंगे। तब दोनों आपस में ही संघर्ष कर मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। अयोध्या भी कमज़ोर हो जायेगी। इधर पूर्वाखण्ड

(कपिल का क्षेत्र) भी। जिससे देव संस्कृति को बढ़ने का भरपूर अवसर प्राप्त हो जायेगा। सब हुआ भी वही। देवेन्द्र की कूटनीति काम कर गयी। सगर के लड़के मृत्यु को प्राप्त हो गये। कपिल पुनः ध्यान में चले गये। इधर स्वर्ग में खुशियाँ मनाई गयीं।

इधर पुत्रों के नहीं लौटने से यज्ञ के लिए दीक्षित हुए राजा सगर का उद्विग्न होना स्वाभाविक ही था। अतएव अपने पौत्र अंशुमान को पता लगाने के लिए भेजा। अंशुमान अत्यन्त विनीत नम्र युवक थे। जो भी महात्मा मिलते उनकी पूजा, अर्चना एवं परिक्रमा करते। श्रेष्ठजन से आशीर्वाद लेते अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच गये। वहाँ अपने यज्ञ का घोड़ा देख अत्यन्त प्रसन्न हुए। तथा महर्षि कपिल की पूजा-अर्चना कर अपने चाचा लोगों के विषय में पूछा। महर्षि कपिल ने सभी कुछ बता दिया। इसी समय इनके चाचा के मामा गरुड़ देव भी आ गये। वे बताये कि आप घोड़ा लेकर जाओ एवं अपने बाबा का यज्ञ पूरा कराओ तथा इन पितरों के उद्धार हेतु स्वर्ग से गंगा ले आओ। सम्भवतः महर्षि कपिल समझ गये कि इसी खानदान के पराक्रम एवं पौरुष से गंगा का अवतरण सम्भव है। अंशुमान घोड़ा लेकर अयोध्या आये एवं अपने बाबा से सारी कहानी कह सुनाये। सगर को अत्यन्त दुःख हुआ परन्तु किसी तरह यज्ञ पूरा किये।

राजा सगर महात्मा थे। वे अत्यन्त कर्मठ, बहादुर, निर्भीक भी थे। अपने मन्त्रीगण से गंगा को लाने के विषय में विचार किये। राजा सगर 33 वर्षों तक गंगा को लाने के लिए कठोर परिश्रम किये। सगर के बाद अंशुमान भी अपने पुत्र दिलीप को राज्य सौंप कर हिमालय में 32 वर्षों तक परिश्रम रूपी तप किये। उनके साथ हजारों-हजार व्यक्ति काम करते रहे। उसके लिए रास्ता तैयार करते रहे। राजा दिलीप भी उस महत् कार्य में हाथ बटाये। ये 30 वर्ष राज्य किये तथा उसी अवधि में उस कार्य में भी योगदान करते रहे। परन्तु इनकी कालावधि गंगा के लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं रही। परन्तु दिलीप के पुत्र भागीरथ ने कठोर परिश्रम किया। जिनका परिश्रम एवं पुरुषार्थ देखकर ब्रह्मा को भी मदद के लिए विवश होना पड़ा। सदाशिव तो मदद में पहले से ही थे। दिशा निर्देशन तो उन्हीं का था ही। सदाशिव ने एक वर्ष तक भागीरथ को अपने साथ रख उसकी धारा को सात भागों में बाँटने की युक्ति बताई जिससे गंगा का वेग, धारा पृथ्वी पर कम रहे। पुनः उस धारा को एक वर्ष तक गोमुख के ऊपर ही घुमाते रहे। यानी गोमुख नन्दन वन, तपोवन के मध्य के भाग में। जिसको शंकर की जटा भी कहा जाता है। शंकर की जटा (गोमुख) से निकल कर गंगा अवरिल गति से चल दी। परन्तु हिमालय के पर्वत से यात्रा कराना भी अत्यन्त दुरूह था। अतएव गंगोत्री

तक आने में एक वर्ष का समय लग गया। चूँकि मार्ग प्रशस्त करना था। जब गंगोत्री से गंगा नीचे की तरफ उतरी तो उतार आसान हो गया एवं आगे का रास्ता पूर्व के राजाओं द्वारा प्रशस्त किया गया था। इस तरह गंगा को पृथ्वी पर लाने में चार पीढ़ी एवं 98 वर्ष का समय लगा। राजा भागीरथ के द्वारा यह गंगा सागर तक पहुँची। जिससे उनके पूर्वज ही नहीं, वरन् भारत-भूमि के समस्त जन-समुदाय में भी गंगा के आने से जीवन का संचार हो गया। सभी प्रसन्न हो गये।

गंगा को पृथ्वी पर यात्रा कराने में अन्तिम अयोध्या राजा भागीरथ समर्थ हुए। गंगा के साथ उनका नाम भी जुड़ गया। गंगा को भागीरथी भी कहते हैं। इस तरह सदाशिव की ही देन है काशी एवं गंगा। जिसमें एक मानव संस्कृति की राजधानी है तो दूसरी अपने अमृत जल से सबको सम्यक रूप से अनवरत सींच रही है। एक में रहने मात्र से पवित्र होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तो दूसरे में स्नान करने मात्र से अपने लक्ष्य को उपलब्ध हो जाते हैं। यह दोनों सदाशिव के द्वारा दी गयी मानव संस्कृति के लिए अनमोल धरोहर हैं। इसी से काशी का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। जहाँ गंगा उत्तरायण है। मानो गंगा का काशी से सम्बन्ध पुरातन हो। मानो काशी को अपनी गोद में लेने को उतावली हो। काशी में गंगा के किनारे की गयी साधना जल्द ही फलीभूत होती है। वरुणा नदी एवं अस्सी घाट के मध्य भाग को ही वाराणसी कहते हैं। उत्तर काशी में भी गंगा पहले उत्तरायण ही थी। एक पहाड़ के टूट जाने से धारा मुड़ गयी जिसका प्रमाण वहाँ जाने पर आपको मिल जायेगा।

शिव एवं तंत्र

आप देखते हैं कि शिव के द्वारा दिया गया तंत्र मानव-मानव में कोई भेद नहीं करता। सब की ही एक जाति एक ही लक्ष्य होता है परम पुरुष। तंत्र कहता है कि प्रारम्भिक अवस्था में सभी पशुवत् हैं। पशुपति ही आराध्य गुरु हैं। साधना का लक्ष्य होता है **ब्रह्मत्व में प्रतिष्ठित होना**। जबकि देव यक्ष संस्कृति अपने को जातीयगत श्रेष्ठता का आधार मानती, जिससे सामाजिक कुरीति को बढ़ावा मिलता है। तंत्र कोई धर्म नहीं है। यह तो एक जीवन आदर्श (Vital principal) तथा साधना क्रम (Spiritual cult) है। जिससे साधक सुप्त जीवन शक्ति को जगाकर ब्रह्म भाव में लीन हो सके। सच पूछा जाये तो तंत्र वेद से पुरातन है। वेद जबकि सैद्धान्तिक एवं अनुष्ठान मूलक (Theoretical and revalistic) है। तंत्र जीवन मूलक।

अगस्त्य एवं वशिष्ठ का आगमन

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अगस्त्य पहले ऋषि थे, जो देव संस्कृति के प्रचार हेतु विन्ध्य पर्वत के दक्षिण तक यात्रा किये। वे रक्ष संस्कृति में देव संस्कृति के प्रचार निमित्त दक्षिण में ही रह गये। वशिष्ठ दूसरे ऋषि थे। जो देव संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु मानव संस्कृति के मध्य में ही रुक गये। वे अयोध्या को ही अपना केन्द्र बना लिए। अयोध्या के राजा ने उदारतावश विद्वान समझकर उन्हें पठन-पाठन का काम सौंप दिया। वशिष्ठ तंत्र विधि को चीन के भू-भाग में सीख लिए थे। अयोध्या आने पर और भी तंत्र हासिल कर लिए। परन्तु उनमें तथाकथित श्रेष्ठता का अहंकार हर समय रहता था। चूँकि यह अहंकार देव संस्कृति की धरोहर है। इसी अहंकारवश “राजानिमि” से तू-तू-मैं-मैं हो गयी। वशिष्ठ क्रोध में आकर अपने ही पालक राजा को शरीर परित्याग का श्राप दे बैठे। यह धृष्टता देखकर महाराजा निमि भी वशिष्ठ को शरीर परित्याग का श्राप दे दिए। इसलिए अभी तक कहा जाता है कि महाराज निमि अपने वचन पर अटल रहे एवं दोबारा शरीर ही नहीं धारण किये। वे मनुष्यों के पलक पर निवास करने लगे, परन्तु वशिष्ठ देव संस्कृति के अनुरूप छल से छद्म वेश में पुनः अयोध्या आ धमके। इस बार प्रचारित करा दिया कि मेरा जन्म मित्र-वरुण उर्वशी नामक अप्सरा से हुआ है। खैर जो हो पहले तो मानव संस्कृति के लोग अप्सरा को वेश्या से ज्यादा स्थान नहीं देते थे। न ही अपने यहाँ किसी को इस तरह की अप्सरा बनने दिया, परन्तु यह भी भारत खण्ड के लिए दुःखद बात थी कि धीरे-धीरे देव ऋषि तंत्र विद्या सीखकर भारत खण्ड में भ्रमण करने लगे एवं तंत्र के माध्यम से देव संस्कृति (मांस, मंदिरा, अप्सरा, झूठ बोलना, कार्य पूर्ति हेतु किसी भी साधन का प्रयोग करना) का प्रचार सूक्ष्म रूप से शुरू कर दिया।

जब मानव संस्कृति एवं रक्ष संस्कृति बदसूरत होने लगी। तंत्र विद्या का दुरुपयोग होने लगा। वर्ण व्यवस्था का जन्म के आधार पर निर्धारण होने लगा। यहाँ के काले चमड़े के ऋषि या व्यक्ति को शूद्र कहकर दुत्कार पड़ने लगी। अपने ही घर में बेगाना होने लगे। चूँकि देव संस्कृति का प्रचार माध्यम बहुत बड़ा था। अपने को स्थापित करने के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। जो इनके सिद्धान्त के अनुकूल नहीं था। परन्तु अब हो भी क्या सकता था? यहाँ के बहुत सारे राजागण भी तथाकथित यज्ञ यानी जिस पशु के मांस खाने की इच्छा हुई, उसका यज्ञ प्रारम्भ कर देते। जैसे गोमेघ से लेकर अश्वमेघ तक ही नहीं रहा, जीभ की

लोलुपता तो इसे बढ़ाकर नरमेघ तक खींच कर ले आयी। मदिरा के नाम पर सोमयज्ञ का प्रावधान किया गया। अप्सरा का भारत भूमि पर भी आगमन शुरू हो गया। देव ऋषि का वर्चस्व बढ़ता गया। तंत्र साधक भी बद् से बद्तर होते गये। तंत्र में भी मांस-मदिरा का प्रावधान कर दिया गया। चूँकि मानव-मन अब अधोगति की तरफ बढ़ने लगा। अब तंत्र में भी कौल तंत्र आ गया। चोल तंत्र आ गया। तंत्र भोग प्रधान हो गया। यह सब देव संस्कृति के द्वारा आविष्कृत एवं प्रचारित था। अधिकांश मानव एवं रक्ष संस्कृति के ऋषि मूक दृष्टा बनकर रह गये। अब इनके आश्रम में पढ़ने जाना विद्यार्थी भी नहीं चाहते। चूँकि नीरसता थी। राजाओं से भी उपेक्षित होते गये। मानव संस्कृति पूरी तरह कलुषित होने लगी। देव ऋषि का हर समय स्वर्ग (चीन-रूस) जाना बना रहता। प्रतिभा सम्पन्न राजा को अपने वाहन से स्वर्ग भेजते रहते। वे भी वहाँ का भौतिक सुख भोग कर कर्तव्य पथ से विचलित होने लगे। साधारण जनता भी मात्र तथाकथित ऋषि एवं राजा की साधन मात्र बनकर रह गयी। अमुक यज्ञ में इतना द्रव्य चाहिये, पशु चाहिये, नौकर चाहिये, दास एवं दासी चाहिये, बाध्य होकर यहाँ की निरीह जनता पूर्ति की साधन बनती। कुछ कर सकती नहीं। चूँकि धन सम्पन्न व्यक्ति को वैश्य कह दिया गया। उसे किसी तरह धन कमाकर तथाकथित देव ऋषि के इशारे पर राजा को देना है। बाकी निर्धन को शूद्र कह दिया गया। सबल सशक्त को जिससे उन ऋषियों को भय था, को क्षत्रिय कह दिया गया। वे ऋषि हर समय पर क्षत्रियों को खुश करने के लिए नया-नया उपक्रम करते, जिससे वे भौतिक भोग में फँसे रहते। स्वयं भौतिक सुख-साधन जुटाने एवं राज्य के संचालन का अगुआ बन गये। इस तरह अब उन्होंने स्वयं को यज्ञ एवं शिक्षा का विधाता (ब्राह्मण) मान लिया तथा राज्य सत्ता से चिपके रहे। इससे वे ही राजा के मुख्य सचिव भी बन गये। जिसे बाद में पुरोहित कहा गया। यानी पुर का हित करने वाला। घुमा-फिरा कर सारे शासन की बागडोर अपने हाथ में रख ली। बाद में नीति की जरूरत पड़ी तो स्वयं नीति निर्धारक भी बनकर आगे आ गए। अब आप इस भू-खण्ड की दशा का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। यहाँ की नैतिकता सिसक उठी।

भारतीय मनीषी विश्वरथ

उस वक्त भारतीय मनीषी अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, दधीचि, दत्तात्रेय, वशिष्ठ, गौतम, अम्बरीष, ऋषभ, गर्ग, वाल्मीकि इत्यादि किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए थे। इन्हीं विषम परिस्थितियों में महर्षि विश्वरथ का उदय होता है। विश्वरथ

अपने युवा अवस्था में ही देव-यक्ष के क्रिया-कलाप से क्षुब्ध हो गये। इनका राज्य वर्तमान गाजीपुर का था। इनके पिता का नाम गाधि था। जिनके नाम पर गाधीपुर बसाया गया। बाद में वही गाजीपुर कहलाने लगा। वहाँ अभी भी किले का अवशेष विद्यमान है। इस राज्य का एक सिरा अयोध्या से लगता था तथा दूसरा गोरखपुर से। विश्वरथ ने अयोध्या के वर्तमान राजा सत्यव्रत से सम्बन्ध स्थापित किया। सत्यव्रत को समाज में उत्पन्न हो रही विकृतियों के सम्बन्ध में याद दिलाया। सत्यव्रत भी कर्तव्यनिष्ठ राजा थे। अतएव विश्व-रथ की बात ही नहीं माने वरन् उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। उन्हीं के दिशा-निर्देश में राज्य का कार्य संचालन करना भी शुरू कर दिया। जो वशिष्ठ को अत्यन्त नागवार लगा। एक दिन विश्व-रथ अयोध्या में धर्म-अधर्म पर चर्चा कर रहे थे। लोगों को मानव संस्कृति के प्रति सजग कर रहे थे। वे कह रहे थे तुम सब उस विराट परमपुरुष से उत्पन्न हो। वह विराट तुम्हारे अन्दर छिपा है। जिसे अन्तर्मुखी साधना से प्राप्त किया जा सकता है। यदि यज्ञ करना ही है तो इस शरीर को ही यज्ञ की वेदी समझ लो। इस वेदी में आत्मा रूपी अग्नि को प्रज्वलित कर लो। उस अग्नि के प्रज्वलित होते ही तुम अपने आप में प्रकाशित हो जाओगे। पाओगे उस अनन्त को। उसी अग्नि में काम, क्रोध, लोभ, अहंकार इत्यादि समिधा का हवन कर दो। प्राप्त कर लो समाधि को। यही यज्ञ श्रेयस्कर होगा, श्रेष्ठ होगा। मिथ्या देव-जाल में पड़कर अपना जीवन बरबाद मत करो। उठो अब समय आ गया है। प्रभात होने वाला है। भोगवृत्ति को परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। जब वशिष्ठ को ज्ञात हुआ कि हमारे यज्ञों का खण्डन हमारे ही भू-भाग में शुरू हो गया तो अत्यन्त चिन्तित हो गये। देव संस्कृति से सम्बन्ध टूटता नजर आया। अतएव उत्तेजित मुद्रा में अपने सौ बच्चों के साथ विश्वरथ पर टूट पड़े। उन्हींने कहा तुम क्षत्रिय हो, राजा हो, राज्य करो। धर्म तुम्हारा विषय नहीं। धर्म पर कुछ भी बोलना तुम्हारा अनाधिकार चेष्टा करना है। क्या अधिकार है तुम्हारा देव धर्म पर? लौट जाओ अपने राज्य में। यदि इस तरह की कुचेष्टा कभी भी भविष्य में तुम्हारे द्वारा की गयी तो तुझे राज्य छोड़ना पड़ेगा। धर्म पर वही बोल सकता है जिसका धर्म से सम्बन्ध है। मैं विद्यालय चलाता हूँ। अयोध्या के सारे बच्चों को मेरे यहाँ मेरे पुत्र ही पढ़ाते हैं। नीति मैं बनाता हूँ, धर्म की व्याख्या मैं करता हूँ। तू लोगों को धर्म पर ही मूर्ख बनाता है। क्या है तुम्हारे पास ऋद्धि-सद्धि? मैं तो तंत्र योग से क्षणमात्र में पूरे अयोध्या को समाप्त कर सकता हूँ। या चाहूँ तो तंत्र रूपी कामधेनु से अयोध्या में दूध की नदी बहा सकता हूँ। उच्च वर्ण का हूँ। इस नगर का पुरोहित हूँ। इसका हित सोचना मेरा कर्तव्य है

न कि तुम्हारा। तू अत्यन्त नीच है। तू लोगों का धर्मभ्रष्ट करना चाहता है। विश्व का अमंगल चाहने वाला है। अतएवं आज से तुम्हारा नाम विश्वरथ न होकर विश्व-अमित्र होगा। विश्व-रथ नाम तुम्हारा इसलिए दिया गया था कि इस विश्व को तू अपने ज्ञान रूपी रथ पर आरुढ़ कर आगे बढ़ायेगा परन्तु तूने धर्म पर बोलकर धृष्टता की है। विश्व का दुश्मन है। अमित्र है। आज से विश्व के लोग तुझे विश्व-अमित्रा के नाम से जानेंगे।

विश्व-रथ ने नम्र भाव से प्रति उत्तर देना चाहा कि महाराज जाति कब से आ गयी? कहाँ से आ गयी? कौन लाया है? आप इस तरह हमारी मानव संस्कृति को मत तोड़ो। बँधे रहने दो, एक ही सूत्र में। देखो तुम ही वेश्या पुत्र हो। तुम्हें विद्वान समझकर ही अयोध्या में शिक्षण कार्य दिया गया। धीरे-धीरे यहाँ की राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति में भी हस्तक्षेप ही नहीं किया वरन् उसे बुरी तरह प्रभावित भी किया। यहाँ के ऋषि, जन-साधारण प्रजा या राजा तक एक पत्नी से शादी करते हैं। पति-पत्नी दोनों मिलकर पूरा होते हैं। दोनों साथ-साथ पूर्णत्व को प्राप्त करते हैं। यही है हमारा मानव धर्म। आप ही बोलो, आपकी कितनी स्त्रियाँ हैं? कौन-कौन हैं? इसका पता सत्यव्रत को भी नहीं है। आप यज्ञ के माध्यम से पशु की बलि देते हो। सोमरस बनवाते हो। देव एवं यक्षों को आमन्त्रित करते हो। क्या यह उचित है? क्या होगा मानव सभ्यता का भविष्य? कभी आपने हमारे स्थान पर खड़ा रहकर सोचा है? हमारी सभ्यता, संस्कृति बदसूरत होती जा रही है। नवयुवक कुंठा के शिकार होते जा रहे हैं। भारत भू-खण्ड का भविष्य अन्धकारमय होता जा रहा है। आप ही बताओ, आपके विद्यालय से आज तक कौन विद्यार्थी ऐसा निकला है जो धर्म की धुरी हो, धर्म का नियामक हो। अस्त्र-शस्त्र का ज्ञाता हो। शरीर में ओज हो। पुरुषत्व हो। स्वयं अपने एवं अपनी संस्कृति के विषय में सोचने में सक्षम हो। यदि उचित दिशा-निर्देशन हो ही जाता तो हम लोग इस तरह सोचने को बाध्य नहीं होते। उल्टे आपने हमारा ही अन्न खाकर, हमारे भू-भाग में रहकर हमें आपस में तोड़ना सिखाया, तथाकथित ऊँच-नीच का पाठ पढ़ाया। हमें ही विश्व अमित्र कह दिया। खैर आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूँ, होगा वही जो आप चाहते हैं। हालांकि यह भी सत्य है कि अभी तक आपका भी अन्वेषण मानव हित के लिए कुछ भी नहीं है। अभी तक आपके द्वारा मानव संस्कृति को अतुलनीय क्षति हुई, परन्तु वर्तमान अवधि में अवश्य ही आप शक्तिशाली हो। चूँकि देव यक्ष लोग आपके साथ हैं। अयोध्या अभी दीन-हीन बना हुआ है। हर स्थिति में आपकी तरफ मुखातिब हो रहा है। आपने इसका अपना कुछ रहने

ही नहीं दिया। अभी अयोध्या की स्थिति अत्यन्त दीन-हीन अकिंचन् सी हो गयी है। न कोई प्रबुद्ध रह गया है। न ही इसका अपना कोई चरित्र। जबकि मानव संस्कृति की सबसे बड़ी धरोहर चरित्र ही है। यहीं की नारियाँ सतीत्व जानती हैं। यहीं के पुरुष ब्रह्मत्व जानते हैं। देव यक्ष संस्कृति में सतीत्व, चरित्र, ब्रह्मचर्य नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। वहाँ सभी कुछ भोग्या-भोग ही है, जिसके प्रचारक होकर आप यहाँ केन्द्र स्थापित किये हैं। आपका आश्रम तप-स्थल न होकर भोग-स्थल हो गया, जहाँ से आप सृजन करते हो, केवल भोग-वृत्ति को। आज जरा ठण्डे मन और मस्तिष्क से सोचो, किसका कल्याण होगा इससे? हाँ आपका प्रचार तंत्र (आकाशवाणी) वाहन तंत्र (विमान) अवश्य विकसित हैं जिससे आप झूठ को सत्य का जामा पहना देते हो। सत्य बेचारा मूकदर्शक बनकर रह जाता है। यह भी सम्भव है हमारे इस नम्र निवेदन को कल और अच्छी तरह से प्रचारित करा दें। अपने लेख में इसे और तरह से उद्धृत करा दें। चूँकि लेखन तंत्र भी तो आपके ही हाथ है।

वशिष्ठ का क्रोधित होना

वशिष्ठ के लिए यह अत्यन्त असहनीय हो गया। अपने ही ऊपर से सत्यासत्य का पर्दा उठते नज़र आया। ये सोचने लगे यदि इसे अभी दमन नहीं किया गया तो विद्रोह सम्भव है। अतः सत्यव्रत को फटकारते हुए बोले राजन् इस विश्व-अमित्र को शीघ्र ही राज्य से निष्कासित कर दो। हम से शास्त्रार्थ करने के पहले कह दो तप करे। मैं इस तरह के दुष्टों से मिथ्या बातें नहीं करता। इसकी उम्र तो अभी हमारे लघु पुत्र के बराबर भी नहीं। यह बहुत धृष्टता करता है। छोटे-मुँह बड़ी बातें। इसे अभी, इसी क्षण राज्य की सीमा से बाहर करो अन्यथा हमारे श्राप के भागी बनोगे। इसे कह दो हमारे विद्यालय परिवार पर उँगली उठाने के पहले एक भी विद्यार्थी को पढ़ा कर तो देख ले। यह बात करने में चतुर परन्तु इसकी प्रत्येक वाणी हलाहलयुक्त है। यह राज्य भी चाहता है, अस्त्र-शस्त्र भी, तंत्र भी। जो असम्भव है। बड़ी-बड़ी बातें करता है। यदि कुछ कर सकता है तो पहले करके दिखा। मिथ्या कपोल से क्या फायदा। फिर विश्वरथ से बोले-क्यों अयोध्यावासी को दिग्भ्रमित करते हो? अब बस करो अपनी बकवास। शीघ्र निकल जाओ, अयोध्या की सीमा से बाहर विश्व-अमित्र।

अब विश्व-रथ खिन्न मन, उदास स्थिति में अयोध्या से अपने राज्य में लौट आये। सोचने लगे सचमुच हमारा अपना अन्वेषण तो कुछ भी नहीं है। क्या मैं ऋषि नहीं बन सकता? क्या सचमुच मैं विश्व-अमित्र ही हूँ? क्या विश्व-मित्र नहीं बन सकता? क्या इस दल-दल से मानव संस्कृति को नहीं बचा सकता? क्या

मैं मात्र मूक दर्शक ही रह जाऊँगा? क्या सब कुछ भाग्य एवं नियति के ही भरोसे छोड़कर बैठ जाना पौरुषेय है? क्या सचमुच हमारे अन्दर कुछ है? उधर सत्यव्रत चाहते हुए भी कुछ प्रत्युत्तर नहीं दे सके। मन कुण्ठित हो रहा था।

विश्वमित्र का गृह त्याग

मन-ही-मन यह सोचते हुए कि मैं एवं अयोध्या पूरी तरह दल-दल में फँस गया है। अब फँसते ही जाना भविष्य है। कुछ नज़र नहीं आता। भविष्य मुझाया हुआ प्रतीत हो रहा है। तंत्र के नाम पर अविद्या तंत्र का प्रचार-प्रसार हो रहा है। युवा मन उसी कुण्ठा से ग्रसित होता जा रहा है। विश्व-रथ यह ठीक ही समझ रहे थे। यदि किसी को गुलाम बनाना है तो उसकी सभ्यता, संस्कृति को बदल दो। वह व्यक्ति, वह देश सदा के लिए मानसिक रूप से युगों-युगों तक गुलाम हो जायेगा। आत्म-सम्मान खो देगा। वंश भोग रूपी दरिया में बहते ही जायेगा। अनन्त काल तक। ये दोनों अपने-अपने शयन कक्ष में रात्रि-भर सोचते हैं। दोनों की सोच एक थी। उद्देश्य एक था, परन्तु दिशाएँ भिन्न थीं। विश्व-रथ रात्रि भर सोचने के बाद प्रातः मलीन नहीं था। ओज से भरा था। नयी आशा की किरण नज़र आ रही थी। चेहरा मुस्करा रहा था। सम्भवतः अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का कोई सूत्र पा लिया था। अतएव सुबह ही अपने मन्त्री को सन्देश भिजवा दिया कि आज राज्यारोहण समारोह होगा। अपने लड़के को राज्य तिलक देकर मैं तप के लिए प्रस्थान करूँगा। राज्य की जनता अवाक् रह गयी। आखिर इतने अच्छे शासक कर्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण, प्रजा के दुःख से दुखी, प्रजा के ही सुख से सुखी, प्रजा से पुत्रवत सम्बन्ध रखने वाले को हो क्या गया? हम लोग तो सोच रहे थे कि हमारी विश्व समस्या को अपने ज्ञान रूपी रथ पर बैठाकर हांक ले जायेंगे अपने गंतव्य स्थल तक। पर हो क्या गया? खैर सोच के धनी, दृढ़प्रतिज्ञ विश्व-रथ विश्व के मंगल कामना हेतु छोटे देश को परित्याग करना ही श्रेयस्कर समझे। प्रजा एवं देश के कर्मचारियों के नहीं चाहते हुए भी अपने अठारह वर्षीय पुत्र को राज्याधिकारी बना दिया। अपना मुकुट उसके माथे पर रख दिया। साथ ही बोले देखो वत्स वही करना जिसमें राज्य की प्रजा का मंगल हो। मानव संस्कृति एवं तंत्र विद्या को अपनाते हुए पूर्णरूपेण धर्म में अवस्थित होकर धर्म का राज्य करना। जिससे मैं निश्चित होकर तप कर सकूँ। कुछ पा सकूँ। जिससे सम्पूर्ण विश्व का मंगल हो सके। जिससे इस पृथ्वी पर समरसता की ज्ञान गंगा बह सके। जिस गंगा में सभी स्नान कर सम्यक् ज्ञान को उपलब्ध हो सकें। यही है हमारा लक्ष्य।

विश्वमित्र का तप करना

विश्व-रथ, विश्व-अमित्र रूपी श्राप ले विश्व मंगल की कामना में विभिन्न जंगलों में तप करते हुए कण्डव वन पहुँच गये। वे हर समय स्थान बदलते रहते, चूँकि वशिष्ठ के इशारे पर देवेन्द्र उनके तप (अन्वेषण) में बाधा उपस्थित करते। कण्डव वन में घोर तप में लीन हो गये। इधर देवेन्द्र ने अपने दूतों से खोज कराना शुरू कर दिया। चूँकि वे जानते थे कि इसका तप रूपी अन्वेषण देव संस्कृति के लिए महंगा पड़ सकता है। अतएव किसी भी तरह विघ्न उपस्थित करना एवं उन्हें बदनाम करना अपना कर्तव्य समझ लिए थे। उनके तप से कण्डव वन में एकाएक आमूल परिवर्तन-सा आ गया। पेड़-पौधे अपना समय भूलकर फल प्रदान करने लगे। हवा में शीतलता आ गयी। पशु-पक्षी परस्पर बैर भूलकर एक साथ रहने लगे। विश्व-रथ के चारों तरफ प्रकाश की आभा बन गयी। जीव-जन्तु उनके दर्शन मात्र से धन्य होने लगे। सिंह से लेकर खरगोश तक उनके सान्निध्य के लिए तड़प उठे। मानो तप रूपी पवित्र-प्रेम की नदी बह चली। उसी नदी में वहाँ से कुछ दूर रह रहे ऋषि कण्डव भी बह गये। वे अपने परिवार एवं शिष्यों समेत उनके दर्शन को पहुँचे। विश्व-रथ मौन सत्संग का ही लाभ सबको देते। अपने अन्दर के अन्वेषण में सतत् लीन रहने लगे। इनकी ख्याति सहसा बढ़ गयी। कोई बाबाजी गज़ब का तप कर रहा है। मानो उसके इशारे पर सृष्टि सब कुछ करना चाहती है। उसका न कोई नाम है, न कोई घर। बस तप ही मानो सब कुछ है।

वशिष्ठ द्वारा सत्यव्रत को राज्यच्युत करना एवं स्वयं राजा बनना

इधर सत्यव्रत वशिष्ठ की प्रतिदिन की मनमानी से खिन्न हो गया। एक दिन उनके आश्रम में जाकर उन्हें समझाने का प्रयास किया परन्तु परिणाम निकला उल्टा ही। वशिष्ठ समझ गये कि इसकी भी बुद्धि मारी गयी है। यह हमारे यज्ञ में रुचि नहीं रखता, उल्टे हमें परित्याग करने का उपदेश देता है। वशिष्ठ उन्हें स्वर्ग भेजने का लालच दिए परन्तु वह भोगवादी स्वर्ग जाने से स्पष्ट शब्दों में मनाही कर दिए। वशिष्ठ समझ गये कि अब कुछ करना ही पड़ेगा। अतएव उस राज्य के सभी सभासदों को यज्ञ एवं तथाकथित स्वर्ग के लालच में मिला लिए। दूसरे ही दिन सभागार में सत्यव्रत के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दिया गया कि वह राजा भ्रष्ट हो गया है। धर्म में अभिरुचि नहीं रखता। यज्ञ नहीं

मानता। स्वर्ग की कामना नहीं करता। नर्क से नहीं डरता, वेद नहीं मानता। अतः यह इस पवित्र नगरी के राज्य का उत्तराधिकारी होने के लायक नहीं है। उन्हें पदच्युत कर दिया गया। पुनः वशिष्ठ ने सोचा कि यदि यह इस नगर में रहा तो कभी भी विद्रोह करा सकता है। अतएव उसे निष्कासन की भी सज़ा सुना दी। राजा सत्यव्रत को राज्य छोड़ना पड़ा। वे अपने गुरु की खोज में जंगल-जंगल भटकने लगे। ऋषि-मुनि के आश्रम पर कंद-मूल खाकर जीवन-यापन करने लगे। गुरु के बताये तंत्र को जीवन में उतारने का प्रयास करने लगे। धीरे-धीरे मन तप में रमने लगा। इनकी भी तप की ख्याति बढ़ने लगी। इधर वशिष्ठ स्वयं अयोध्या के राजा बन बैठे। अब अयोध्या ने देवेन्द्र एवं यक्षेन्द्र की राजधानी का रूप धारण कर लिया। यज्ञ के नाम पर नये-नये दुष्कर्म होने लगे। यहाँ स्वेच्छाचार बढ़ गया। तब जनता का ध्यान टूटा। जगह-जगह वशिष्ठ के खिलाफ सभायें होने लगीं। वशिष्ठ को बाहर करने की आवाजें उठने लगीं। अब कोई कानून व्यवस्था नाम की चीज नहीं रह गयी। सभी मनमानी करने को स्वतंत्र हो गये। पारिवारिक बन्धन ध्वस्त हो गया। सारी जनता ने एकत्र होकर वशिष्ठ को घेर लिया एवं स्पष्ट शब्दों में कहा, तुम हमारा राजा वापस करो या तुम यहाँ से वापस जाओ। इस उग्र रूप को देखकर वशिष्ठ एक बार कांप गये। उन्होंने झूठा आश्वासन दिया कि सत्यव्रत तप में गये हैं। वे तुरन्त ही आकर गद्दी सम्भालेंगे। उन्हें हटाया नहीं गया बल्कि स्वेच्छा से गये हैं। जन-प्रतिनिधि अब यह मानने को तैयार नहीं थे। वशिष्ठ ने जन आक्रोश शान्त करने हेतु अपने बड़े लड़के के साथ अयोध्या के जनप्रतिनिधि को उनके तपस्थल के लिए रवाना किया। साथ ही शक्ति को समझा दिया कि सत्यव्रत को यह जानकारी दे देना कि वशिष्ठ स्वयं आपको राज्य लौटाना चाहते हैं एवं अब आप धर्मज्ञ की तरह पिताश्री के आदेशानुसार राज्य का संचालन करें। पिताश्री ने भी आपकी इच्छाओं का सम्मान करने का वादा किया है। इस तरह शक्ति अयोध्या के जन-प्रतिनिधि के साथ जाकर समझा-बुझा कर सत्यव्रत को लाये एवं पुनः उन्हें राज्यारूढ़ किया।

विश्वमित्र एवं मेनका

उधर विश्व-रथ अपने अलौकिक तप शक्ति से कण्डव वन को आलोकित किये थे। इस आलोक को वशिष्ठ बर्दाश्त नहीं कर सके। अतएव स्वर्ग (चीन) में जाकर देव-यक्ष की सामूहिक सभा की। जिसका विचारणीय विषय था “विश्व अमित्र को भ्रष्ट करना।” किसी भी तरह उसकी योग-तप शक्ति को, अन्वेषण को नष्ट करना। अन्यथा पूरे विश्व से देव संस्कृति समाप्त कर सकता है। यह

व्यक्ति सदाशिव से भी ज्यादा खतरनाक हो सकता है। चूँकि सदाशिव सीधे थे, भोले-भाले थे। उन्हें किसी भी तरह खुश किया जा सकता है। उन्हें भुलावाया जा सकता है परन्तु यह तो किसी के भुलावे में भी आने वाला नहीं। युद्ध में मारा भी नहीं जा सकता चूँकि यह अप्रतिम योद्धा भी है। यह भी ठीक ही कहा गया है कि **“जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।”** उनके सामने सारी समस्याओं का समाधान है- “काम”, “मदिरा” जैसे आधुनिक देवता (नेतागण) भी इसी अस्त्र-शस्त्र का सहारा ले कोई काम सम्पन्न कराना चाहते हैं। बस सर्वसम्मति से आदेश दिया गया कामदेव को कि तुम अपने अस्त्र-शस्त्र के साथ, सेना (अप्सरा) लेकर शीघ्र कण्डव वन को प्रस्थान करो। किसी भी तरह विश्व-अमित्र को भ्रष्ट करो। पृथ्वी पर यह बता दो कि वशिष्ठ यों ही इसे अमित्र नहीं कहे। कामदेव पहुँच जाते हैं ऋषि आश्रम के पास। उनके तप-तेज को देखकर पहले घबरा जाते हैं। उनकी कामशक्ति उनके तेज को देखते ही पथरा जाती है। यानी रम्भा रूपी अप्सरा पत्थरवत् हो जाती है। जबकि पूरा जंगल ही काममय हो गया है। सभी एक-दूसरे को देखकर मोहित हो रहे हैं। पशु-पक्षी तक मोह से ग्रस्त होकर सर्वत्र काम ही काम देख रहे हैं। उधर विश्व-रथ एकासन पर अविचल निर्विघ्न ध्यानरत हैं। अपने आप में आनन्दित हैं। जो साधक अपने अन्दर की स्त्री को देख लेता है क्या उसे बाह्य स्त्री अच्छी लगेगी? क्या जो साधक अपने अन्दर की स्त्री से मिलकर अर्द्ध-नारीश्वर को साक्षात्कार कर लिया, उसे बाहर का काम मोहित कर सकता है, कदापि नहीं? कामदेव को इसका अनुभव भी शिव के साथ है। जबकि शिव का ज्ञानरूपी त्रिनेत्र खुलते ही कामदेव भस्म हो गये थे। किसी भी विद्या तंत्र के साधक का ज्ञान रूपी त्रिनेत्र खुलने पर काम भस्म हो जाता है। काम को टिकने का कोई उपाय ही नहीं है। यदि काम टिक गया तो त्रिनेत्र को उपलब्ध नहीं हुआ है। जैसे अन्धकार-प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रह सकते। उसी तरह ज्ञान काम एक साथ नहीं रह सकते। ज्ञान के साथ तो रहता है शुद्ध वैराग्य। तब वह उपलब्ध हो जाता है शुद्ध ब्रह्मचर्य को। जहाँ से प्रेम का निर्झर स्वतः ही निकल पड़ता है, जिस निर्झर का जल चाहे जो जी भर कर पीये।

कामदेव को कोई युक्ति नहीं सूझ रही है। अतएव देवेन्द्र एवं वशिष्ठ के परामर्श से लोकनिन्दा कराने हेतु दूसरी ही रणनीति अपनाई गयी। वह रणनीति सदाशिव से भी भिन्न एवं अत्यन्त खतरनाक। रूपसी मेनका को समझाया गया कि तू तपस्वनी का रूप ग्रहण कर उस व्यक्ति से तंत्र साधना की दीक्षा ग्रहण कर, परन्तु सावधान तू भी साधना मत करना। वह साधना अत्यन्त खतरनाक

है। अन्यथा तू भी नहीं बचेगी। साधना तुम्हारा नाटक। प्रेम-प्रसंग का खिलवाड़ ज्यादा। तुम उसमें मत फँसना बल्कि उसे फँसाना। जब वह ध्यानस्थ हो जाये तब तुम आस-पास के अन्य ऋषि आश्रम में जाकर अपने को उनकी पत्नी बताना। आस-पास के गाँव नगर में भी जाकर अपना सम्बन्ध उनसे बताना। साधना का नाटक रहेगा। उसके खिलाफ दुष्प्रचार ज्यादा रहेगा। तुम्हारी मदद में स्वयं कामदेव हर समय रहेंगे। इनकी पत्नी रति हमारे साथ स्वर्ग में रहेगी। इस तरह मेनका ने अपने को बलि का बकरा समझकर ऋषि के चरणों में जाकर प्रणाम किया। सामने ही हाथ जोड़कर बैठ गयी। मानो ऋषि से तप-साधना की प्रार्थी हो। सन्ध्या समय जब उनका ध्यान टूटा। वे सीधे नदी के किनारे गये जहाँ स्नान कर सूर्य का तर्पण कर पुनः अपने आसन पर बैठ गये। मेनका अब उनके आश्रम पर झाडू देने लगी एवं रात्रिभर उनके उठने का इन्तजार करती रही। वह जहाँ भोग प्रधान जगहों में रही, उसके विपरीत वहाँ कभी मच्छर काटते तो कभी कीड़े का भ्रम, तो कभी बाघ सिंह का। किसी तरह रात्रि व्यतीत की, परन्तु वह महायोगी पुनः प्रातः चार बजे उठा एवं नदी में स्नान कर सूर्य को तर्पण किया। तब तक मेनका उनका ध्यान अपनी तरफ खींचने के लिए उनकी लंगोटी वगैरह साफ करने का उपक्रम करने लगी, परन्तु विश्व-रथ बिना बोले आश्रम पर आकर पुनः ध्यानस्थ हो गये। अब मेनका बहुत कठिनाई में पड़ गयी। क्या करे? उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। अन्दर ही अन्दर भयभीत रहती। परन्तु अब दो-चार दिन में वह जान गयी कि किस समय ऋषि उठते हैं, किस समय स्नान तर्पण करते हैं। उसी समय वहाँ जाना उचित समझती। बाकी समय कुछ ही दूरी पर अवस्थित कामदेव के अस्थायी निर्मित टेण्ट के महल में रहने लगी। वहाँ भोग का सब साधन मौजूद था। वहाँ संचार-सुविधा वगैरह सब थी। दिन के समय कामदेव एक दिशा में, तो मेनका दूसरी दिशा में (आस-पास के गाँव में) उस ऋषि के विषय में कोरी कल्पित कहानियाँ प्रेम-प्रसंग जा-जाकर सुनाने लगे। मिथ्या भ्रामक प्रचार करने लगे। लोग उस तपस्वी के सम्बन्ध में पहले तो सुनकर मिथ्या ही समझे परन्तु अपने सुन्दर रूप, वाक्पटुता की क्षमता से दोनों ने लोगों को बुरा सोचने पर मजबूर कर ही दिया। इधर विश्व-रथ का जब ध्यान एक दिन टूटा तो अनायास उसका सेवा भाव देखकर पूछ ही डाले। तुम कौन हो देवी? क्यों यहाँ आयी हो। बस मानो मेनका का तप पूरा हो गया। वह तो मात्र बात ही करना चाहती थी। नम्र भाव से बोली ऋषिवर मैं एक अभागिन औरत हूँ। भाग्य की मारी हूँ। ऋषि पुत्री हूँ। आपका नाम सुनकर तंत्र विद्या सीखने के लिए आयी हूँ। परन्तु आप हर समय ध्यान

में रहते हैं, इसलिए मैं आस-पास सफाई करना ही अपना धर्म समझती हूँ। सोचा जब ऋषिवर प्रसन्न होंगे। हमें भी तंत्र विधि बताकर अनुग्रहीत करेंगे। ऋषिवर उसे उचित पात्र समझ आश्रम का द्वार उसके लिए खोल दिए। अब वह स्नान को जाते तो वह छाया की तरह नदी तट पर जाती। उनका लंगोट साफ करती। आश्रम में झाड़ू लगाती। जब ध्यान में जाते तो वह आस-पास के गाँव में जाती। रात्रि पहर कामदेव के साथ विश्राम करती। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो गये। तब विश्व-रथ समझे कि वह उचित सुपात्र साधिका है। तब दिन में जब ध्यान टूटता; यदि वह वहाँ रहती, तब उससे कुछ परमात्म चिंतन की बातें करते। वे तो अब ज्ञान के अविरल झरना हो गये थे। जो झरता रहता, सामने वाला चाहे पी ले या स्नान कर ले या किनारे बैठकर मात्र देखने का उपक्रम करे। परन्तु उनका तप-ज्ञान देखकर मेनका टूट सी गयी थी। उसका मन भोग से विमुख-सा होने लगा था। अब वह भी साधना में उतर जाना चाहती थी। अब उसका ध्यान भी तड़क-भड़क जीवन से हटने सा लगा था। एक दिन वह कामदेव से कहने लगी अब आप स्वर्ग लौट जायें। हमें छोड़ दें इस जंगल में। जहाँ शेष जीवन तप में व्यतीत करूँगी। यह सुन कामदेव शोक संतप्त हो गये। तुरन्त अपना सन्देश देवेन्द्र को दिए। देवेन्द्र शीघ्र ही रात्रि प्रहर तक पहुँच गये। मेनका से पूछा क्या मेनका तुम पर हम गर्व करते हैं। परन्तु अभी तक यह छोटा सा काम नहीं कर पायी। उल्टे तू ही टूट गयी। बारह वर्ष का समय भी समाप्त हुआ। यदि तुम टूट गयी तो देव संस्कृति ही टूट जायेगी। तुम ही तो हमारी संस्कृति की अप्रतिम धरोहर हो।

मेनका गम्भीर स्वर में बोली वह व्यक्ति साधारण योगी ही नहीं: वह तो ब्रह्म स्वरूप हो गया है। एकाग्रचित्त उसे देखने मात्र से मन निर्मल हो जाता है। भाव शून्यता आ जाती है। देखिये, मैं माँ भी कामदेव के सम्बन्ध से बनने वाली हूँ। अतएव मुझ में ममत्व का भी जन्म हो रहा है। आपके स्वर्ग में माँ बनने ही नहीं दिया जायेगा। अतएव मुझे क्षमा करें। मुझे नहीं तो मेरी भावी सन्तान के नाम पर ही सही। अब देवेन्द्र और ही चक्कर में पड़ गये। तब तक सुबह होने को आ गयी। मेनका प्रतिदिन के नियमानुसार ऋषि आश्रम पहुँच गयी। जहाँ वे स्नान को चले गये थे। मेनका उनकी सेवा में लग गयी। मन ही मन ऋषि सेवा एवं स्वयं भी तप में जीवन बिताने का संकल्प लेने लगी। इधर देवेन्द्र की चिन्ता बढ़ गयी। अतएव इस विपत्ति में उन्हें एक राह सूझी कि कामदेव कुछ चन्द माह यहाँ रुकें एवं आस-पास प्रचारित करा दें कि विश्व-रथ को मेनका के गर्भ से सन्तान होने वाली है। ज्योंही बच्चे का जन्म हो वे सावधानीपूर्वक

मेनका को साथ लेकर ऋषि की ध्यानावस्था में बच्चे को उनके आश्रम में छोड़कर मेनका को मेरे यहाँ वापस भेज दें। अन्यथा हो सकता है ममता के दुष्कर्म में फँस जाये। अतः कामदेव से बोले- संतानोत्पत्ति के बाद मैं वहाँ से तुम्हारी पत्नी रति को भेज दूँगा। तुम कुछ दिन रुक कर चारों तरफ यह प्रचारित कर देना कि ऋषि के आश्रम में जाकर देखो। उन्हें मेनका से एक बच्चा हुआ है। मेनका भी अब उनके दुष्कर्मों से तंग आकर भाग गयी। यह ऋषि नहीं लम्पट दुष्कर्मों हैं। यह समझा कर देवेन्द्र चले गये। रात्रि में जब मेनका आयी तो देवेन्द्र के सम्बन्ध में जानना चाहा। कामदेव मौन रहकर ही टाल गये।

मेनका का कामदेव के द्वारा पुत्री को जन्म देना

समयानुसार मेनका को कामदेव एवं रति के सान्निध्य में पुत्री उत्पन्न हुई। मेनका अपनी पुत्री के प्रेम ममत्व में विह्वल हो गयी। उसके जीवन में प्रथम बार ममता का जन्म हुआ था। इसी से जब तक किसी भी औरत को बच्चा नहीं होता तब तक वह वास्तविक ममत्व को नहीं पहचानती। नारी में पूर्णत्व नहीं आता। नारी सृजन शक्ति होती है। सृजन उसका स्वभाव होता है। जो नारी स्वयं सृजन कर सकती है वह पत्थर की मूर्ति क्यों बनायेगी? इसी से बड़े-बड़े मूर्तिकार, चित्रकार, संगीतज्ञ पुरुष ही हुए हैं। नारी नहीं। चूँकि पुरुष में सृजन की क्षमता है ही नहीं। अतएव वह सृजन बाहर खोजता है। वह बहिर्मुख हो जाता है। नारी गर्भ में बच्चे के आते ही उसे अलग नहीं समझती। वह उसके ही शरीर का अभिन्न अंग हो जाता है। जब वह जागती है तो, वह भी जागता है। जब वह सोती तो वह भी सोता है। जब वह खाती है तो वह भी खाता है। अपने अन्दर पूर्ण बच्चे का सृजन अपने ही श्वास अपने ही खून से करती है। यही है प्रकृति की सृजन क्षमता। सन्तान का सृजन करते ही स्त्री में परिवर्तन हो जाता है। जो पहले थी, अब वह नहीं है। उसकी चंचलता शान्ति में बदल जाती है। उसका प्यार-ममत्व में बदल जाता है। उसका क्रोध स्नेह में रूपान्तरित हो जाता है। वह घटना मेनका के साथ भी हुई। परन्तु पिता कामदेव को कोई आकर्षण नहीं था उस पुत्री से। यही अन्तर है एक माँ और पिता में। पिता का ध्यान हर समय अपने तथाकथित पद-प्रतिष्ठा पर रहता है। समाज के सामने एक दूसरा ही नकाब होता है। अतएव किसी तरह मेनका को बेहोश कर विमान से स्वर्ग भेज दिया गया। शेष कार्य स्वयं कामदेव रति के माध्यम से पूरा कर, वे भी स्वर्ग को चले गये। यही है देव चरित्र। झूठी प्रतिष्ठा के चलते अपने सन्तान रक्त का भी ख्याल नहीं। क्या होगा उसका भविष्य? चूँकि सन्तान उसकी कामना नहीं, वह तो उनके ऐश का बाईप्रोडक्ट है। अनायास का प्रतिफल है।

शकुन्तला

जब वह बच्ची क्रन्दन करती है, जिसे इस पृथ्वी पर आते ही माँ-बाप परित्याग कर भाग खड़े हुए। अपना पाप दूसरे के सिर मढ़ दिया। आस-पास दुष्प्रचार भी कर दिया। आखिर इस बच्ची का क्या दोष है? जो माँ का स्तन-पान भी नहीं कर सकी। महा-तपस्वी का ध्यान टूटता है। वह उस अबोध बच्ची को अपने आश्रम में देख चौंक जाते हैं। वह रोती ही जाती है। विश्व-रथ पुनः ध्यान करते, संकल्प लेते हैं। आखिर यह बच्ची कैसे आ गयी? कौन है वह? देव माया तो नहीं। ध्यान से सब कुछ जान लेते हैं, देख लेते हैं। मन-ही-मन देव माया को देखकर मुस्कुरा देते हैं। कह उठते हैं कितने निष्ठुर हो तुम? कितने हृदयहीन हो? यही है तुम्हारी सभ्यता? यही है तुम्हारी संस्कृति? ठीक है। जब हमारा नाम दे ही दिया। हमारी पुत्री बना ही दिया तो मैं इतना कायर नहीं हूँ, भिखारी नहीं हूँ। यह आज से मेरी ही पुत्री है, रहेगी। देखें कि देवेन्द्र से तो यह पक्षी ही करुणामय है, जो अपने पंख से बच्ची को छाया प्रदान कर रही है। अतएव अब यही पक्षी इसकी माँ हुई। माँ ही तो छाया प्रदान करती है। अब तुम्हारा नाम होगा इस शंकु पक्षी के नाम पर शकुन्तला। यानी तुम शंकु नामक पक्षी के तल में पड़ी हो। विश्व-रथ उस बच्ची को अपनी गोद में उठा लेते हैं। पिता का प्यार देते हैं। वह बच्ची चुप हो जाती है। आतुर आँखों से देखने लगती है। विश्व-रथ को इस बच्ची के पालन-पोषण की चिन्ता होती है। कहाँ रखें? किसे पालन-पोषण हेतु दें? कौन ममत्व अब इसे प्रदान कर सकता है? इत्यादि प्रश्न उनके मन में आने लगे। तब तक कण्डव ऋषि अपने परिवार के साथ यह घटना देखने ही आ गये। चूँकि उनसे भी कहा गया था, परन्तु कण्डव ऋषि भी अपने तप-बल से सत्य को जान गये। विश्व-रथ कण्डव को देख प्रसन्न हुए एवं उन्होंने उस बच्ची को ग्रहण करने का आग्रह किया। कण्डव ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। परन्तु पिता के रूप में उस बच्ची का नाम अपने साथ जोड़ने में असमर्थता व्यक्त की। चूँकि उन्हें भी बदनामी का भय था। विश्व-रथ ने उनकी दुविधा को देख तुरन्त हल कर दिया, कण्डव तुम दुनिया वालों से कह देना, यह मेरी ही पुत्री है। मुझे अत्यन्त प्यारी है। इसके मंगल भविष्य के लिए मैं आशीर्वाद देता हूँ। इस वचन एवं आशीर्वाद के साथ शकुन्तला को कण्डव ऋषि को सौंप देते हैं। अब विश्व-रथ देवेन्द्र एवं वशिष्ठ की छाया से बहुत दूर चले जाना चाहते थे। उस स्थान का परित्याग कर दिया फिर भ्रमण करने लगे। अन्जान जगहों पर अन्जान की तरह। अपने में मस्त थे। अपने में आनन्दित थे। उन्हें न कोई चाह थी न ही कामना। घूमते-घूमते एक दिन पहुँच गये पुष्कर।

विश्वमित्र का पुष्कर जाना

पुष्कर का सुन्दर दृश्य देख वहीं बैठ गये। बैठते ही ध्यानस्थ हो गये। उन्हें मालूम हुआ यही स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है। उनका नियमित ध्यान चलने लगा। उनके ध्यान-तप की कीर्ति वहाँ भी फैलने लगी। दूर-दूर से लोग दर्शन के लिए आने लगे। पुष्कर का जल भी अत्यन्त पवित्र अमृतमय हो गया। उनके स्नान से वह अपने को धन्य समझने लगा। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी वैर भाव का त्याग कर दिए। अब विश्व-रथ यहाँ के लिए नये थे। अन्जान थे। परन्तु उनकी तपस्या ने सब को बता दिया कि यह कोई अलौकिक पुरुष है। अतएव उन्हें बाबा जी के नाम से सब पुकारने लगे। बाबा जी धीरे-धीरे आने वाले बच्चों को पढ़ाने भी लगे। उनका पढ़ाना, बच्चों की संख्या में लगातार वृद्धि होना ने एक स्कूल का रूप ले लिया। एक दिन प्रातःकाल ही सूर्य को अर्ध दे। सूर्य की प्रार्थना किये।

“इन्द्र तुम्यभिदद्रिवो ऽनत्तुं वज्रिन वीर्यम।

यह त्वं मायिनं मृगं, तमु त्वं माययावेधी अर्चन्तु स्वराज्यम्॥”

(ऋग्वेद 1/80/70)

अर्थात् हे पर्वत पर रहने वाले वज्रधारी इन्द्र (सूर्य) तेरा ही यह अजेय पराक्रम है कि तूने उस मायावी मृग (मेघ-मण्डल) को अपनी शक्ति से मार दिया। तेरा यह कार्य स्वराज्य की प्राप्ति के लिए ही था।

इस तरह जो भी उनके मुँह से निकलता वह वेदों की ऋचा हो जाता यथा

“ॐ आकृष्णेन राजसा वर्तमानों निवे शभन्नमृतें,

मृर्त्यव्व हिरण्ययेन सविता रथेनादेवोयाति भुवनानि पश्यत्।” (यजुर्वेद)

“ॐ ऊदुत्यंजातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्॥”

(सामवेद)

आगे चलकर इन दोनों वेदों की ही ऋचा सूर्य शान्ति मन्त्र बन गयी। इस मन्त्र को पढ़ सूर्य को प्रणाम करने से सूर्य शान्त हो जाता। उनका अरिष्ट समाप्त हो जाता एवं उनकी कृपा हो जाती। मन्त्र पर हम लोग आगे विचार करेंगे। विश्व-रथ पुष्कर में अन्वेषण कार्य जोर-शोर से करने लगे। ज़्यादा समय अन्तःपुर के ही अन्वेषण में लगाते। जैसे-जैसे अन्तःपुर में प्रवेश करते जाते वैसे-वैसे पाते अनन्त। एक-एक करके सारा रहस्य खुलता जाता। ज्ञात होता अनन्त का स्रोत। अनन्त से जुड़ते जाते या अपने अन्दर ही अनन्त को समाहित पाते। दिव्य आभा से भर जाते। मानो सृष्टि उनके एक इशारे पर सब कुछ करना चाहती

है। अब सृष्टि ही उनकी तरफ मुखातिब होती नज़र आती। उनकी इच्छा जानना चाहती। मानो विश्व-रथ की इच्छायें सदा-सदा के लिए समाप्त हो गयीं। अब उन्हें कोई अभिलाषा नहीं, कोई कामना नहीं। निष्काम तेज से परिपूर्ण सूर्य सदृश तप में लीन हो जाते। अब उनके शरीर के प्रत्येक रोवें-रोवें (Cells) से सत्यनाम ही निस्सरित होता। जो भी बोलते वह मन्त्र हो जाता। मानो चल रहे हों तो परम-पुरुष की तरफ बढ़ रहे हों। सो रहे हैं तो मानो परम-पुरुष को दण्डवत् किये हों। उनका भोजन करना परम-पुरुष को भोग लगाना ही प्रतीत होता। वे सत्याकार होते जा रहे थे। जिस किसी को पढ़ाते वे अपने को धन्य समझते। उनकी कीर्ति बाबाजी के नाम से इस पृथ्वी पर फैल जाती है। इसकी सूचना पुनः वशिष्ठ को मिलती है। कोई बाबा जी अपूर्व का तपस्वी पुष्कर में आ गया है। वे समझ जाते हैं कि वह कोई और नहीं विश्वमित्र ही होगा। पुनः वे स्वर्ग में देवेन्द्र से मिलकर उन्हें बताते हैं। देवेन्द्र अन्य देव-यक्ष गणों से बात करते हैं। उन्हें महसूस होता है यह ऋषि अत्यन्त खतरनाक है। अब कोई उपाय नहीं सूझता कि क्या किया जाये। देवेन्द्र सबको साथ लेकर पुष्कर पहुँच जाते हैं। सभी देव-यक्ष गण विभिन्न रूपों में इर्द-गिर्द रुककर उनके क्रियाकलापों का निरीक्षण करते हैं। कहीं कोई छिद्र खोज रहे हैं जिसके माध्यम से प्रवेश किया जा सके। उसे भ्रष्ट किया जा सके। वे लोग वहाँ वर्षों रुक जाते हैं, पर मिलता कुछ नहीं।

गायत्री का जन्म

एक दिन विश्व-रथ प्रातः ही स्नानादि से निवृत्त होकर ध्यान में थे कि अनायास ही उनके मुँह से एक मन्त्र निकल गया। उसके निकलते ही उनमें अनन्त ओज भर गया। वे वैसे हो गये मानो क्षण-भर पहले वे थे ही नहीं। मानो वे बिल्कुल बदले हुए साक्षात् सूर्य स्वरूप। ब्रह्म ही ब्रह्माकार हो अनायास ही उनके मुँह से निकल पड़ता है। जैसे अनायास ही प्रकृति कहीं से किसी पहाड़ से जल-स्रोत के रूप में निकले पड़े। पहाड़ तो निमित्त है। वह निकलने के लिए स्रोत खोज रहा हो। पात्र एवं समय के इन्तजार में हो, वैसे ही उनके मुँह से निकल गया एक दिव्य मन्त्र-

“**ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।**” है।

गायत्री का अर्थ “हम उस ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप जगत के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय कर्ता स्वयं प्रकाश स्वरूप के भजने योग्य कल्याणकारी तेज का ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को शुभ कार्यों में प्रेरित करें।” यह छन्द है।

इससे किसी देवी देवता का संबंध नहीं। यह पूर्ण ब्रह्म का द्योतक है। इसकी पूजा-हवन की प्रक्रिया भी जानने वाले अत्यल्प हैं। विश्वमित्र का अन्तर प्रकाश के ओज से भर जाता है। अपने आप में आनन्दित हो उठते हैं। मानो आनन्दपति से साक्षात्कार हो गया हो। ये आँख खोलते हैं। देखते हैं, जैसे अन्दर दिखा था। एक दिव्य शक्ति से सम्पन्न औरत रूप में। देवी रूप में। पूछ बैठते हैं आप कौन हैं देवी? देवी मंद-मंद मुस्कराते हुए कहती है “मैं आपकी ही शक्ति स्वरूपा पुत्री हूँ। चूँकि प्रथम बार इस सृष्टि में आपके शरीर-मुँह से निकली हूँ। अतः आपकी ही पुत्री हूँ।” ये आश्चर्य करते हैं, कुछ ही दिन पहले मेनका-काम की पुत्री को अपनी पुत्री माना था। जगत में मेरी खिल्ली उड़ाई गयी। पुनः यह क्या? वह गायत्री इनके मन की दुविधा को जानकर कह उठती है। आप जो भी चाहे मुझ से कह सकते हैं। मैं गायों में कामधेनु स्वरूपा, वृक्षों में कल्पवृक्ष, नदियों में गंगा, पर्वतों में हिमालय, योगियों में ज्ञान स्वरूप ही हूँ। आप जगत् का कल्याण कर सकते हैं। मैं यह जानती हूँ। आप चाहेंगे वही जिसकी जगत् को जरूरत है। अतएव हे ऋषिवर आप हमें ग्रहण करें। आपका हृदय शुद्ध हो गया है। चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं। आप आनन्द के स्वरूप हो गये हैं। मैं सदियों से प्रतीक्षारत थी इस धरा धाम पर आने के लिए। इस पृथ्वी के प्राणी आने वाले समय में त्रिविधि ताप से दुखी होंगे। उनके दुःख को शान्त करने का कोई भी और उपाय शेष नहीं रह जायेगा। गुरु शिष्य का उपकार करने में असमर्थ हो जायेंगे उल्टे शिष्य का शोषण करेंगे। शिष्य समेत गुरु कुमार्गी हो जायेंगे। पृथ्वी दुःख से भर जायेगी। उस दुःख का कारण स्वयं मानव अपने आप ही होगा परन्तु उसका कारण अन्यत्र खोजेगा। तंत्र की विधि को भूल जायेगा। सब मनमानी काल-कवलित हो जायेंगे। हे ऋषिवर कलियुग में तो पिता अपनी ही पुत्री को नहीं पहचानेगा। राजा प्रजा का भक्षण करेगा। रक्षक-भक्षक का रूप ग्रहण कर लेगा। अनाचार-व्याभिचार ही आधुनिक समाज का शिष्टाचार बन जायेगा। सभी लोग समानता के नाम पर व्यभिचारी हो जायेंगे। मातृत्व-सतीत्व पिछड़ापन का प्रतीक माना जायेगा। भोग वृत्ति ही आधुनिकता का प्रतीक होगी। पूरी तरह मानव संस्कृति तथाकथित देव-यक्ष संस्कृति से आवृत्त हो जायेगी। जो इसके विरुद्ध बोलेगा उसे मूर्ख कुण्ठाग्रस्त कहा जायेगा। उस समय मेरी आवश्यकता बढ़ जायेगी। जो भी व्यक्ति इस मन्त्र से मेरा स्मरण करेगा उसे त्रिविध कष्टों से छुटकारा दिलाकर परम-पुरुष का साक्षात्कार करा दूँगी। उसे मंदबुद्धि से पवित्र कर सुसंस्कारों से पूर्ण कर दूँगी। अतएव हे ऋषिवर आप ही इस मानव व पृथ्वी

के कल्याण हेतु मेरा माध्यम बनें। आज से आप विश्व के मित्र होंगे। चूँकि विश्व का कल्याण आप में ही सन्निहित है। अतएव अब आप विश्व-मित्र होंगे। यह भी सत्य है कि आपने अपना सारा जीवन विश्व के कल्याण में ही लगाया है। आप से कभी किसी का अहित नहीं हुआ है न ही भविष्य में होगा। आप तो कल्याण-मूर्ति हैं। इतना कहकर वह गायत्री ऋषि के त्रिनेत्र में प्रवेश कर गयी। उनका शरीर सूर्य के तरह प्रकाशवान हो गया। उनका तेज शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व में फैल गया।

विश्वमित्र द्वारा गायत्री यज्ञ करना

अब विश्वमित्र प्रसन्नचित अपने शिष्यों की तरफ लौटते हैं। देखते हैं अपार जन-समूह उनकी तरफ ही उमड़ता आ रहा है। मालूम होता है सारी नदियाँ अपनी दिशा भूलकर सही दिशा खोजकर विश्वमित्र के चरणों में ही विश्राम करना चाहती हैं। चारों दिशाएँ इनके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रही हैं। मानो सूर्य ठण्डा हो गया हो। विश्व-मित्र मुस्कुराते हुए बोल पड़े वह दिव्य गायत्री मन्त्र। उस छंद के आलोक में सभी आलोकित हो गये। सभी श्रद्धा से, प्रेम से उनके चरणों में झुक गये। उनके झुकते ही उन्हें यह एहसास हो रहा है कि उनके शरीर का सारा मलावरण बाहर निकल रहा है। दिव्यात्मा से दिव्य प्रकाश सभी के अन्दर प्रवेश कर रहा है, जिससे वे प्रकाशित हो रहे हैं। जैसे एक महादीप, अखण्ड दीप से सैकड़ों, हजारों दीप जलाये जायें। सारे दीप धन्य-धन्य हो जाते हैं। अपने आप में हर्षित हो जाते हैं। सभी स्व आलोक में उस दिव्य महामानव अखण्ड ज्योति को श्रद्धा से नमन करते हैं। स्तुति करते हैं। सारा वातावरण बदल जाता है। सभी झूम उठते हैं। देव-गण, यक्ष-गण यह स्थिति देखकर भयातुर हो उठते हैं। वे भी अनायास ही पुष्प वृष्टि करने लगते हैं। स्तुति करने लगते हैं। उनका गुणगान करते हुए अपने-अपने धाम को लौट जाते हैं।

विश्व-मित्र जन-समूह के आग्रह पर इस पृथ्वी पर पहली बार गायत्री का महायज्ञ कराते हैं। यह यज्ञ आज तक के यज्ञों से भिन्न था। इसमें किसी प्रकार की हिंसा नहीं थी। वर्णव्यवस्था नहीं थी। ऊँच-नीच नहीं थी। विशुद्ध ज्ञान प्रधान यज्ञ था। इस विचित्र यज्ञ को देखने के लिए पूरे सृष्टि के, पूरे विश्व के मानव तो आमन्त्रित थे ही। देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नाग सभी किसी-न-किसी रूप में पहुँच गये। पुष्कर उस जनसमूह के लिए छोटा पड़ने लगा। इस यज्ञ के निमित्त विश्वमित्र अपने शिष्यों को पहले ही प्रशिक्षित कर दिए थे कि-

गायत्री कोई देवी नहीं है जैसे आत्मा देवी नहीं है, विद्युत् ऊर्जा देवी नहीं है। आत्मा के लिए देवी का सम्बोधन नहीं होता। यह पूर्णतया ऊर्जा, प्रकाश

है। गायत्री भी सम्पूर्ण को संचालित करने वाली ऊर्जा है। जैसे ही इसको हम कोई रूप देते हैं। उसे समय-काल-स्थान में बाँध देते हैं। जबकि यह शक्ति सभी को अपने में रखती है। निःशब्द से शब्द, निराकार से आकार आता है।

शिष्यगण ज्यों ही बोलते हैं

व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्नून विशो न युक्ता ऊषको यतन्ते।

सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सिवतेव बाहू॥

(ऋग्वेद 7/79/2)

यानी उषाएँ अन्तरिक्ष के प्रयन्त भागों में प्रकाश फैलाती हैं। वे सामूहिक रूप से लगी हुई प्रज्ञाओं के तुल्य यत्न करती हैं। हे उषा तुम्हारी किरणें अन्धकार को नष्ट कर देती हैं। सूर्य की भुजाओं (किरणों) के तुल्य वे प्रकाश देती हैं।

“हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवी धामुतेमां कस्मै दैवाय हविषा विधेमा॥”

(ऋग्वेद 10/12)

अर्थात् हिरण्यगर्भ ही पहले मानव संस्कृति में उत्पन्न हुए। जो योग विद्या को मानव संस्कृति में प्रचारित किये (जो समस्त भूतों के एक पति थे। उन्होंने इस पृथ्वी और लोगों को धारण किया।) उस मुखस्वरूप मानव एवं देवता के भी देव गुरु की हम पूजा करते हैं।

“अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्म शृहिरण्य केश आप्रणखत् सर्व एव सुवर्णः।”

(छान्दो 1/6/6)

अब यह सुनहरा पुरुष जो सूर्य के अन्दर दिखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी-मूँछें और शुभ्र बाल हैं। नखों से अग्र तक जो सारा ही सुवर्णमय शुभ्र है। इत्यादि मन्त्रों से विश्वमित्र की पूजा होती है। जिनसे यज्ञ के माध्यम से गायत्री निःसरित होने वाली है। (गायत्री की विधि आगे बता दी जायेगी मंत्ररहस्य में देखें)। इसके बाद सभी जन यथायोग्य आसन ग्रहण कर लेते हैं। विश्व-मित्र श्रेष्ठ आसन पर वैसे ही विराजमान हैं जैसे आकाश में सूर्य। परन्तु इस यज्ञ के लोग अभी आकाश के सूर्य में भी विश्वमित्र को देख रहे हैं। सूर्य भी रुक गये हैं। अपनी गति को भूल गये है। महर्षि विश्व-मित्र सुसमय जानकर गायत्री छंद का उच्चारण करते हैं। उनके उच्चारण करते ही गायत्री दिव्य-आभा से युक्त करोड़ों सूर्य के प्रकाश से युक्त प्रकट हो जाती है। सभी लोग इसके स्वरूप को, तेज को देखकर धन्य हो जाते हैं। अब शुरू होता है यज्ञ। गायत्री स्वयं प्रत्यक्ष रूप से ही ग्रहण करती है पुष्पों को, गन्ध को, नैवेद्य को, धूप को, दीप को। यही

हैं पाँचों, पाँच तत्व के प्रतीक। अग्नि अपने आप प्रकट हो जाती है। सूर्य अपने आप अपना आसन ग्रहण करता है। इस तरह नव ग्रह सशरीर अपना हव्य ग्रहण करते हैं। शिव, हरि, ऋषिगण सभी अपना-अपना दिव्य शरीर ग्रहण करते हैं। यह यज्ञ इस पृथ्वी का अनूठा एवं अलौकिक था। दसों दिशाएँ विश्वमित्र के प्रकाश से प्रकाशित हो रही थीं। सभी ऋषिगण समेत ग्रह-नक्षत्रादि सशरीर अपनी विदाई ले, भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए पुष्प अक्षत से विश्व-रथ का अभिनन्दन करते हुए अपने-अपने धाम को गये। जहाँ भी ऋषिगण रहते हैं। वही स्थान तीर्थ हो जाता है। पुष्कर धन्य हो गया। जहाँ तंत्र साधक सहज ही ध्यान को तंत्र को उपलब्ध हो जाते हैं। पुष्कर का एक-एक कण धन्य हो गया, गायत्री एवं समस्त मानव संस्कृति, देव संस्कृति, रक्ष संस्कृति और यक्ष संस्कृति श्रेष्ठजन के आगमन मात्र से। यही है विश्व-मित्र का अनुसन्धान, आविष्कार तप का फल। गायत्री मंत्र नहीं है। यह छंद है। इसकी पूजा-पाठ, हवन की विधि किसी समय के सद्गुरु से सीखना ही उचित है। यह गायत्री जिससे पैदा हुई उसके प्रतिनिधि से जानना उचित है। अन्यथा हम भटक जाते हैं। जन्मों-जन्म दांव पर लग जाते हैं। गायत्री अपने आप में विस्फोट है। आज इसका भी व्यवसायीकरण हो गया है। यह पूर्णतः तंत्र है। इस तंत्र को ठीक-ठीक जानना ही श्रेष्ठता है।

विश्वमित्र का अयोध्या आगमन

यह समाचार पूरे विश्व में उसी तरह फैल गया जैसे जंगल में आग। अयोध्यावासी भी जान गये। वशिष्ठ भी। अयोध्या की प्रजा राजा सत्यव्रत पर दबाव डालती है, निवेदन करती है, उस गायत्री रूपी यज्ञ के लिए साकेत नगर में। राजा धर्मसंकट में पड़ जाते हैं। पता भी नहीं वशिष्ठ क्या सोचेंगे? चूँकि वशिष्ठ का कोपभाजन एक बार बन चुके थे। अतएव सार्वजनिक सभा बुलाते हैं। जिसमें जन-प्रतिनिधि, राज्य प्रतिनिधि के साथ वशिष्ठ भी थे। जन-प्रतिनिधि की जोरदार माँग को देखते हुए चतुर वशिष्ठ कह उठते हैं अब तो विश्व-मित्र समस्त सृष्टि के ही गुरु हैं। अतएव उन्हें ससम्मान बुलाया जाये। उनके द्वारा यज्ञ कराया जाये। जिसमें राजा के साथ-साथ प्रजा का भी कल्याण हो। सभी लोग खुश हो जाते हैं। राजा को मानो इच्छित फल ही मिल गया हो। चूँकि उनका आराध्य गुरु अब उन्हें एवं अयोध्या को पवित्र कर देगा। ऐसा सुअवसर उन्हें मिलता प्रतीत हुआ। तुरन्त अपने सम्मानित प्रतिनिधि को पुष्कर भेज देते हैं। जब वे लोग पुष्कर पहुँचते हैं तो देखते हैं सूर्य-से तेजस्वी-तपस्वी विश्वमित्र बच्चों को पढ़ा रहे हैं। विद्या दान दे रहे हैं। हज़ारों बच्चे बैठे हैं परन्तु बिल्कुल शान्त।

ऐसा ज्ञात हो रहा है मात्र एक वक्ता ही बैठा है और सब उनके वाक्य को पी रहे हैं। जैसे सीप स्वाति के जल को पी जाती है। ये लोग भी पिछले भाग में चुप बैठ जाते हैं। सुनते हैं, अनुपम, अमूल्य तंत्र विद्या को। तंत्र सुना नहीं जाता। ग्रहण कर लिया जाता है जिससे समग्र जीवन ही बदल जाता है। वे लोग सुनकर धन्य हो गये। भूल गये अपने उद्देश्य को। जब सभी विद्यार्थी चले गये तब विश्वमित्र के चरणों में झुककर शिष्टतापूर्वक अपना परिचय दिया। अयोध्या चलने का निवेदन किया। विश्वमित्र ने शरद ऋतु के बाद चलने का आश्वासन दे उन्हें सुबह लौट जाने को कहा, समय बीतता गया। विद्यार्थी बढ़ते गये उस तेज पुरुष की छत्र-छाया में। अधिकांश विद्यार्थी तंत्र में पारंगत होते गये। पृथ्वी पर प्रेम की नदी बह चली। सभी अपने को सुरक्षित, आनन्दित, निर्भय महसूस करने लगे। किसी भी शासन का यही मूल सूत्र होना चाहिए।

समयानुसार सत्यव्रत ने अयोध्या से जन प्रतिनिधि, राज-प्रतिनिधि को ऋषिगण के नेतृत्व में पुष्कर भेजा। सभी को समझा दिया गया कि सम्मान के साथ महर्षि ब्रह्म स्वरूप विश्व-मित्र को आप लोग लायें। मैं अष्टमी तिथि को राज्य की सीमा पर पत्नी एवं प्रजा के साथ उनका स्वागत करूँगा। योजनाबद्ध ढंग से सभी लोग विश्व-मित्र को स-सम्मान साकेत ला रहे थे। जिस नगर में पहुँचते उसका राजा उनका स्वागत कर धन्य हो जाता। वह उल्टे कुछ काल रुकने का अनुनय-विनय करता। नहीं रुकने पर वह भी उनके साथ हो जाता। मानो कोई अज्ञात आकर्षण उन सभी को आकर्षित करता जो भी सान्निध्य में आता। अयोध्या पहुँचते-पहुँचते उस संख्या में कई गुना वृद्धि हो गयी। अयोध्या की सीमा पर ही राजा सत्यव्रत सपत्नी स्वागत करते हैं। स्वर्ण पात्र में पैर धोते हैं। पैर-धोते समय उन्हें ऐसा ज्ञात होता है मानो उनके चरण से गंगा निस्सरित होती हो। राजा स्वयं चरणामृत पान कर, प्रजा को पान कराते हैं। गुरुवर को राजधानी में लाते हैं। पूरा अयोध्या सज-धज कर दुल्हन बना अपने गुरु के स्वागत में प्रतीक्षारत खड़ा था, जिस रास्ते से गुज़रते पुष्पों की वर्षा होती। जय-जयकार से आकाश गूँज उठता। पशु-पक्षी सभी दण्डवत मुद्रा में उनको नमन करते। गुरु देव सभागार में पहुँच गये। जहाँ अयोध्या की जनता प्रतीक्षा करती थी। सभी मिलकर उनकी आरती उतारते हैं। उसी समय देवर्षि वशिष्ठ अपने पुत्रों-शिष्यों के साथ प्रकट होते हैं। कुछ काल तो सभी स्तब्ध रहते हैं। वाकपटु सुन्दर, विद्वान, चतुर देवर्षि वशिष्ठ अपने पुत्रों से गुरु देव की स्तुति कराते हैं। स्तुति समाप्त होते ही वशिष्ठ मंच पर चढ़कर गुरु देव के सम्बन्ध में सुन्दर, आकर्षक स्वागत मन्त्र बोलते हुए उन्हें ब्रह्मर्षि रूपी पदवी जो उनके विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ पदवी थी, प्रदान करते हैं। विश्व-मित्र

को ही विश्व के कल्याण का केन्द्र बताते हुए आशीर्वचन हेतु उन्हें आमन्त्रित करते हैं।

गुरु स्वरूप विश्वमित्र

सभी लोग अपलक देख रहे थे, शुभ्र दाढ़ी, मूँछधारी कान्तिमय चेहरे वाले गुरुदेव को। उनके कान प्यासे थे, उन्हीं की अमृतमय वाणी पान करने को। गुरुदेव एक नज़र प्रजा की तरफ देखते हैं। मानों उनकी आँख से सूर्य का प्रकाश निकल रहा हो, पुनः देखते हैं, सभासदों को, राजा एवं वशिष्ठ तथा उनके परिवार को। वे अपनी आँखों से ही सभी को समान रूप से आशीर्वाद दे रहे थे। वे अब किसी भी मान सम्मान को ग्रहण करने की स्थिति में नहीं थे। वे तो निर्विकार शुद्ध परम चेतन को उपलब्ध परम चेतन ही थे। अब क्या करेंगे उपाधि, चाहे वह ब्रह्मर्षि हो या ब्रह्म की हो। गुरु देव स्वरूप में स्थित हो, सबको संक्षिप्त आशीर्वाद देते हैं। सभी के मंगल की कामना करते हैं। सभी को तंत्र में अवस्थित हो जाने का आमन्त्रण भी देते हैं। अब शुरू होती है यज्ञ की तैयारी। गुरु देव के तंत्र विज्ञ शिष्य जुटाते हैं 'यज्ञ समाधि को'। यह यज्ञ भी पूरा का पूरा तंत्र है, जिसे अपने अन्दर करना श्रेयस्कर है। जो अन्दर की क्रिया को, विधि को जान लेता है, उसे बाहर करने की कोई जरूरत नहीं होती। बाहर तो उसके लिए करना श्रेयस्कर होता है जो अन्दर की विधि को नहीं जानता। यह बहिर्मुख लोगों के लिए एक प्रकार का आमन्त्रण है। जब बहिर्मुख व्यक्ति उस आमन्त्रण को स्वीकार कर लेता है तो पूरा होता है उसका पहला चरण। चूँकि कुछ श्रद्धा तो बनी। कुछ आकांक्षाएँ तो जागृत हुई अनजाने में जाने का साहस तो जुटाया। बाह्य यज्ञ में सम्मिलित होना पूरा करता है दूसरे चरण को। कुछ सुना तो, कुछ देखा तो। अब वह विचार करेगा फलाफल का। अच्छे-बुरे का। गुरु का प्रवचन सुनना पूरा करता है उसके तीसरे चरण को। अब वह तर्क-वितर्क में पड़ जाता है। यदि उसमें कुछ भी सम्भावना के बीज हैं तो अंकुरित होने के लिए तड़प उठेगा। गुरु के हाथ का प्रसाद ग्रहण करना पूरा करता है चौथे चरण को। उसके हाथ के द्वारा दिया गया प्रसाद, उसकी अन्दर की संभावना को आन्दोलित कर देता है। उसे गुरु के सान्निध्य में जाने को बरबस धक्का देता है। वह अब गुरु के आकर्षण में जाकर कुछ करने को आतुर हो उठता है। गुरु के हाथ से दिया गया प्रतीक माला, टोपी, खड़ाऊँ, फोटो, पुस्तक पूरा करता है उसके पाँचवे चरण को। अब हर समय उसका मन गुरु के चरणों में पहुँचता रहता है। गुरु भी उसी माध्यम से सूक्ष्म रूप में उसके साथ हो लेता है। अब गुरु भी उसका हित-अहित

सोचने लगता है। धीरे-धीरे परम-पुरुष के नजदीक ले जाने का उपक्रम करता है। गुरु के द्वारा दिया मन्त्र पूरा करता है छठे चरण को। अब मन आध्यात्म में रमने लगता है। अज्ञात शक्ति अन्तःपुर की तरफ खींचती जाती है। मन को त्राण दिलाना ही मन्त्र है। अब मन अन्तर्मुखी होने लगता है। अन्तर्मुख हो परम-प्रकाश का दर्शन करना ही पूरा करता है सातवें चरण को। गुरु यहीं पूरा करता है तंत्र विधि को। यहीं पूरा करता है 'गुरु-मुख' कला को। यहीं अब शिष्य होता है दक्ष। तब हो गया दीक्षित। अब किसी भी कार्य को करता है, तो उसका फला-फल शीघ्र फलित होता है। अब वह हो गया संन्यासी। इस संसार में रहते हुए जान गया इसके सार को। मन से बैरागी हो गया। अब वैर हो जाता है माया वृत्ति रूपी अग्नि से। जब साधक साक्षी भाव ग्रहण कर लेता है तो पूरा करता है आठवें चरण को। अब वह न कर्ता है, न भोक्ता। वह है सम्यक योगी। अब वह अवस्थित हो जाता है। अजपा में। चल रहा है अजपा में। सब काम कर रहा है अजपा में। यह अजपा लेकर चली जाती है। अनाहद में। योगी पुरुष का पूरा होता है नवम चरण। यह सबसे बड़ी संख्या है। अब योगी अनाहद में चला गया। अब क्या करना है? वहीं है पूर्ण विश्राम। अब कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म करता है। अन्तःकरण अकर्म में स्थित रहता है। बाहर कर्म का फल लगता है। पाप-पुण्य पीछे छूट गया। अब वह निर्भय हो गया। परम चेतनता को उपलब्ध हो गया। पूरा कर लिया तंत्र की विद्या को। हो गया तान्त्रिक।

विश्व-मित्र के द्वारा यह आलौकिक यज्ञ दूसरी बार अयोध्या में सम्पन्न हुआ। सारी अयोध्या गुरुदेव की गोद में सिमट गयी। इस यज्ञ के बाद लोग भूल गये देवयज्ञ यज्ञ एवं संस्कृति को। घर-घर गायत्री माँ की उपासना शुरू हो गई। अयोध्या परम पवित्र हो, गुरुदेव के चरणों में निश्चित हो गया। सभी लोग यथायोग्य धर्म पर आरुढ़ हो गये। सभी प्रसन्न हो गये। वहीं पर अपने लड़के को भी दिशा-निर्देश दिए तत्पश्चात् दीक्षित कर दिए। हालाँकि उनके लिए अब अपना सारा विश्व ही है। सभी अपने हैं। प्राणीमात्र अपने हैं। तंत्र में पराया है ही नहीं। पूरा हो गया अयोध्या का महायज्ञ।

अयोध्या में गायत्री यज्ञ

इस यज्ञ से देव संस्कृति में निराशा छा गयी। विदेशी क्लब बन्द होने लगे। जैसे पश्चिम के संस्कार में सने अभी भी भारतीय भू-खण्ड में बहुत सारे क्लब हैं, जिसमें तथाकथित उच्च वर्ग के लोग बहुत ही तड़क-भड़क से सम्मिलित होते

हैं। उसमें साधारण लोगों का प्रवेश बिल्कुल ही वर्जित रहता है। उनसे मिलने में अपनी मान-हानि समझते हैं। जबकि अनपढ़ व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी, कपड़ा, मकान ही जुटाने में व्यस्त रहता है तथाकथित विद्वान भी इसी व्यवस्था के जुगाड़ में पिछड़ों का शोषण करता है। उन्हीं का हिस्सा बलात् ढंग से ग्रहण कर अपने को ऊँचा समझता है। क्या अन्तर है आज के शिक्षित एवं अशिक्षित में? वही होता है जो कभी देव संस्कृति के लोग या अभी पश्चिम के लोग करते हैं। वहाँ सुरा-सुन्दरी का नग्न नृत्य होता है। मानवता भी लज्जित हो जाती है। इस तरह का क्लब अब भारत-भूखण्ड में बन्द होने लगा। जो देव-यक्ष संस्कृति की चिन्ता का विषय था। सारे कुसंस्कारित यज्ञ बन्द होने लगे। गायत्री रूपी यज्ञ के प्रवाह में सब लोग बह चले। पुष्कर से अयोध्या तक भूखण्ड अत्यन्त पावन-पवित्र हो गया। सभी अपनी मानव संस्कृति की तरफ मुखातिब होने लगे। विश्व-मित्र का वैसे ही चहुँ ओर प्रकाश फैल रहा था जैसे तेज मार्तण्ड का।

विश्वमित्र का सिद्धाश्रम आना

विश्व-मित्र काशी होते हुए सिद्धाश्रम की तरफ बढ़ गये। सिद्धाश्रम पहुँचकर पुनः तप रत हो गये। कुछ काल पश्चात् वहाँ भी विद्यार्थियों का पठन-पाठन प्रारम्भ कर दिया। दो-चार विद्यार्थियों से शुरू किया गया यह कार्य विशाल विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया।

यह विश्वविद्यालय इस पृथ्वी का प्रथम विश्वविद्यालय था जिसके रचयिता महर्षि विश्व-मित्र ही थे, जिनकी छत्र-छाया में विद्या अध्ययन, शोधकार्य, अन्वेषण कार्य, ज्योतिष कार्य, अन्यान्य मांगलिक कार्य चल उठे। यह शिक्षण संस्थान सबके लिए सम्यक् रूप से खुल गया। जहाँ न कोई बड़ा था न छोटा। न कोई नीच था न ऊँच। मानव मानव सब एक हो गये। एक ही चूल्हा-चौका हुआ एक ही हो गया धर्म, जिसके धर्म के केन्द्र बिन्दु विश्व-मित्र थे। जिस केन्द्र से मांगलिक संस्कारों का, कार्यों का उदय होना स्वाभाविक हो गया। यह सिद्धाश्रम चौरासी कोस में फैला हुआ था जिसमें पूरे विश्व के चौरासी हजार विद्यार्थी अध्ययनरत हुए। अब आप सहज ही अन्दाजा लगा सकते हैं कि कितने ऋषिगण, शिक्षक के रूप में होंगे। इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास का पूरा-पूरा ध्यान दिया गया था। जहाँ बच्चों का विकास आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ढंग से सम्पन्न होने लगा। इसमें युद्धकला से लेकर यज्ञ कला तक का शिक्षण दिया गया। जिससे विद्यार्थी अपने बाह्य एवं अन्तःपुर के राक्षसों से युद्ध कर सकें। जब इस विश्वविद्यालय में नित्य नयी-नयी खोज होने लगी,

अन्वेषण होने लगे, चरित्र होने लगे। तब इस सिद्धाश्रम का नाम चरित्र वन पड़ गया। अब विश्वमित्र की कीर्ति पूरे भू-खण्ड में फैल गयी। अन्य संस्कृति के विद्यालय (जो कुछ खास वर्गों तक के लिए निहित थे) बन्द होने लगे।

देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नाग, रक्ष के बच्चे भी अपना-अपना नाम रूप बदल कर इस विश्वविद्यालय में आने लगे। यहाँ की तंत्र विद्याओं को ग्रहण करने लगे। इस अन्वेषण के क्रम में ही युद्ध के प्रक्षेपास्त्र से लेकर द्रुतगति (मानस गति) से चलने वाले विमान तक का आविष्कार किया गया।

ऐसी-ऐसी आणविक शक्तियों का आविष्कार किया गया जिससे समय पड़ने पर पूरी संस्कृति को समाप्त किया जा सके या पुनर्जीवित किया जा सके। नये-नये ग्रहों का आविष्कार किया गया। साथ ही खाद्यपान की कमी आने पर नयी खाद्य सामग्रियों, कपड़े का प्रचुर मात्रा में आविष्कार किया गया (रेशम की जगह पर सूती कपड़ा) दूध की कमी आने पर ज्यादा दूध वाले पशुओं का, गाय की जगह भैंस का (इस तरह ग्रह-नक्षत्र से लेकर प्राणीमात्र के कल्याण हेतु पशु तक का) आविष्कार किया गया। शीघ्र ही कम समय में होने वाले फसल जो बिना पानी के हो सके। ग्रामीण गरीब जनतंत्र को भोजन, भवन, वस्त्र सहज उपलब्ध हो सकें। ऐसा अन्वेषण किया गया। यह आविष्कार अपने आप में अद्वितीय रहा। जो पूरी मानवता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इन्होंने सिद्ध कर दिया ऋषि के कर्तव्य को। जिससे हो गया पूरे विश्व का मंगल। अब स्वतः लोग कहने लगे- विश्व-मित्र। इस तरह आज तक इस धराधाम पर विश्व-मित्र कहलाने वाले सम्भवतः एकमात्र यही रहे। न कोई भूत में हुआ न भविष्य में होने की सम्भावना है। मानव संस्कृति अग्रगति करने लगी।

देवेन्द्र का चिन्तित होना

इधर वशिष्ठ विश्व-मित्र के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। वे सीधे पहुँचते हैं देव लोक में, जहाँ अगस्त्य शुक्राचार्य की उपस्थिति में देवताओं के साथ मन्त्रणा होती है। देवेन्द्र एवं यक्षेन्द्र भी आ गये। सब भयातुर थे विश्व-मित्र के बढ़ते हुए प्रभामण्डल से। यह मन्त्रणा हफ्तों दिन चलती है। तब तय होता है कि सत्यव्रत को किसी तरह से भड़काया जाये। उसे सशरीर स्वर्ग आने के लिए उकसाया जाये। स्वर्ग आने की कामना ज्यों ही उसके अन्तस्थ मन में जायेगी वह अपने गुरु को बाध्य करेगा। ज्योंही वह स्वर्ग की तरफ विश्व-मित्र के द्वारा भेजा जायेगा इन्द्र के द्वारा वज्रास्त्र का प्रयोग कर उन्हें मार गिराया जायेगा। जिससे विश्व-मित्र की अपकीर्ति पूरे विश्व में फैल जायेगी।

वशिष्ठ को यह कार्य करने का जिम्मा सौंपा गया। जिसके सहयोग में कामदेव, रम्भा, उर्वशी, वरुणामित्र अयोध्या में आ गये। धर्म के माध्यम से इन लोगों के द्वारा बार-बार स्वर्ग लोक के सुख की चर्चा की गयी। स्वर्ग में सशरीर जाने की कला वशिष्ठ के साथ-साथ उनके साथ आये व्यक्ति भी जानते हैं। अतएव सत्यव्रत या तो इन लोगों का सान्निध्य प्राप्त कर स्वर्ग जाये या वशिष्ठ के यज्ञ के माध्यम से। परन्तु यह कला सत्यव्रत के गले नहीं उतर रही थी। ऐसा कहा गया है **संसर्ग गुण दोषः भवन्ति**। सत्यव्रत को भी इन लोगों के संसर्ग एवं तथाकथित सत्संग से स्वर्ग की लिप्सा जाग उठी। एक दिन सहसा अपने पुरोहित वशिष्ठ से निवेदन कर उठे क्या मैं उस स्वर्ग को नहीं जा सकता? जिसमें आप जाते हैं? वशिष्ठ तो यही सुनना चाहते थे। उन्होंने बहुत ही चतुरतापूर्वक कहा वत्स वहाँ जाने के लिए देव संस्कृति ग्रहण करना होगा। देव यज्ञ करना होगा, अपने को बदलना होगा। तुम इस तथाकथित गायत्री रूपी यज्ञ से नहीं जा सकते हो। विश्व-मित्र ने तो तेरे संस्कारों को समाप्त कर दिया है। कैसे होगा उस लोक में तेरा प्रवेश। इतने में ही कामदेव मुस्कराते हुए बोल उठे राजन यदि तुम अपने को बदलो तब हम लोगों के सहयोग से स्वर्ग लोक में निवास कर सकते हो। जहाँ केवल सुख ही सुख है। जहाँ केवल युवा ही हैं। जहाँ केवल देव-संस्कृति का महत्व ही है। सब सुन्दर ही सुन्दर हैं।

सत्यव्रत का सशरीर स्वर्ग जाना

सत्यव्रत अपने राजमहल में लौटकर उस स्वर्ग की कामना में चिन्तित हो गये। सोचने लगे क्या यह सब करना निरर्थक है? इस तरह सत्यव्रत चिन्ताओं से ग्रस्त हो विश्व-मित्र के आश्रम चरित्रवन पहुँच गये। गुरुदेव को दण्ड प्रणाम करने के पश्चात् अपनी चिन्ताओं का कारण बताया। गुरुदेव देवमाया समझ मुस्करा उठे। क्या राजन तुम भी तथाकथित सुख के फेर में पड़ गये? क्या देवेन्द्र की माया तुझे भी नहीं छोड़ती? छोड़ेगी भी कैसे वशिष्ठ कामदेव, रम्भा आदि अप्सराओं के साथ सत्संग लाभ करा रहा है। सुख के चक्कर में क्यों पड़े हो? जो सुख चाहता है उसे दुःख भोगना पड़ता है। जो युवक बना रहना चाहता है, उसे बूढ़ा होना पड़ता है। जो स्वर्ग चाहता है, उसे नरक जाना पड़ता है। तुम सुख दुःख, स्वर्ग-नरक से ऊपर उठ जाओ। पा लो उस आनन्द को जो तुम्हारे भीतर ही है। उसकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं। आनन्द ही है केवल, आनन्द के उलटा कोई शब्द नहीं है। आनन्द ही तो सच्चिदानन्द है। स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख यह सभी देवमाया है। देवता भी मानव शरीर पाकर गुरु धारण कर उस परमानन्द

को प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु सत्यव्रत विक्षिप्त हो गया है। **“आरत हृदय न रहे चेतु, फिर-फिर कहे आपन हेतु”**। बार-बार अपना ही आग्रह दुहरा रहा है एवं कहता है कि गुरुदेव मात्र एक बार मुझे स्वर्ग को भेज दें। मात्र कुछ काल के लिए ही सही। इसके बाद आपके बताये हुए सत्यपथ पर चलकर सत्य को उपलब्ध हो जाऊँगा। लोग कहते हैं कि स्वर्ग जाने की कला मात्र वशिष्ठ में ही है। वशिष्ठ भी हमसे बार-बार देवसंस्कृति अपनाकर स्वर्ग भेजने का लालच दिए। उनका स्पष्ट मन्तव्य था यह कार्य मेरे सिवा कोई नहीं कर सकता। अयोध्यावासी आतुर दृष्टि से वशिष्ठ की तरफ देखने लगे हैं। मेरे लिए न सही अयोध्यावासियों के लिए ही कुछ काल के लिए मुझे सशरीर स्वर्ग भेज दो। जब वशिष्ठ, अगस्त्य, शुक्राचार्य, भृगु इत्यादि लोगों का गमनागमन है तो मैं क्यों नहीं जा सकता। क्या आप से यह सम्भव नहीं है। इन बहुतेरे प्रश्नों से विश्व-मित्र को बेध दिया। विश्व-मित्र नहीं चाहते हुए भी बोले-वत्स! तुझे स्वर्ग इस शर्त पर कुछ काल के लिए भेज सकते हैं कि वहाँ किसी देवता, अप्सरा के चक्कर में पड़कर अपना चरित्र मत खोना। हाँ वहाँ भी मानव संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना। देव लोगों को भी तंत्र विद्या बताना जिससे ये तथाकथित भोग वृत्ति से बाहर निकलकर अपने स्वरूप को जान सकें।

सत्यव्रत सहर्ष स्वीकार कर लिए। महर्षि विश्वमित्र के द्वारा सशरीर स्वर्ग भेजने के लिए सोन नगर में यज्ञ का आह्वान किया गया। जो बिहार के रोहतास पर्वत के नज़दीक पड़ता है। यज्ञ प्रारम्भ हो गया। उस यज्ञ में किसी भी देवता ने अपना यज्ञ भाग नहीं स्वीकार किया। विश्व मित्र के शिष्य बताये कि गुरु देव! अग्नि भी स्वयं नहीं प्रगट हुई। न ही अन्य ग्रह-नक्षत्र या आमन्त्रित देवगण ही आये। सभी तिरस्कारपूर्ण नजर से देखते हैं। वशिष्ठ के पुत्र भी यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुए। विश्व-मित्र अपनी झोपड़ी से बाहर आते हैं। कह उठते हैं देवगणों आखिर तुम चाहते क्या हो? तुम्हारी मनमानी नहीं चलेगी। तुम अपना यज्ञ भाग स्वीकार करो। यज्ञ में सशरीर उपस्थित हो जाओ। अन्यथा तुम समझना। इतना कहा था कि मानो सभी कांप उठे। सहसा सभी एकाएक सशरीर प्रगट हो गये। यज्ञ प्रारम्भ हो गया। वशिष्ठ के पुत्रों से बोले तुम शूद्रवत आचरण करते हो। अहं में रहते हो। तुम शूद्र हो जाओ। वही काशी के शूद्र हुए। यज्ञादि के बाद विश्वमित्र के आदेश से सत्यव्रत सशरीर आकाश की तरफ उठने लगे तथा स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर दिए।

ज्यों-ज्यों वह स्वर्ग के नज़दीक पहुँच रहे हैं त्यों-त्यों देवलोक में कौतुहल बढ़ने लगा। इधर विश्वमित्र का भय भी था उधर देवताओं के अस्तित्व का खतरा भी।

अस्तित्व के रक्षार्थ इन्द्र ने अपने वज्रास्त्र का प्रयोग कर डाला, जिससे सत्यव्रत को गम्भीर चोट लगी एवं वे उल्टे हो गये। मुँह नीचे हो गया और पैर ऊपर। मुँह से क्रन्दन की आवाज़ निकली। गुरुदेव बचाओ का चीत्कार हुआ। जिससे जो पानी निकला वह एक नदी का रूप धारण कर लिया जो कालान्तर में कर्मनाश कहलायी।

कर्मनाश यानी कर्म का नाश हो गया हो। अभी भी यह भ्रान्त धारणा है कि कोई व्यक्ति तीर्थ यात्रा से लौट रहा हो एवं कर्मनाश को पार करके जाना पड़े तो उसके कमाये हुए पुण्य फलों का नाश हो जाता है। विश्वमित्र अपनी दिव्य दृष्टि से देखे एवं देवताओं के रहस्य को जान गये। तेज स्वर में बोले “तत्रतिष्ठ। रुक जाओ वहाँ।” सत्यव्रत त्रिशंकु की तरह उल्टा ही रुक गया। त्रिशंकु यानी न ऊपर न नीचे बीच अधर में ही रुक गया। विश्वमित्र आदेश दिए सीधे हो जाओ। त्रिशंकु सीधे हो गए! देवगणों की यह मनमानी देख कर विश्वमित्र खिन्न हो गये। सोचे ये तो उद्वेग हैं। अतएव इनके समान्तर ही नहीं उनसे भी अच्छा एक स्वर्ग का ही निर्माण कर दिया जाये। तब इन्हें भी सबक मिलेगा कि मानव तुम्हारी दया पर निर्भर नहीं। उनके दया के पात्र तुम हो। यह सोच तुरन्त दूसरी सृष्टि करने का अमोघ निर्णय ले लिए। जिसके सन्दर्भ में कोई सोच भी नहीं सकता था। मानव ऋषि यह भी कर सकता है क्या? विश्वमित्र ने अपने शिष्य के हेतु एक दूसरी सृष्टि का निर्माण कर दिया। जिसमें त्रिशंकु को उस सृष्टि का राजा घोषित कर दिया। उस सृष्टि के लिए इन्द्र के स्वर्ग से भी बड़-चढ़कर सारी व्यवस्था कर दी। तारे, ग्रह, नक्षत्र से लेकर देव, गन्धर्व, यक्ष सब बना दिए। सत्यव्रत (त्रिशंकु) को वहीं राज्य करने का आदेश दे दिया। इस दूसरी सृष्टि के चलते सारा भू-मण्डल ही कांप उठा। सम्भवतः गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त गिरते नज़र आया। अभी तक सारे ऋषि अपने पुत्र के हित के लिए ऐसा करते थे। ये पहले ऋषि हैं जो शिष्य के लिए दूसरा स्वर्ग ही निर्माण कर दिया।

देवताओं में हड़कम्प मच गया। देवेन्द्र अपनी राजधानी छोड़कर भाग चले। वशिष्ठ देवर्षियों को लेकर कैलाश पर अवस्थित सदाशिव के यहाँ पहुँच गये। कुछ काल के उपरांत यक्ष, देव सब सदाशिव से अनुनय, विनय करने लगे। सदाशिव भोले-भाले जो ठहरे। शिव सब को लेकर विश्वमित्र के आश्रम पर पहुँच कर स्तुति करने लगे। ये देव, यक्ष लोग चरित्रवन में उनके आश्रम के चारों तरफ पाँच कोस के घेरे में खड़े होकर प्रार्थना कर रहे थे। जो अभी भी पंचकोसी के नाम से पुकारा जाता है। पंचकोसी को अभी भी अपूर्व महत्व दिया जाता है।

कहा जाता है कि जो इस पंचकोसी की परिक्रमा कर लेता है उसका पाप-जन्य संस्कार क्षय हो जाता है। वह मुक्त धाम का अधिकारी हो जाता है। विश्वमित्र को यह मालूम हुआ कि देवगण सदाशिव के नेतृत्व में प्रार्थना कर रहे हैं तो उन्हें कुछ दुःख हुआ। सदाशिव को सम्मानपूर्वक आश्रम में लाने हेतु शिष्यों को भेज दिया। सदाशिव की आड़ में ही देवेन्द्र वगैरह उनके आश्रम में पधारे। वह आश्रम उनके तप से सिद्ध हो चुका था। वहाँ किसी भी माया का प्रपंच नहीं आ सकता था। इससे वह कालान्तर में सिद्धाश्रम कहलाया। सदाशिव स्वयं अपने मुख से गुणगान किये एवं कहे कि हे महर्षि इस तरह का दिव्य आश्रम त्रिलोक में कहीं नहीं है। यहाँ आते ही व्यक्ति योगयुक्त हो जाता है, निर्भय हो जाता है। इस आश्रम में जो कोई भी निवास करेगा वह मोक्ष का अधिकारी होगा। यह सुन विश्वमित्र ने सदाशिव का स्वागत कर, आने का कारण पूछा। सदाशिव सारी स्थिति को संक्षेप में कह सुनाये। अनुरोध करते हुए कहा कि महर्षि आप बुरा न मानें तो मैं कुछ निवेदन करूँ। देवगण, देवर्षि वशिष्ठ अपने किए हुए कर्मों पर लज्जित हैं। आप नयी सृष्टि को वापस लें। पूरी सृष्टि ही आपके निर्देशानुसार संचालित होगी। देवेन्द्र आपके निर्देशानुसार कार्य का संचालन करेंगे। आप ही इस सृष्टि में हो जो चारों संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व कर सकते हो। आपकी छत्र-छाया में ये संस्कृतियाँ प्रगति के पथ पर अग्रगति से संचालित होंगी। विश्वमित्र शिव का प्रिय वचन सुनकर तथास्तु कह दिए। उनके निर्देशानुसार ही विश्वमित्र निर्मित सृष्टि को उत्तर दिशा में रखा गया। उत्तर दिशा में जो आप तारों की अधिकता देखते हैं। वह विश्वमित्री ही है। त्रिशंकु बने सत्यव्रत के निर्देशन में देवेन्द्र को रहने का आदेश दिया। इस तरह यह त्रिलोक विश्वमित्र के निर्देशन में अग्रसर होने लगा। तंत्र विद्या जोर पकड़ने लगी। विद्या तंत्र का प्रभाव बढ़ने लगा। “**सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेप्रसन्तु निराभयां।**” सभी सुखी हुए, सभी निर्भय हुए।

देवगण द्वारा हरिश्चन्द्र की परीक्षा

विश्वमित्र इस सृष्टि को धर्म चक्र पर चलते हुए देख अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपने शिष्यों को समझा दिया कि जो भी व्यक्ति सिद्धाश्रम की गद्दी पर बैठेगा, वह मेरी ही तरह तपोनिष्ठ, सर्वज्ञ एवं सर्वहित करने वाला मेरा प्रतिनिधि होगा। वह विश्वमित्र ही कहलायेगा। यह गद्दी ही विश्वमित्र गद्दी कहलायेगी। इसी परिपेक्ष्य में वशिष्ठ वगैरह ने भी अपनी व्यवस्था दे दी। इसी तरह इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर का भी पद है। जो भी उस पर आरुढ़ होता है वह उसी नाम

से जाना जाता है। जैसे प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति पद हैं। नाम नहीं कर्तव्य के अनुसार उनकी भी पदोन्नति होती या पदावनति। अभी ब्रह्मा के पद पर विश्वमित्र ही हैं। इन्द्र के पद पर सत्यव्रत। इसके बाद ब्रह्मा के पद पर वशिष्ठ होने वाले हैं। इसी से वर्तमान समय में विश्वमित्र सृष्टि की वस्तुओं की माँग बढ़ गई है। तथा इस समय गायत्री के द्वारा मानव कुछ भी प्राप्त कर सकता है। विश्वमित्र ने जब निश्चिन्त होकर अन्तर्यात्रा कर अनाहद में विश्राम हेतु प्रस्थान कर दिया। इधर सृष्टि चक्र धीरे-धीरे पुनः अपना रास्ता बदलने का उपक्रम करने लगी। जिस उपक्रम का परिणाम है सत्यवादी हरिश्चन्द्र। देवेन्द्र एवं वशिष्ठ मिलकर पुनः अपनी पुनरावृत्ति में आ जाते हैं। देवेन्द्र विश्वमित्र का रूप ग्रहण कर छल से उनका राज्य दान में माँग लेता है। हरिश्चन्द्र जो गुरु भक्त ठहरा। वह गुरु के रूप में ज़रा भी सन्देह न कर क्षणमात्र में पूरा राज्य देवेन्द्र रूपी विश्वमित्र को अर्पित कर देता है। जिस दान का संकल्प कराते हैं, वशिष्ठ। संकल्प की दक्षिणा के ऐवज में हरिश्चन्द्र को बिकना पड़ता है। काशी में बेचने, खरीदने, कष्ट देने का काम करते हैं देवगण। हरिश्चन्द्र को देवगण ने विभिन्न रूपों से तंग किया कि वह अपना धर्म छोड़ दें। देव संस्कृति को अपना लें। हरिश्चन्द्र सत्य-धर्म, मानव-संस्कृति की रक्षा हेतु सब कष्ट खुशी-खुशी सह लेते हैं। देवगण उनकी पत्नी को भी निम्नतम से निम्नतम कार्य कराकर पथभ्रष्ट करने को बाध्य करते हैं। इतना ही नहीं इनकी कुवृत्तियाँ चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं। वर्षा ऋतु है, घोर अन्धियारी है। हरिश्चन्द्र श्मशान पर मृतकों से कर लेने का कार्य करते हैं। इधर देवतागण उनके लड़के रोहित को सर्प बनकर इस लेते हैं। उनकी पत्नी चीत्कार कर उठती है। इकलौते पुत्र के लिए विकल हो रोने लगती है। उन तथाकथित देवताओं को जिनके घर वह चौका-बर्तन करती थी, जरा भी दया नहीं आती कि वे उसके कफन की व्यवस्था कर दें एवं श्मशान घाट पहुँचा दें। इतना निष्ठुर, कठोर, अधर्मी साधारण मानव नहीं हो सकता। अपने मृतक पुत्र के लिए अपनी ही आधी साड़ी फाड़कर कफन बनाती है। स्वयं अकेले रोहित को लेकर श्मशान पहुँचती है। हरिश्चन्द्र देखते हैं। उन्हें अपने पर विश्वास नहीं होता कि इस अवस्था को प्राप्त मेरे ही पुत्र व पत्नी हैं। जिसके पास न तो कफन है न ही जलाने के लिए अग्नि की व्यवस्था। यह देख विचलित हो उठते हैं परन्तु कुछ काल के बाद उन्हें अपने ज्ञान का बोध होता है। वे बिना शुल्क लिए जलाने की आज्ञा नहीं देते। इधर पूरी मानवता ही सिसक उठती है। इस परिस्थिति तक पहुँचाने वाले देवतागण को अभी भी जरा-सी लज्जा नहीं। वहीं पूरी सृष्टि कांप उठती है। तारे-नक्षत्र ग्रहादि मानव अपने कर्तव्य पथ से विमुख होने वाले हैं।

हरिश्चन्द्र एवं तारा अपने गुरु का ध्यान करते हैं। “हे गुरुदेव विश्वमित्र! अब तुम क्या चाहते हो। खैर वही हम लोगों को मंजूर है जो तुम्हारी इच्छा हो। तुम्हारी इच्छा ही सर्वोपरि है, तुम्हारी इच्छा ही हमारे लिए अनुकरणीय है। तुम मेरे लिए आराध्य हो और रहोगे। सूर्य टल सकता, पृथ्वी टल सकती है, चन्द्रमा अपने पथ से टल सकता है, वायु का वेग टल सकता है परन्तु मेरी दृढ़ इच्छाशक्ति जो आपके प्रति है वह नहीं टलेगी। हर हालत में तुम मेरे परम आराध्य हो। तुम प्रसन्न हो, मुझे कर्तव्यपथ पर चलने का साहस दो। यही मेरी इच्छा है, यही मेरी तमन्ना है। तुम्हारे द्वारा निर्देशित सत्य धर्म से एक क्षण भी हम विचलित न हों। हे गुरुदेव तुम्हारे चरणों में कोटिशः प्रणाम।”

यह देव एवं देव संस्कृति के ही लोग कर सकते हैं। उनके पास सरस्वती (प्रचार तंत्र) है। अपने आप ही लिख देंगे या प्रचारित कर देंगे। मैं तो उस स्थिति में जाकर या उस ऋषि से सत्यासत्य जानकर ही लेखनी उठाता हूँ। इसलिए मेरी लेखनी या वाणी कठोर हो जाती है। पुराण में कुछ ऋषियों के साथ अन्याय किया गया तो कुछ को बहुत ही चढ़ा-चढ़ा कर महान बनाया गया है। अतएव आपको विवेक के आँख से अवलोकन करना ही होगा। कालान्तर में कथा गढ़ दी गयी कि विश्व मित्र ने ही हरिश्चन्द्र का सभी कुछ दान में लिया है। यह उचित नहीं है। चूँकि इसके सभी पात्र देवता हैं। इन्द्र, यम, धर्म, अग्नि।

विश्वमित्र का हरिश्चन्द्र की पुकार सुन प्रकट होना

इस कारुणिक प्रार्थना को सुनकर पूरी सृष्टि करुणा से भर जाती है। धन्य हैं देवतागण! धन्य हो देवर्षि! जरा भी दया नहीं। महर्षि विश्वमित्र जो स्वरूप में स्थिर हो, सत्य लोक में अचल आसन जमाये हुए थे, एकाएक भक्त की करुण प्रार्थना सुनकर उद्वेलित हो उठे। प्रकट हो गये। हरिश्चन्द्र साक्षात् गुरु को देखकर क्षणमात्र में अपने सारे दुःखों को भूल गये एवं पति-पत्नी उनके पैरों से लिपट जाते हैं। प्रेम अश्रुओं से धो डालते हैं उनके पैर को। अपने शिष्य को विषम परिस्थिति में देख महर्षि चिन्तित हो उठते हैं। देख लेते हैं ध्यान से। यह स्थिति क्यों हुई? कैसे हुई? विश्वमित्र की उपस्थिति मात्र से देव गण, वशिष्ठ चिन्तित हो उठते हैं। भयभीत हो उठते हैं। अपने अनिष्ट की आशंका से। विश्वमित्र के पूर्व के रूप को देख भयातुर हो जाते हैं। कोई उपाय न सूझ, वशिष्ठ, देवेन्द्र, धर्म, यम, अग्नि सब एक साथ उस श्मशान भूमि में उपस्थित हो जाते हैं। (जो हरिश्चन्द्र को इस स्थिति तक पहुँचाये थे।)

विश्वमित्र उन्हें दण्ड देने ही जा रहे थे कि देवगण रोहित को जिन्दा कर

विश्वमित्र से प्रार्थना करने लगे हे ब्रह्मऋषि आपके शिष्य को हम लोग दण्ड नहीं दिए हैं, बल्कि परीक्षा ले रहे थे। देख रहे थे हम लोग कि आपकी अनुपस्थिति में यह अपने कर्तव्यपथ, धर्म पथ, सत्यपथ पर है या नहीं। जब तक पृथ्वी रहेगी, चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे तब तक सत्य हरिश्चन्द्र का नाम रहेगा। इनका राज्य हम लोग वापस कर रहे हैं। इन्हें हम लोग चक्रवर्ती सम्राट बना रहे हैं। हे ब्रह्मर्षि! आप प्रसन्न हों। स्वधाम को प्रस्थान करें। विश्वमित्र बोल उठे “देवेन्द्र, देवर्षि तुम यह याद कर लो आज के बाद इस धराधाम पर किसी भी सत्य निष्ठ मानव की इस तरह परीक्षा लेना अपराध होगा। यदि तुमने भविष्य में इस तरह की परीक्षा लेने का प्रयास किया तो दण्ड के भागी होंगे। ध्यान से सुनो तुम लोगों की इस तरह की धृष्टता भविष्य में मेरे लिए असहनीय होगी। वशिष्ठ आज के बाद तुझे वही करना होगा जो अयोध्या के राजा की इच्छा होगी। किसी भी नीति का निर्धारण राजा के मुँह से होगा। तू भी अब भविष्य में नीति निर्धारण की धृष्टता छोड़ देगा।” हरिश्चन्द्र तुम्हें मेरा अमोघ आशीर्वाद प्राप्त हो। तुम सत्यरूपी कर्तव्य पथ पर चलते रहो। भविष्य में तुम्हारा अब अनिष्ट नहीं होगा। अनिष्ट करने वाला स्वयं बरबाद हो जायेगा। इतना कह विश्वमित्र, परमहंस सद्गुरु सत्य में विलीन हो गये। पुनश्च सृष्टि का चक्र अपनी धूरी पर आगे चल दिया। हरिश्चन्द्र के निर्देशन में कार्य का संचालन सुव्यवस्थित हो गया। वशिष्ठ का कार्य-क्षेत्र पठन-पाठन तक सीमित कर दिया गया। मुख्य सचिव का पद दूसरे व्यक्ति ग्रहण कर लिए। देवेन्द्र लज्जित होकर मानसरोवर के पास तप को प्रस्थान कर गये। अब विश्वमित्र के विषय में आगे विचार किया जायेगा। अब आप लोग “हरि” की तरफ ध्यान दें।

हरि की अणु शक्ति

हरि जो मानवता का उत्कृष्ट प्रतीक स्वरूप था। पूरब में आ गया। उसने अपनी अणु विद्या से जगत् को नया आलोक दिया। उसने एक ऐसे तंत्र का आविष्कार किया जिससे मानव मन प्रत्येक अणु में परमात्म चेतन का दर्शन कर सके। विश्व का प्रत्येक अणु ही विश्व सृष्टा का रूप मालूम हो। इसी से कालान्तर में इसे विष्णु भी कहा गया। इनका कार्य क्षेत्र दक्षिण पूर्व का समुद्र तटीय भूभाग था।

इनमें एक साथ युद्ध कौशल, तंत्र कौशल, अर्थ तंत्र, समाज तंत्र, नीति-शास्त्र का विकास हुआ। इसी से ये नीतिज्ञ भी कहे गये। ये एकाएक आँधी, तूफान की तरह चारों दिशाओं में छाने लगे। चारों दिशाओं में समान रूप से विश्व अणु

तंत्र को प्रचारित करने लगे। यक्ष, गन्धर्व एवं देवों पर भारी पड़ने लगे। इसी से इन्हें चतुर्भुज भी कहा गया। जब ये हुँकार करते तो दिशाएँ काँप उठतीं। देव, रक्ष, यक्ष, गन्धर्व, नाग, भयभीत हो उठते। इसी से इन्हें शंखधारी भी कहा गया। इनके तंत्र के साधकों के खिलाफ जो कोई उपद्रव खड़ा करता, व्यवधान डालता उस पर ये जोरदार गदा से प्रहार करते। इसी से इन्हें गदाधारी भी कहा गया। ये अपने साधकों के विविध (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों के निवारण हेतु जिस दिव्य अस्त्र का प्रयोग करते उसे चक्र कहते थे, जिस चक्र की छत्र-छाया में साधक अपने दिव्यता को शीघ्र ग्रहण कर अपने कर्तव्य पथ की ओर अभिमुख होता है। इसी से इन्हें चक्रधारी भी कहते हैं। इनके पास उस समय का मूल्यवान वाहन पक्षी स्वरूप गरुड़ भी था। जो मानस गति से चलता था। जिससे ये अपनी तंत्र विद्या का प्रचार शीघ्रता से करने लगे। जन-मानस के कल्याण में यह गरुड़ भी वरदान सिद्ध हुआ। इसी से इन्हें गरुड़धारी भी कहते हैं। यह गरुड़ स्वचालित था। साथ ही इसमें अपना एवं पराया समझने की क्षमता थी। दुष्ट एवं सज्जन समझने की कला थी। यह हरि सदाशिव से भिन्न थे। ये न तो काले न ही गोरे ये परन्तु इनका चेहरा ओज से चमकता हुआ साँवले रंग का था। सदाशिव की तरह भोले-भाले भी नहीं कहे जा सकते। कुछ कला में ये मानवेतर थे। तो कुछ कला में देवोत्तर। हर जीव से अपना कार्य कराने की अद्भुत क्षमता थी। अपनी बात मनवाने की अद्भुत कला थी। ये अपना रहस्य किसी को नहीं देते परन्तु दूसरे का रहस्य शीघ्र जान लेते थे। उसी के अनुरूप अपना कार्य संचालन करते। ये सिद्धियों के स्वामी हो गये। इसलिए इन्हें सिद्धपति भी कहते हैं। हरि-हर लेता हो जो अरि को यानी जो हरण कर लेता हो हर तरह के कष्टों को, इसी से इन्हें हरि भी कहा गया। बात करने में इनकी वाकपटुता देवताओं से भी आगे थी। मैं कोई आकाशीय हरि की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। ये हरि इस पृथ्वी के मानव संस्कृति के ही हैं। अतएव आप इसे मानव समझ कर ही विचार करें। चूँकि मेरी मान्यता है कि मानव ही परमात्मा बनता है। पूर्ण ब्रह्म को साकार करता है। या पूर्ण ब्रह्म वरन्त परमात्मा का अवतरण मानव में ही होता है। जिसकी देवतागण प्रार्थना किये हैं या करते हैं। परमात्मा का प्रतिनिधि मानव ही है। देव योनि भोग योनि है। मानव कर्म योनि है।

हरि का लक्ष्मी से शादी करना

हरि के बढ़ते हुए प्रभाव अणुधर्म को देखकर देवगण पुनः चिन्तित हो गये। इनसे सम्बन्ध स्थापित करने की विधि सोचने लगे। इनके लिए भी उसी ऋषि

का प्रयोग करना उचित समझा जिनके लिए सदाशिव का किया गया। देवेन्द्र ने ऋषि नारद को आमन्त्रित किया। हालाँकि नारद मानव संस्कृति के ऋषि थे। परन्तु इनका गमनागमन हरि, हर, देव, यक्ष चारों तरफ समान रूप से था। इनको जहाँ प्रतिष्ठा मिलती वहाँ बिना किसी विचार के सहर्ष चल देते। इसी परिप्रेक्ष्य में अणु विद्या से देवेन्द्र की सभा में उपस्थित हो गये। यदि कहा जाये कि नारद हरि के अग्रगण्य शिष्यों में से थे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनका आकर्षक व्यक्तित्व था, अणु सिद्ध, पैर में खड़ाऊँ; जिसके सहारे वे कहीं भी क्षणमात्र में पहुँच जाते थे। एक हाथ में वीणा, दूसरे हाथ में करतल, मुँह में हरि के द्वारा दिया हुआ नारायणी मन्त्र। यह नारायण महामन्त्र था नारद के लिए नारायण, नारायण जपते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान चले जाते थे। मानो हर समय नारायण के ही ध्यान में हों। भीतर बाहर, आगे-पीछे मानों नारायण ही दृष्टिगोचर होता हो। यही सिद्धान्त था अणु तंत्र का। नारद उपस्थित हो गये देवेन्द्र के सामने। देवेन्द्र उचित स्वागत करते हैं। नारद से कुशल क्षेम पूछते हैं तथा मानव लोक एवं मानव संस्कृति का सन्देश पूछते हैं। नारद की वीणा जाग उठती है। कह देती है पूरा सन्देश हरि का। वीणा का मधुर स्वर एवं करतल की आवाज़ सुन देवेन्द्र झूम उठते हैं। देवगण लोग वाह-वाह करने लगते हैं। नारद समझ जाते हैं कि ये लोग भी हरि के गुणग्राही हैं। अतएव हरि के सम्बन्ध में वह सब कुछ बता देते हैं, जो उचित नहीं था। नारद स्वयं आमन्त्रित कर देते हैं देवेन्द्र को हरि से मिलने के लिए। वे प्रस्थान करते हैं। हरि के आश्रम पर पहुँचकर लोग हरि की पूजा-अर्चना करते हैं। हरि आने का कारण जानना चाहते हैं। नारद परिचय कराते हुए कहते हैं कि आप के दर्शनार्थ लोग आये हैं। नारद देवर्षियों से मन्त्रणा करते हुए हरि से समुद्रीय भू-भाग में अन्वेषण का प्रस्ताव करते हैं। देवेन्द्र अन्वेषण के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से हरि को समझाते हैं। जिससे हरि सहमत हो जाते हैं। इस तरह देवगण हरि से अपना सम्बन्ध बढ़ाते जाते हैं। देवेन्द्र अपनी राजधानी में मन्त्रणा करते हैं कि सदाशिव की तरह हरि से रक्त सम्बन्ध हो जाता तो देव लोक का काम आसान हो जाता। इसके लिए नारद को उपयुक्त समझा जाता है। नारद से देवेन्द्र घुमा-फिराकर वाक् जाल में फँसाकर समुद्रतटीय राजा सागर (समुद्र) की पुत्री के सम्बन्ध में हरि की इच्छा जानना चाहते हैं।

नारद नारायण-नारायण कहते हुए वहाँ से प्रस्थान कर जाते हैं। देवेन्द्र वृहस्पति को बुलाते हैं। वृहस्पति से एकान्त में कुछ मन्त्रणा करने के पश्चात् वे लोग राजा सागर के यहाँ पहुँच जाते हैं। राजा सागर वर्तमान के अण्डमान

निकोबार द्वीप के आस-पास के राजा थे। देवेन्द्र एवं वृहस्पति हरि की, हरि के सम्बन्ध में कुछ चर्चाएँ करते हैं तथा हरि के प्रखर ज्ञान एवं क्षमता का संदेश दे उनकी पुत्री लक्ष्मी के संबंध में कुछ जानना चाहते हैं। सागर सहर्ष अपनी लड़की का सम्बन्ध हरि से करने को तैयार हो जाते हैं। सोचते हैं यह सम्बन्ध हो जाने से हम सब की ताकत बढ़ जायेगी। इधर नारद हरि से देवेन्द्र का सन्देश सुनाते हैं एवं वहाँ से सीधे सागर के घर पहुँच जाते हैं। राजा सागर उचित समय पर नारद को देख प्रसन्न होते हैं एवं अपनी लड़की से ही आतिथ्य सत्कार कराते हैं। उस लड़की की भाग्य रेखा देख नारद अचंभित हो जाते हैं। वे देखते हैं यह लड़की जिसके साथ रहेगी वह वैभवपूर्ण जीवन, सब सुख-सुविधाओं का सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करेगा। उस लड़की के रूप एवं शुभ लक्षण देख मोहित हो जाते हैं। सागर को शुभ-अशुभ लक्षण बता देते हैं। नारद वहाँ से हरि के नज़दीक आ लक्ष्मी के गुणों का वर्णन करते हैं जिसे सुनकर हरि विवाह सम्बन्ध करने की स्वीकृति दे देते हैं।

अणु तंत्र

अब चर्चा करते हैं भक्ति (अणु तंत्र) पर। अणु तंत्र के साधक सदैव स्वतंत्र होते हैं। बन्धन मुक्त होते हैं। चूँकि परम पुरुष का उसे सान्निध्य प्राप्त होता है। इसलिए प्रकृति अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकती है। तब जीव, जीव न होकर हरि हो जाता है। जीव में जैव पुरुष को जैवी प्रकृति के ऊपर प्रतिष्ठित करने की कला को ही अणु तंत्र कहते हैं। इस जगत् में प्रकृति क्रिया-कलाप के प्रथमार्थ में प्रकृति का बन्धन दृढ़ हो जाता है। यानी सृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर बढ़ती है। प्रकृति के कार्य में पुरुष की इस शिथिलता को ही संचर क्रिया कहते हैं। जब पुरुष अपनी शिथिलता को नियन्त्रित करता है तब वही स्थूल सृष्टि सूक्ष्म की ओर चल देती है। तब प्रकृति को नियन्त्रण में ले लेती है। तब प्रकृति अपनी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं कर सकती है। जब पुरुष का नियन्त्रण लागू होता है, तो सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए अव्यक्त में समाहित हो जाती है। सृष्टि-क्रम की इस व्यवस्था को प्रतिसंचर कहते हैं। इस प्रकार वहिरङ्गिक और अभ्यान्तरीण के परस्पर संघर्ष का ही परिणाम है अणु-परमाणु। जिससे शरीर का निर्माण होता है। पुनः आभ्यान्तरीण संघर्ष से शरीर (जड़) के अणु-परमाणु चूर्ण-विचूर्ण होकर मानस या मन में बदल जाते हैं। इसी को चित्त भी कहते हैं। पुरुष की शिथिलता प्रत्याहत होने पर चित्त में भी आभ्यान्तरीण युद्ध होता है। जिससे चित्त भी टूट जाता है। तब सूक्ष्मतर सत्ता अहं तथा महत्

का विकास होता है। इसके साथ ही सत्ताबोध प्रकट हो जाता है। इसके साथ ही “मैं” पन प्रकट हो जाता है। जब “मैं” पन से हटकर बोधि सम्यक विकास होता है, तब ज्ञात होता है कि सबके मूल में एक ही सत्ता है। तब वह अपनी समस्त वृत्तियों को खींचकर उस एक की ओर छोड़ देता है। जैसे न्यूक्लियस के चारों तरफ न्यूक्लियाई आ जाते हैं। परमाणु के चारों तरफ अणु आ जाते हैं। तब एक ही वृत्ति शेष रह जाती है। वह है “आनन्द”। इसी आनन्द की उपलब्धि ही है “अणु तंत्र”। नारद इसे सुनकर भाव विभोर हो उठते हैं। इस सर्वज्ञ बोधि को जानकर वे परम-पद, परम साध्य, परम ध्येय, आनन्द को उपलब्ध हो जाते हैं। जब साधक अपने प्राण को विश्व-प्राण में यानी अपने प्राण रूपी अणु को विश्व अणु में मिला देता है तो समाप्त हो जाता है। उसका क्लेश, दुःख का हरण कर लेता है हरि। तब वह भी हो जाता है विष्णु। यह है हरि का अणु तंत्र जो सभी को अपने समान ही बनाने की क्षमता रखता है। यह सम्यक स्व बोधि की विधि मानव संस्कृति की देन है। जिसे अन्य संस्कृति के लोगों ने सहर्ष ग्रहण किया।

समुद्र मंथन

नारद इस अणुतंत्र को लेकर मानव संस्कृति में फैलाते हुए पुनः देवेन्द्र को यहाँ जा पहुँचे। देवेन्द्र इसे सुनकर हतप्रभ हो जाते हैं तथा समुद्रीय, तटीय उसके इर्द-गिर्द के पर्वतीय भाग में अन्वेषण के लिए उत्प्रेरित करते हैं। जिसे कालान्तर में समुद्र मन्थन भी कहा गया। चूँकि देवेन्द्र जानते थे कि यक्ष संस्कृति से ही सम्बन्ध रखने वाले कुछ नाग एवं गन्धर्व लोग जो वर्तमान तिब्बत और भूटान के भू-भाग में रहते थे। जो विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। जिन्होंने विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक संसाधनों का विकास कर लिया है। उनका बाह्य जगत् के किसी भी संस्कृति से कोई खास सम्बन्ध भी नहीं है। वे अपने आप में मस्त हैं। उनकी खोज में प्रमुख थी एक ऐसी विधि जिससे दूध की धारा निकाली जा सके यानी मनोवांछित दूध रूपी धारा प्राप्त की जा सके जिसे कामधेनु के रूप में जाना जाता था। एक ऐसा आनन्दमयी वृक्ष जिसकी शीतल छाया में बैठने मात्र से मन, बुद्धि, चित्त शान्त हो जाये। मन स्वतः अन्तःकरण स्वरूप को ग्रहण कर ले जिसे कल्पवृक्ष के रूप में जाना जाता था यानी जो कल्पों तक के प्रयास से न प्राप्त हो वह इसके सान्निध्य में आते ही प्राप्त हो जाता है। एक ऐसा द्रव्य जिसके पीने मात्र से वृद्ध व्यक्ति युवावस्था को प्राप्त कर ले, रोगी पूर्णतः स्वस्थ हो जाये। मरे हुए व्यक्ति में जीवन का संचार हो जाये। युवा चित्त अमरत्व को ग्रहण कर ले, जिसे अमृत कहा गया।

ठीक इसके उल्टा ही एक दूसरा द्रव्य जिसका प्रयोग अपने शत्रुओं पर किया जा सके, जिसके स्पर्श मात्र से मृत्यु को प्राप्त हो जाये। आज के पोटेशियम साइनाइड से भी संचातक द्रव्य था वह जिसे “काल कूट” विष कहा जाता था।

ऐसी युद्ध सामग्री जो स्वचालित थी एवं दुश्मनों पर भारी पड़ने वाले अस्त्र जिसे गदा एवं चक्र कहा गया। साथ ही अपने दुश्मनों से प्रति रक्षार्थ एक ऐसा यन्त्र जिसके ध्वनि मात्र से शत्रु पक्ष दहल जाये, जिसे शंख कहा गया। इसी तरह आर्थिक क्षेत्र में भी एक ऐसी तकनीक थी जिससे समुन्नत एवं आर्थिक रूप से दृढ़ हो सकें, जिससे ज्यादा से ज्यादा अर्थ संग्रहीत किया जा सके, उसे महालक्ष्मी कहा गया।

उनके विकास की जो प्रक्रियाएँ थीं वे उस समय काल के लिए उत्कर्ष पर थीं। जिसका पता इन्द्र अपने खुफिया तंत्र यानी नारदीय व्यवस्था से कर लेते थे। अब देवेन्द्र की निगाह उसे प्राप्त करने पर टिकी हुई थी। अब उन्हें चाहिये था एक ऐसा सशक्त योद्धा जो नेतृत्व कर सके तथा जिसके मिलने पर उस सम्पदा का समुचित बँटवारा देवगणों के बीच हो सके। सोचने-समझने मन्त्रणा करने के पश्चात् ध्यान “हरि” पर टिक गया। देवेन्द्र ने हरि से पुनः सम्पर्क स्थापित कर अपनी सागर मन्थन खोज का प्रस्ताव उनके सामने रखा। साथ ही उनसे यह भी प्रस्ताव किया गया कि इससे प्राप्त मनोवांछित वस्तुओं को आप ग्रहण कर सकते हैं। इस तरह हरि को समझा-बुझाकर येन-केन-प्रकारेण तैयार कर लिया गया। अब होने लगी समुद्र मन्थन की तैयारी। हरि के इर्द-गिर्द देवेन्द्र की नारदीय व्यवस्था कसती गयी। हरि ने समझाया कि देवेन्द्र जब उनकी युद्ध कला, अर्थकला, राजनीतिकला इतनी समृद्ध है तो उसे प्राप्त करना अत्यन्त दुरूह प्रतीत होता है अतएव तुम रक्ष संस्कृति के शूरवीरों को भी इस कार्य के लिए आमन्त्रित करो। देवेन्द्र ने इस प्रस्ताव पर अपने सभासदों तथा बृहस्पति, शुक्राचार्य, वशिष्ठ, अगस्त्य इत्यादि से मन्त्रणा की एवं हरि को आकर समझा दिया कि ठीक है उन्हें भी आमन्त्रित कर लिया जाये परन्तु इस कार्य का नेतृत्व आप करें। हम लोग आपके साथ पीछे की तरफ से शुकवत चढ़ाई करेंगे तथा रक्ष (राक्षस) गण सामने के द्वार से बाँधवन्नत घेर लेंगे। सामने से जब घेरा मजबूत करेंगे तो नागों द्वारा जो अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग होगा वह राक्षस गण पर ही होगा। हम लोग सुरक्षित पीछे से सब कुछ हासिल करने में सफल हो जायेंगे। जिसका बँटवारा आप जैसे कहेंगे वैसे ही कर दिया जायेगा। हरि अब चूँकि देवगणों के समीप ज्यादा से ज्यादा रहने लगे। अतएव उनकी नीति उन्हें रुचिकर लगी। सीधे-सादे बहादुर रक्ष, देव आमन्त्रण पर तो नहीं आते परन्तु देखा कि हरि ही

नेतृत्व करते हैं तब विश्वास कर आ गए। देवगण योजनाबद्ध ढंग से चढ़ाई कर दिए। उसी विधि को वासु की (बाँध वत एवं शुकवत) बाँध कहते हैं। नाग मुख्यतः ब्रह्म लोक के वासी थे। सामने से रक्ष (राक्षस) गण चढ़ाई किये, जिससे क्रुद्ध नागवंशीय गण अपने अस्त्र-शस्त्र के साथ जुट गये। उस आक्रमण में बहुत सारे रक्ष गण मारे गये बहुत घायल हुए जिसे नाग का विष वमन कहा गया।

देवगण के साथ हरि पिछले भाग से सारे बहुमूल्य रत्न उठा लाये। इस तरह की चढ़ाई उस समय के लिए बिल्कुल नयी थी। सभी सामने से युद्ध करते थे। पीछे से कोई नहीं घुसता था। लूट-पाट नहीं करता था। औरतों को कतई छूता तक नहीं था। अतएव नाग लोग इसके लिए तैयार नहीं थे वे हार गए। देवगणों द्वारा वहाँ से सीधे भू-मण्डल पर आकर बंटवारा किया गया। उधर मृत, घायल, मौत से जूझ रहे रक्ष गणों को यों ही छोड़ दिया गया। जीत के उपलक्ष्य में हरि की सागर पुत्री लक्ष्मी के साथ शादी सम्पन्न हो गयी। हरि की इच्छानुसार शंख, चक्र, गदा, लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) इत्यादि इन्हें मिल ही गया। शेष भाग देवगण के लिए। अब बचा अमृत एवं विष।

शिव का विष पान

यह तय हुआ कि विष कौन ले? चूँकि यह अहितकारी एवं विध्वंसक था जिसे कहीं भी रखना असम्भव था। अतएव सबने तय किया कि इसे रक्ष संस्कृति के प्रतीक सदाशिव को पिला दिया जाये। चूँकि वे समझ गये थे कि इनके सारे गण तो राजा वासुकी के विष वमन से मर गये। अब बचे शिव, इन्हें यह पिला दिया जाये। देवगण यह भी जानते थे कि सदाशिव को भस्मासुर नामक देव से हरि ने ही बचाया था। अतएव हरि की बात सहर्ष शिव स्वीकार कर लेंगे। हरि को पुनः समझा-बुझाकर तैयार किया गया। देव-यक्ष गण सदाशिव के यहाँ पहुँचे। अचानक देवों का आगमन देख सदाशिव चकित हुए साथ ही आने का हेतु (कारण) पूछा। देव बोले कि हमारे ऊपर आप विश्वास रखते हैं। सदाशिव ने उत्तर दिया तुमने हमें बचाया है। अतः यदि तुम कहो तो मैं मृत्यु को भी स्वीकार कर सकता हूँ। बस देवेन्द्र ने विष-पात्र की तरफ इशारा कर दिया। आप इसे पान करें। यह एक रत्न है जो समुद्र मन्थन में मिला है इस अमूल्य द्रव रूपी रत्न को आपके ही लिए हम लोग यत्नपूर्वक ला रहे हैं। शिव निःशुल, निष्कपट बिना किसी सन्देह के तुरन्त विष पात्र उठाकर पान कर जाते हैं। ज्योंहि मुँह में लेते हैं, समझ जाते हैं कि यह विष है। जो हमारे मृत्यु का प्रतीक है। देवगणों ने मिलकर धोखा दिया। वे महान् तंत्र विद् थे। अतएव विष को कण्ठ में ही रोक लिया। जिससे वे नील-कण्ठ कहलाये। विष की गरमी से अत्यन्त व्याकुल

हो उठे। वे बोले देवेन्द्र आप से यह उम्मीद नहीं थी। खैर तुम्हारे उपकार का बदला देना था। सब स्वीकार्य है।

यही कारण है कि शैव एवं वैष्णव में बहुत दिनों तक युद्ध हुआ। दोनों में कभी नहीं पटी। इसे पटाने का भरसक प्रयत्न तुलसीदास ने भी किया। अन्यथा शैव की नागा फौज केवल वैष्णवों के लिए ही थी।

इस तरह वैष्णवों एवं शैवों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी झगड़ा चलता रहा। शैव या रक्ष संस्कृति के लोग देवेन्द्र के द्वारा किये अपमान का बदला लेना चाहते थे।

अमृत का बंटवारा

इधर हरि सब देवगणों को लेकर देवेन्द्र की नगरी पहुँच गये। जहाँ अमृतकलश रखा हुआ था। अब वे लोग इसे गुपचुप देवताओं, यक्ष एवं विष्णु (हरि) के द्वारा अधिकृत व्यक्तियों में बांटना चाहते थे तब तक बचे हुए रक्ष संस्कृति के गणमान्यजनों को यह सारी घटना मालूम पड़ गयी कि समुद्र मन्थन की प्रक्रिया कुछ नहीं थी बल्कि रक्ष संस्कृति के लोगों का सफाया करना था, जिससे निकले हुए 12 रत्न तो आपस में बांट लिए, एक रत्न विष हमारे गणपति या गणाध्यक्ष सदाशिव को धोखे से पिला दिया। अब एक रत्न अमृत बचा है जिसका वे सब अपने में बंटवारा करना चाहते हैं। अतः रक्ष संस्कृति के श्रेष्ठजनों ने न्यायोचित हिस्सा पाने के उद्देश्य से देवलोक पर धावा बोल दिया। जैसे ही देवेन्द्र को पता चला उन्होंने अमृतकलश को सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति, मकर, इत्यादि देव गणों के संरक्षण में वहाँ से हटा दिया एवं हरि के नेतृत्व में रक्ष यानी राक्षस लोगों से घोर युद्ध होने लगा। जब राक्षस लोगों को यह मालूम हुआ कि अमृतकलश अन्यत्र हटाकर हम लोगों को युद्ध में फंसाये रखना चाहते हैं, अतएव अमृतकलश जिस दिशा में रखा था उधर ही दौड़े। प्रथम दिन अमृतकलश स्वर्ग से लाकर पृथ्वी पर वर्तमान इलाहाबाद में रखा गया। जब राक्षसगण इलाहाबाद पहुँचे, तो देवगणों के साथ यहाँ भी घोर संग्राम हुआ तथा उस अमृतकलश को लेकर देवगण वहाँ से हरिद्वार में पहुँच गये। इस तरह से वहाँ युद्ध होने पर उज्जैन की तरफ भागे जिसे धारा नगरी भी कहा गया था। जहाँ कभी सदाशिव भी रहे थे इसीलिए उसे महाकालेश्वर भी कहा जाता है। पुनः राक्षसों के द्वारा यहाँ भी आक्रमण करने पर अमृतकलश लेकर नासिक पहुँचे। इस तरह इस पृथ्वी पर यह अमृतकलश चार जगह रखा गया था। उस भूमि भाग पर वर्षों युद्ध चलता रहा। कुछ जगह लिखा है कि एक-एक जगह 12-12 दिन युद्ध हुआ। कुछ जगह 12-12 वर्ष तक युद्ध का वर्णन मिलता है। खैर जो हो ऐसी मान्यता है कि उस भूमि

पर अमृतकलश से कुछ अमृत गिरा, जिससे वहाँ कुम्भ लगता है। कुम्भ यानी घड़ा, जो घड़ा अमृत से भरा हो, उसे कुम्भ कहते हैं। इस अमृत कुम्भ का वर्णन तंत्र विज्ञान में सदाशिव ने भी किया है जो प्रत्येक मानव के अन्दर ही है और विशेष विधि से उस अमृत का पान कर मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त कर सकता है। इस तरह यह अमृतकलश पुनः गन्धर्व, यक्ष लोक होते हुए देवलोक में पहुँच जाता है। राक्षस गण इतना युद्ध करने के पश्चात् थक कर निराश हो गये। तब देवगण विष्णु (हरि) के नेतृत्व में इस अमृत का बंटवारा करने के विषय में सोचे।

राहु का अमृत पीना

स्थान एवं समय निर्धारित होने के उपरान्त देवेन्द्र के द्वारा अधिकृत देवगणों को बुलाया गया, कुछ प्रमुख यक्ष गणों को भी बुलाया गया तथा लक्ष्मी एवं हरि के द्वारा प्राधृत एवं अधिकृत कुछ मानव संस्कृति के लोग भी सम्मिलित हुए। अमृत का बंटवारा शुरू हो गया। पहचान कर वह अमृत दिया जाने लगा। किसी तरह राहु नामक रक्ष संस्कृति का एक व्यक्ति भी वहाँ अपना भेष बदलकर केवल पहुँच ही नहीं गया वरन् उस वितरण में शामिल होकर अमृतपान करने में सफल भी हो गया। जिसे देवेन्द्र के द्वारा अन्त में पहचान लिया गया। देवेन्द्र के द्वारा हरि से इस बात की शिकायत की गयी। हरि ने प्रथम बार उस चक्र का प्रयोग उस राहु नामक राक्षस पर ही किया। जिससे वह दो भागों में कट गया परन्तु अमृतपान कर लेने के कारण उसका अस्तित्व दो हो गया। जो कालान्तर में राहु एवं केतु के नाम से विख्यात हुए।

हरि का समुद्र में निवास करना

हरि देव संस्कृति के बहुत ही सामीप्य में चले गये थे। जो देवेन्द्र चाहता लगभग वही करने को बाध्य होने लगे। इस तरह देवेन्द्र एक बार पुनः शक्तिशाली हो उठा। देवगणों ने सोचा कि यह भी कहीं शिव की तरह दूर न हट जाये इसलिए समुद्रराज जिसकी लड़की से इनकी शादी हुई थी, के यहाँ ही रहने का परामर्श दिया। देवेन्द्र के आदेशानुसार वहाँ पर विश्वकर्मा के द्वारा एक अत्यन्त सुन्दर भवन का निर्माण किया गया।

विश्वकर्मा यानी देव संस्कृति के अभियन्ता प्रमुख, भवन निर्माण कला में अत्यन्त दक्ष एवं प्रवीण थे। अतएव उन्होंने समुद्र राज के नगर में ही एक ऐसे विचित्र भवन का निर्माण किया जो देखने में नाग (सर्प) की तरह दिखायी पड़ा यानी वह कुण्डल मारे सर्पाकार था जिसे कालान्तर में शेषनाग भवन कहा गया। वह सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम तथा आराम के दृष्टिकोण से भी सुन्दर था। हरि

लक्ष्मी के साथ वहीं निवास करने लगे। देव संस्कृति के लोग ही उनके सामीप्य में ज्यादा थे, जिसके चलते हरि एक बार पुनः मानव संस्कृति से कट से गये। यही काल रहा है जब देव संस्कृति हरि को जोड़कर इस भूखण्ड पर आ ही नहीं गयी वरन् इसका प्रचार-प्रसार जोर-शोर से होने लगा। मानव संस्कृति को पार करते हुए यह रक्ष संस्कृति तक पहुँच गयी।

समुद्र मंथन का आध्यात्मिक अर्थ

साधक साधना करता है तो सबसे पहले उसका श्वास प्रश्वास मूलाधार चक्र पर आघात करता है। मंदरा चल पर्वत रूपी स्तम्भ जो जन्मों से अचल है। मंद पड़ा है। उसे ही सर्पिणी (कुण्डलिनी) साढ़े 3 घेरा मार कर बैठी है। वही वासु की नाग है। हमारा मन ही दो तल पर घूमता है। आत्मा तल पर, शुभ संकल्प पर- यह देव है। शरीर तल (वासना तल) पर, अशुभ संकल्पों पर- यह दानव है। योगी का यही है समुद्र मंथन। कुण्डलिनी के जागृत होते ही प्रथमतः साधक विषय से, वासना से भर जाता है। आप जब किसी सद्गुरु के सान्निध्य में जायेंगे तो आप हो सकता है वासना से भर जायें। या विरक्ति से भर जायें। यही कारण है कि व्यक्ति मंदिर, गुरुद्वारा जाना चाहता है। कर्म काण्डों में रहना चाहता है परन्तु सद्गुरु से भागता है। चूँकि उसकी ऊर्जा आपको अवश्य उद्वेलित करती है। यह आपकी पात्रता पर निर्भर करता है।

वासना का निकलना ही विष है। जो हर हालत में साधक का पतन करती है। उस वासना रूपी विष को ऊर्ध्वगति देना ही शिव को अर्पित करना है। जैसे ही वह ऊर्ध्वगति प्रदान करता है, शिव में मिलता है वही ब्रह्मचर्य रूपी अमृत बन जाता है। जिसमें समाधि रूपी फल लग जाता है। फिर वहीं मूलाधार चक्र पर ही ऋद्धि-सिद्धि, शुभ लाभ साधक के अनुचर बन जाते हैं। इसके इच्छा मात्र से कार्य करने लगते हैं।

जो साधक उस विषय रूपी विष का पान कर लेता है, वही राक्षस है। उसमें वह मृत्यु को प्राप्त करता है। साधक की कुण्डलिनी जैसे जैसे चेतना के अवरोहों को पार करती है, उसमें उसी के अनुसार परिवर्तन आता है। वही हैं चौदह रत्न। अन्त में समाधि रूपी अमृत स्वयं नारायण अपने हाथों से पिलाते हैं। अर्थात् आप नारायण स्वरूप को ग्रहण कर लेते हैं। विशेष जानकारी के लिए हमारी पुस्तक कुण्डलिनी जागरण देखिये।

रक्त संबंध एवं देव यज्ञ

धीरे-धीरे देव संस्कृति और मानव संस्कृति घुलने-मिलने लगी। यहाँ के श्रेष्ठ बलशाली राजाओं की शादी (रक्त सम्बन्ध) का सम्बन्ध देव कन्याओं से करने शिव तंत्र

लगे। जो शादी नहीं करते उन्हें अप्सरा एवं सोमरस से अपनी तरफ आकर्षित करने लगे। इनके ऋषि-मुनियों के यहाँ भी शिष्य-शिष्या, दास-दासी के रूप में अप्सराओं को भेजने लगे। उनके जंगल स्थित आवास में भोग-सुविधा मुहैया करने लगे। इनका वर्चस्व मानव संस्कृति पर छाने लगा। देव संस्कृति को अब हरि (विष्णु) का सुरक्षा कवच प्रदान हो गया। जिस सुरक्षा कवच में जगह-जगह हरि का मन्दिर बनने लगा। हरि की आड़ में ही देवताओं का भी मन्दिर बनने लगा। वेदों के बाद पुराणों का श्रीगणेश होने लगा। विभिन्न पुराणों में विभिन्न देवों की स्तुति एवं उन्हीं का वर्चस्व कायम किया गया। धीरे-धीरे देवताओं की बाहुल्यता आ गयी। जितने मानव नहीं उससे भी ज्यादा देवता आ गये। कहीं-कहीं छत्तीस करोड़ देवताओं का उल्लेख मिलता है। जीवित-निर्जीव वस्तु, प्रकृति के हर रूप, हर आकार में एक अधिष्ठाता देवता छिपा हुआ है। ऐसा उल्लेख कर दिया गया। इसी तरह का पठन-पाठन शुरू हो गया। एक बार फिर देव संस्कृति भारतीय आध्यात्म एवं तंत्र की चादर ओढ़कर मानव संस्कृति पर छाने लगी। अब यज्ञादि के माध्यम से देवेन्द्र वगैरह की स्तुति शुरू हो गयी।

देव संस्कृति पहले भारत भूखण्ड पर अपना विस्तार करती हुई रक्ष संस्कृति की तरफ मुखातिब हुई। पहले तो रक्त सम्बन्ध से ही अपना कार्य क्षेत्र का विकास किया। अब वे तंत्र में भी निपुण हो, गुरु का भी चोला धारण कर लिए। गुरु के रूप में अगस्त्य, शुक्राचार्य, पुलस्त्य, विश्वेश्रवा को दक्षिण में भेजा गया। उन्हें रक्ष संस्कृति को प्रभावित करने का उत्तरदायित्व दिया गया। ये भारतीय ऋषि के ही तंत्र तप की खाल ओढ़ दक्षिण की तरफ बढ़े। ये शिव के तंत्र विद्या का भी ज्ञान कर चुके थे अब क्या कहना था; **“एक तो करैला अपने तीत दूसरे चढ़े नीम के डार”**, वाली कहावत अक्षरशः चरितार्थ हुई। यह कला अद्भुत कारगर साबित हुई। समय-समय पर देवेन्द्र, काम, अप्सरा, सोम इत्यादि देव को लेकर उनके आश्रम पर विचरण करते रहते। अब ये ऋषि भी खुद अपना रक्त सम्बन्ध रक्ष संस्कृति की कन्याओं से करने लगे। जगह-जगह अपना विद्यालय चलाने लगे। जन-साधारण से उच्चस्तर के लोगों को वर्तमान ईसाई मिशनरी से आगे बढ़-चढ़ कर शिक्षा-दीक्षा देने लगे। धीरे-धीरे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं के केन्द्र के रूप में परिणत हो गये। जैसे-जैसे इनका प्रचार प्रसार दक्षिण में बढ़ता गया, वैसे-वैसे वहाँ के शासन पर अपना प्रभुत्व मजबूत करते गये। धीरे-धीरे ये रक्ष संस्कृति के नीति नियामक भी बन गये। शुक्राचार्य ने अपने को रक्ष संस्कृति के गुरु के रूप में अधिष्ठापित कर

लिया। अब कोई भी कार्य शुक्राचार्य की इच्छा के बिना सम्भव नहीं था। शुक्राचार्य को निर्देशन प्राप्त होता था देवेन्द्र से।

शुक्राचार्य की कूटनीति

देवेन्द्र शुक्राचार्य की गति विधि देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें मानव संस्कृति की तरफ भी अभिमुख होने का निर्देश दिया गया। चूँकि शुक्राचार्य के कल-बल-छल, वाक्पटुता, सुन्दरता, तथाकथित धर्म, तंत्र के आगे वशिष्ठ भी पीछे छूट रहे थे। फिर भी सूर्यवंश को वशिष्ठ सम्भाल रहे थे। इधर चन्द्रवंश की ख्याति बढ़ रही थी। चंद्रवंशीय बहुत ही तेज, विद्वान, तंत्रवेत्ता थे तथा राजनीति में इनकी पहुँच भी सुदृढ़ थी। जिससे देवेन्द्र का भयातुर होना स्वाभाविक था। भयवश शुक्राचार्य का ध्यान इधर भी आकृष्ट किया गया। चन्द्रवंश की राजधानी वर्तमान प्रयाग में थी। जो प्रतिष्ठा का केन्द्र बनी हुई थी अतएव उसे प्रतिष्ठा नगर (प्रतिष्ठान पुर) के नाम से भी जाना जाता था। यहाँ के राजा ययाति बहुत ही धर्मप्रिय शासक, प्रतिभा सम्पन्न राजा बने। जिनकी शादी वृषपर्वा नामक राक्षस राज की कन्या शर्मिष्ठा से हुई थी। जिससे तीन पुत्र दनु, अनु, एवं पुरु थे। इन्होंने भी देवताओं पर आक्रमण कर इन्द्र को पदच्युत कर दिया था। यह आदेश भी दिया कि कम से कम हमारी तरफ अपनी संस्कृति को मत फैलाना। परन्तु इस कार्य में पहले से ही लगे शुक्राचार्य किसी तरह ययाति से संबंध स्थापित करने में समर्थ हो गए। शुक्राचार्य अपनी वाक्पटुता के चलते जैसे रक्ष संस्कृति पर छाये रहे। उसी तरह ययाति को भी फंसाना शुरू कर दिया। इससे पहले ययाति के खानदान में कभी भी देवगण से सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। ययाति ने कुछ दिन इन्द्र को हटाकर वहाँ पर भी राज्य किया था। परन्तु शुक्राचार्य की माया में फंसकर उनकी लड़की देवयानी से भी शादी कर ली थी। देवयानी अत्यन्त सुन्दर, चतुर एवं प्रशिक्षित लड़की थी। वह अपने रूप, यौवन, गुण और चतुरता से राजा ययाति को अपने प्रभाव में करने में कामयाब हो जाती है। जहाँ से शुरू होता है, मानव संस्कृति के पतन का इतिहास। यह क्रमशः आगे ही बढ़ता जाता है। यदि एक बार भी कोई व्यक्ति किसी तरह के दोष में फंस जाता है तो उसका निकलना असम्भव हो जाता है। कहीं चतुर गुरु का सान्निध्य रहा तो सम्भव है अन्यथा शुक्राचार्य की तरह गुरु तो अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। उनका लक्ष्य शिष्य का मंगलमय भविष्य नहीं बल्कि अपना हित ही सर्वोपरि होता है। उनका लक्ष्य है भारत भूखण्ड पर आधिपत्य।

शुक्राचार्य के चार पुत्र बाग्मी, बण्ड, मर्क और अभर्क भी अब विभिन्न तरीकों से विभिन्न भागों में फैल गये। यथा पिता तथा पुत्र-पुत्री की कहावत चरितार्थ होती है। एक लड़का विश्वावती से अपना धर्म एवं व्यापार का कार्य साथ-साथ फैलाता है। वही विश्वावती बाद में सिन्धु घाटी कहलायी। दूसरा एवं तीसरा पुत्र रक्ष संस्कृति की तरफ (दक्षिण) जाकर पुरोहित (यज्ञादि) का काम करने लगा। चौथा पुत्र शुक्राचार्य के साथ रहकर मानव-संस्कृति में तंत्र यज्ञादि का कार्य करने लगा। अब इसकी पहुँच राजघराने के अन्दर तक हो गयी थी। इससे इसका प्रभाव भारत-भूखण्ड पर शीघ्र ही हो गया। देवयानी रानी थी ही उस पर अविश्वास कैसे किया जा सकता था। वह गुप्तचर का भी काम करने लगी। तंत्र-मंत्र, गुप्त आयुध सामान, गुप्त मन्त्रणा सब की जानकारी शुक्राचार्य या अपने भाई को दे देती जो इनके माध्यम से देवेन्द्र तक पहुँच जाती। शुक्राचार्य को यह ज्ञात हो गया कि मानव संस्कृति अत्यन्त मजबूत एवं अभेद्य है अतएव वह वशिष्ठ, बृहस्पति, अगस्त्य इत्यादि के साथ देवेन्द्र की अध्यक्षता में मन्त्रणा करता है। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया जाता है कि इनकी संस्कृति को समाप्त करो। इन्हें आपस में ही बांटो। इन्हें आपस में तोड़ो। जब ये आपस में ही विभक्त हो जायेंगे, टूट जायेंगे। इनमें आपस में ही ऊँच-नीच का बोध हो जायेगा। तब इन पर शासन करना आसान हो जायेगा।

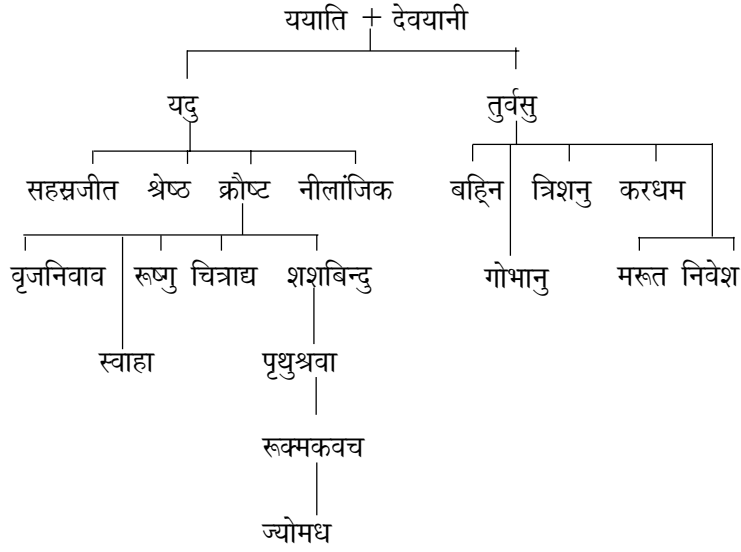
बांटो तोड़ों के सिद्धान्त पर इन तथाकथित देवर्षियों ने कार्य करना शुरू कर दिया। अब बहुत सारे वेद भाग को अयोध्या में, कुछ प्रतिष्ठान में, कुछ पश्चिम उत्तर भाग में जोड़ा गया। स्मृति का भी गठन हुआ। जिसमें यहाँ के ही काले एवं सत्ता से च्युत लोगों को शूद्र कह दिया गया। जो दबंग राजा थे, उनसे ययाति की तरह रक्त सम्बन्ध कर विश्वास में ले लिया गया। अब शुरू हो गया सूक्ष्म रूप से मानसिक दमन चक्र एवं दुस्साहसिक सृजन। बहुत वर्षों तक तो इसका फला-फल भारतीयों को नहीं मालूम पड़ा। उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी कौन क्या इतिहास लिख रहा है, पुराण या स्मृति। वे तो अपने कर्म में लीन थे। परन्तु पहले इन देवर्षियों ने यहाँ के वेदों में अपनी बातें घुसायीं, पुराणों में अपनी बातें कहीं एवं स्मृतियों में तो नीति-नियम नाम का काला कानून कालों के लिए विषवमन था। इधर जितने लोग उतनी जातियाँ बना दी गयीं। लगभग कुल छह हज़ार जाति-उपजाति बना दी गयीं। सभी को एक-दूसरे से छोटा-बड़ा बना दिया गया। इन स्मृतियों में अलग-अलग फला-फल का विवेचन किया गया। देवर्षि से उत्पन्न या देव कन्या से उत्पन्न लोगों को श्रेष्ठतम माना गया। इस तरह धीरे-धीरे यहाँ के लोगों को शक्ति एवं धन के आधार पर बांटा गया। उस समय

कहा गया कि इससे सामाजिक रचना सुदृढ़ होगी। अब कार्य का बंटवारा नहीं करना पड़ेगा। मानव चक्र ठीक ढंग से आगे कदम रखता जायेगा। धीरे-धीरे जन्मजात ये जातियाँ हो गईं। अब देवगण प्रसन्न थे। वही होता जो वे चाहते। उनकी इच्छानुसार मानव संस्कृति कार्य करने को मजबूर हो गयी।

देवेन्द्र स्वर्ग-नरक एवं जातियाँ

अब देवेन्द्र सहित अन्य देवताओं का वर्णन किया गया। उनका महत्व बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया। शब्द जाल बिछा दिया गया। उन्हें सर्वश्रेष्ठ बता दिया गया। उनकी इच्छा के बिना मानव कोई कार्य नहीं कर सकता था। अब आ गया स्वर्ग-नरक। जो अच्छा काम करेगा। वह स्वर्ग प्राप्त करेगा। जहाँ अत्यन्त सुख है। अप्सरा है। मनोवांछित फलाफल मिलेगा। सोमरस है। सभी युवा ही हैं। वृद्ध है ही नहीं। बस सारी सुख-सुविधा उपलब्ध है। जो युवा मन को चाहिये। अच्छा काम कौन-सा है? इसका भी विवेचन कर दिया गया। देवताओं को खुश करना ही अच्छा काम है। जिस विधि से देवगण खुश रहें वही पवित्र काम करें। देवता को खुश करने हेतु नये-नये यज्ञों का आविष्कार हुआ। अमुक यज्ञ से अमुक देवता प्रसन्न होंगे, वे आशीर्वाद देंगे। बस आपका कल्याण हो जायेगा। अब पृथ्वी बन गई देवगणों का अभ्यारण्य। शुरू हो गया अनाचार, अत्याचार। यज्ञादि के माध्यम से जन-साधारण का शोषण होने लगा। देवर्षि एवं देवगणों की चलती हो गयी। जो भी इस कार्य का विरोध करेगा वह पापी होगा। वह नर्क जाएगा। नर्क में उसे यातनाएं दी जायेंगी। यह यातना यमराज-धर्मराज देंगे। देवेन्द्र के इशारे पर स्वर्ग-नरक का वर्णन कर दिया गया। सीधे-सादे भारतीय भू-खण्ड के लोग अब भयभीत हो गये उस स्वर्ग-नरक से। अतः मान लिया स्वनिर्मित पुरोधा प्रमुख की बातों को। सब अपने-अपने जातिगत कर्म में लग गये। अन्यथा नरक हो जायेगा। अब तथाकथित पुरोधा वर्ग समाज पर हावी हो गये। इनकी अहम् भूमिका रही वर्तमान समाज को बद् से बदसूरत करने में। देव एवं देवर्षि का चारागाह बन गया यह अमृतमयी भू-खण्ड। इसी काल में आप पुराणों में पढ़ें होंगे कि फलां देवर्षि, शूद्र कन्या (पराशर सत्यवती) से यौन सम्बन्ध कर दिए तो देवेन्द्र भारतीय ऋषि कन्या (अहिल्यादि) से। इस पृथ्वी को सुर-सुरा एवं सुन्दरी का स्थल समझ लिया।

इसी तरह तो लगभग छह हज़ार जातियाँ बनी हैं, इसी अवधि में। कुछ जातियों का वर्णन निम्न प्रकार आया है



यानी शूद्र के द्वारा बनाया गया कुंआ आदि से कोई ब्राह्मणादि अज्ञान से जल पी ले तो वह 24 घंटा उपवास करके शुद्ध होता है। शूद्र या चण्डाल के बर्तन का जिस कुएं से स्पर्श होता है, उस कुएं का जल यदि कोई पी ले तो वह तीन दिन रात गोमूत्रपान और गोमूत्र के भीगे हुए जौ का भक्षण करके शुद्ध होता है

मनुस्मृति के अनुसार

मार्जारनकुलो हत्वा चायं मंडूकमेव च ।

खगोधोल्लूक काकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥

यानी बिल्ली, नेवला, नीलकण्ठ, मेढक, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौआ इनमें से किसी को मारकर शूद्र हत्या किये जाने वाला व्रत करें।

वर्तमान युग के तथाकथित प्रवर्तक जो सन्त तुलसीदास जी, संत कबीर से भी छोटे थे। पता नहीं कैसे उसी परम्परा को आगे बढ़ा दिए, जहाँ कबीर ऐसा महामानव इस पर प्रहार कर रहे थे सन्त तुलसीदास मानस में

पूजिय विप्र शील गुण हीना । शूद्र न गुणवान ज्ञान प्रवीना ।

शोचिय शूद्र विप्र अपमानी । मुखर मासाप्रिय ज्ञान गुमानी ॥

जाहु छांह छुई लेई असीचा । लोक, वेद, सबही विधि नीचा ।

ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी । ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

इतना ही नहीं आगे

अहीर, यवन, किरात, खस, स्वपचादि अति अध रूपजे ।

यह कुण्डा पुरातन स्मृतियों से ही चलकर तुलसीदास तक आ गयी। चूंकि ये भी संस्कृत के महान् पण्डित थे। स्वयं लिखते भी हैं कि नाना पुराण, स्मृति पढ़ने के बाद स्वांतः सुखाय इस रामायण को लिख रहा हूँ। इससे औरों के सुख की अपेक्षा नहीं है। भले ही इस वाणी से समाज में द्वेष फैल जाये, उन्हें तो अपना सुख चाहिये। यही प्रतीक है समाज के पुरोधे का, अगुआ का। खैर हम वस्तु स्थिति से विषयान्तर हो रहे हैं। अतएव पुनः लौटें उसी युग में।

हिरण्यकश्यप एवं प्रह्लाद

पुराणों से यह भी ज्ञात होता है कि हिरण्यकश्यप ने कश्यप तट से अलग लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) की खोज करना शुरू की। देवगण चूंकि अब तक सशक्त हो गये थे। चूंकि इसके ही छोटे भाई थे। वहाँ बंटवारे को लेकर भी युद्ध हुआ, जिसे प्रथम देवासुर संग्राम कहा जा सकता था। हालाँकि पिता की आज्ञा से अब तक देवगण की रक्षा एवं पोषण का कार्य इसी के द्वारा किया गया परन्तु वे

देवर्षि समाज के स्व-निर्मित अगुआ हो गये। समाज के राजा-सशक्त, लड़ाकू को मिला लिए। इन्हें भी स्वर्ग का सुख मिला। वाणी मौन होना स्वभाविक था। शास्त्रों का रूप बदल दिया गया। अब पुण्य कार्य (यज्ञादि) हेतु वैश्य को धन देना ही पड़ेगा। शूद्रों को सेवा। पुराण सूत्र बदला गया। पूर्व में कह चुके हैं कि इसी काल में मनुस्मृति एवं पराशर स्मृति का गठन हुआ। जिसमें विषवमन किया गया। यथा पराशर स्मृति आ 6/25

चाण्डालखातवणीषु पीत्वा सलिलमग्रजः ।

अज्ञानाच्चैकनक्तेन त्वहोरात्रेण शुद्धयति ॥

चाण्डालभण्ड संस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम् ।

गोमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्रात् शुद्धिमाप्नुयात् ॥

सदा धूर्तता से इसे एवं इसके परिवार को मारने पर उतारू रहते थे। इन परिस्थितियों में त्याग एवं मेहनत के बल पर हिरण्यकश्यप एवं हिरण्याक्ष ने प्रथम बार समुद्र का उल्लंघन किया। जहाँ इनकी मेहनत काम आयी। सोने की खा दान मिली। वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। सभी अमन-चैन से रहने लगे। जिसका पता देवगण को लग गया। चूँकि वे संख्या में ज्यादा थे। इनका काम ही था पता लगाना कहीं किसने धन इकट्ठा किया। उसे छीन लो। हड़प लो। ये भी अपना रूप बदलकर समुद्र का उल्लंघन कर वहाँ पहुँच गये। हिरण्याक्ष ने रोकना चाहा परन्तु हिरण्यकश्यप ने मना कर दिया ये भी हमारे भाई हैं। कमजोर हैं। जनसंख्या में ज्यादा हैं। इन्हें भी इस राज्य के मध्य भाग में रहने दो। ये भी मेहनत करेंगे एवं आराम से रहेंगे। ये देवगण भी खुशी-खुशी मान गये परन्तु हिरण्यकश्यप ने कह दिया कि यहाँ सोमयज्ञ नहीं होगा। अप्सराओं का आना जाना नहीं होगा। आप सभी परमपिता परमात्मा का ध्यान करें, यथाशक्ति परिश्रम करें। यह बात देवगणों के गले से नहीं उतर रही थी उनका तो ध्यान था यहाँ के सम्पत्ति पर। किसी भी तरह इसे हस्तगत कर लिया जाए। इन्द्र के नेतृत्व में रात्रि में सोई हुई हालत में देवगणों ने हिरण्याक्ष पर हमला बोल दिया एवं उसे मारने में सफलता भी पा गये। इसे देवासुर संग्राम द्वितीय भी कहा जा सकता है। हिरण्यकश्यप अकेले पड़ गया। देवगण बहुत थे ही। वह उदार भी था। सोचता था कि अपने ही भाइयों से बार-बार युद्ध करना ठीक नहीं लगता अतएव उनसे सन्धि कर वहाँ का पूरा राज्य देवगण को सौंपकर चल दिया अज्ञात स्थान के लिए। अपने परिवार के सदस्यों को लेकर बहुत दिन यत्र-तत्र घूमता रहा, अपने लिए उपयुक्त जगह की तलाश में।

इसी कालावधि में पूर्व-मध्य भाग में रक्ष संस्कृति के रक्षक किसी तरह अपने को बचाते हुए आ बसे। अपनी तंत्र साधना में मस्त, मेहनत-ईमानदारी चरित्र से अपना राज्य-काज चलाने लगे। देव संस्कृति के द्वारा निर्मित यज्ञ यहाँ नहीं होता था। देवताओं के आने-जाने पर भी रोक थी। देवेन्द्र एवं शुक्राचार्य का पूरा ध्यान केन्द्रित था वहाँ। शिव (परमपिता परमात्मा) का परम भक्त। तंत्र विज्ञ विशारद हिरण्याक्ष को देवेन्द्र ने किसी तरह छल से हरि की मदद से मार गिराया। अब सोचा कि हिरण्यकश्यप भय से हमारी बात मान जायेगा। परन्तु दृढ़ निश्चयी हरिण्यकश्यप इसके लिए तैयार नहीं था। उससे युद्ध करने की भी हिम्मत किसी में नहीं थी। चूँकि वह अद्भुत योद्धा था। अपनी संस्कृति में ही शिवोक्त विधि का पालन करता था। तब देवेन्द्र ने उसके लड़के प्रह्लाद को किसी तरह मिलाने का प्रयास किया। जिसमें उनको सफलता भी नारद के माध्यम

से मिली। कम वय का प्रह्लाद स्वर्ग सुख के चक्कर में पड़ गया। एवं अपने पिता का सारा रहस्य देवेन्द्र को बताने लगा। यह राज हिरण्यकश्यप को पता चल गया। उसने प्रह्लाद पर कुछ सख्ती की। समझाया-बुझाया कि बेटा राज्य के अन्दर की बात को किसी बाहरी से नहीं कहना चाहिये। ये देवता तुम्हारी सभ्यता संस्कृति को उसी तरह नष्ट कर देंगे जैसे मानव की संस्कृति को कर रहे हैं। प्रह्लाद सबसे छोटा पुत्र था। इस बात पर आप ध्यान दें कि रक्ष संस्कृति के किसी भी राजा या व्यक्ति की एक ही पत्नी होती थी। सन्तान भी कम होती थी। उनका अवैध सम्बन्ध कहीं भी नहीं होता था। उनके यहाँ शराब, मांस, जुआ, आदि का प्रचलन नहीं था। यह सब देव संस्कृति की ही देन है। प्रह्लाद के पठन-पाठन की सुविधा भी राज्याज्ञा से अलग कर दी गई। परन्तु इनकी गुप्तचर शाखा मजबूत नहीं थी। जहाँ देवगण की नारदीय व्यवस्था (गुप्तचर) अत्यन्त संवेदनशील थी। उसकी पहुँच सर्वत्र थी। इसीलिए कहा गया है कि कौन सभा जहाँ नारद नहीं? इस व्यवस्था के प्रतिनिधि को भी नारद ही कहा जाता था। वे बहुत ही निपुण एवं कुशल होते थे। हिरण्यकश्यप के राज्य में प्रह्लाद की मदद से नारदीय व्यवस्था प्रवेश कर गयी थी। समय पाते ही राज्य का उत्तराधिकार देने एवं स्वर्ग का सुख उपलब्ध कराने का आश्वासन देकर राज्य विद्रोह करने की बात कही जाती। यहाँ भी सृष्टि का नियम है कि प्रत्येक कुशल दक्ष व्यक्ति अपने ही खून से मार खाता है। चूँकि अपने को बचाने की इच्छा ही बलवती रहती है। वही इच्छा प्राणघातक होती है। प्रह्लाद के द्वारा देवगणों को यह बात ज्ञात हो गयी कि राज्य की समस्त जनता सूर्यास्त (गोधूल) समय प्राणायाम एवं ईश्वर प्रणिधान में रहती है। उस समय कोई भी व्यक्ति अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाता। हिरण्यकश्यप अमुक जगह बैठकर ईश्वर ध्यान में रहता है। उस समय में कुछ भी नहीं करता। समस्त राजकाज भूलकर ध्यान में रहता है। यही समय उपयुक्त समझा देवगण ने। अतएव दलबल के साथ एकाएक धावा बोल दिया। रूप बदलकर देवेन्द्र ने बाघनखा से सीधा प्रहार कर दिया। हिरण्यकश्यप तो ध्यान में था। वह शरीर का भान भूल-सा गया था। बगल में प्रह्लाद खड़ा था। जो सभी को आमन्त्रित किया था। देखते-ही-देखते हिरण्यकश्यप का पेट चीरकर मार डाला। देवेन्द्र ने सोचा कि प्रजा एवं सेना कहीं विद्रोह नहीं कर दे। अतएव तुरन्त प्रह्लाद का राज्यारोहण कर दिया गया।

प्रह्लाद स्वयंभू राजा बन बैठा। अपने ही पिता के रक्त रंजित हत्यारे की मदद से। अब देवगण का काम आसान हो गया। शुक्राचार्य पहुँच गये। प्रह्लाद ने विधिवत् शुक्राचार्य को पुरोहित नियुक्त कर दिया। राज्य प्राप्ति की खुशी में

देवगण को खुश करने हेतु शुक्राचार्य को यज्ञ करने का आदेश दिया। अब देवेन्द्र समेत देवर्षिगण का अबाध आने-जाने का रास्ता खुल गया। देव संस्कृति तेज गति से प्रह्लाद के नेतृत्व में चल उठी। अब देव संस्कृति का अलग राज्य हो गया। देव संस्कृति वे रोक-टोक रक्ष संस्कृति, मानव संस्कृति के ऊपर श्रेष्ठ नज़र आने लगी। जो उनकी पूजा करता वही महात्मा कहलाता। वही स्वर्ग सुख का अधिकारी होता। ऐसा किया भी जाता। स्वर्ग लोक घुमाया जाता। कुछ दिन वहीं रहने एवं सुख भोगने की छूट भी दी जाती। पुनः उन्हें लौटा दिया जाता। जो उनका अब विरोध करता उनको भी पकड़कर नाना प्रकार का कष्ट देते। यह कष्ट खौलते हुए पानी में फेंकने से लेकर पत्थर से मार-मार कर अधमरा तक कर देना था। दुःखों का नाना प्रकार से आविष्कार कर लिया गया। कुछ लोग दुःख देखकर भयभीत हो गये। जो ये कहते स्वतः करने को तैयार रहते। कुछ सुख देखकर उसी लालच में पड़े रहते कि किस विधि से इन्हें खुश करना है जिससे ये हमें स्वर्ग सुख प्राप्त करा सकें। अब चल दी अबाध गति से दुकान स्वर्ग-नरक की। यह अत्यन्त ही दारुण दुर्घटना थी। उस समय के मानव एवं रक्ष संस्कृति के लोगों के लिए। सभी लोग इस तरह के छल छद्म से मारने के चलते दुःखी थे। यह भी कोई बात हुई कि ऐसा चरित्रवान राजा (हिरण्यकश्यप) जब ईश्वर प्रणिधान में हो उसी समय मारा जाये। यह काम तो अधमाधम व्यक्ति भी नहीं करता। कम से कम पूजा के समय तो नहीं ही करता। यह घटना अत्यन्त शर्मनाक एवं दुःखद थी। परन्तु कहीं किस से? कौन अब सुनने वाला है? सर्वत्र अनाचार का राज्य है। सर्वत्र देवता अब बलशाली नज़र आ रहे हैं। वर्तमान युग की जनता तो विरोध प्रकट कर ही सकती है। अतएव गोधूल समय किसी तरह का शुभ कार्य छोड़ दिया गया। जैसे उस समय खाना-पीना, हंसी-खुशी मनाना। सामाजिक सांस्कृतिक कार्य करना। जो अभी तक मानव संस्कृति में भी चला आ रहा है। देवगणों का अभी तक विरोध प्रकट करता आ रहा है।

विरोचन का राज्यारोहण

प्रह्लाद ने देवेन्द्र की इच्छानुसार राज्य किया। इनकी अपनी नीति कुछ भी नहीं थी। यज्ञ से नीति तक सब शुक्राचार्य निर्धारित करने लगे। रक्ष संस्कृति के लोग दमन के शिकार बने। प्रह्लाद की प्रशंसा की गयी। पुराणों में इनकी प्रशंसा में स्तुति की गयी।

ये सम्मान पूर्वक से स्वर्ग के अधिकारी बने। प्रह्लाद का राज्य भी अब देवेन्द्र का गढ़ बन गया। देवेन्द्र एवं देवर्षि लोग बिना रोक-टोक घूमने लगे। जब प्रह्लाद

की उम्र ढलने लगी। इन्द्रिय सुख से जी ऊबने लगा। सत्यासत्य का भान होने लगा। झूठी प्रशंसा का भान होने लगा। तब देवेन्द्र एवं शुक्राचार्य ने सोचा कि प्रह्लाद विरोध न करे, इससे अच्छा होगा कि उसे स्वर्ग भेज दिया जाये। तत्काल उसके पुत्र विरोचन का राज्यारोहण कर दिया गया, प्रह्लाद को समझा-बुझाकर। उधर विरोचन को राज्यारोहण सुख दिखाकर मिला लिया देवेन्द्र ने। प्रह्लाद को अमृतपान कराकर पुनः युवा बनाने का एवं स्वर्ग का सुख भोगने का आश्वासन दिया गया। जिससे योजनानुसार प्रह्लाद तैयार हो गये। विरोचन का राज्यारोहण शुक्राचार्य एवं देवेन्द्र की मदद से किया गया। जिससे विरोचन भी एहसान तले दबा रहे। विरोचन ने भी अपने पिता की तरह ही शुक्राचार्य से यज्ञ कराया। देवेन्द्र समेत सभी देवगणों को खुश किया। राज्य का अमूल्य कोष लुटाया। देवता लोगों ने कीमती सामान यज्ञ रूपी माध्यम से ग्रहण किया। यह समय भी अच्छा ही कहा जायेगा।

राजा बलि का राज्य

विरोचन की स्थिति देखकर साधारण जनता विद्रोह की स्थिति में आ गयी। उसे देवेन्द्र के जाल में फँसे देख जनता में घोर निराशा हो गयी। रक्ष संस्कृति के विद्यालय बन्द हो गये। ये हिंसा करना ही पाप समझते थे। अहिंसा को पुजारी थे। जीओ एवं जीने दो का सिद्धान्त मानते थे। वही प्रक्रिया उल्टी हो गयी। यज्ञ की आड़ में हिंसा करना ही पुण्य समझा जाने लगा। सोमरस का पान ही प्रगति का प्रतीक कहा जाने लगा। सामाजिक-पारिवारिक सम्बन्ध टूटते नज़र आये। उनका अपना भविष्य अन्धकारमय नज़र आया। इस स्थिति को विरोचन पुत्र बलि समझ गये थे। किसी भी चीज़ की अति होती है। इन परिस्थितियों में बलि चिन्तन-मनन करने लगे। अपने श्रेष्ठजनों से परामर्श करने लगे। मन-ही-मन देवेन्द्र के खिलाफ एवं पुनः रक्ष संस्कृति को स्थापित करने हेतु संकल्प ले लिया। विरोचन को भी अपनी भूल का एहसास हुआ। अतएव विरोचन ने बलि को अपने नाम से अपने इच्छानुसार एक नगर बसाने का आदेश दे दिया। विरोचन ने सोचा कि अलग नगर बनाकर अपनी राजधानी वहीं हस्तान्तरित कर लेगा। बलि को राज्य का भार सौंप मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा। यह अपनी इच्छानुसार सभ्यता संस्कृति का विकास करे। चूँकि दो पुत्र की बरबादी सभी जनता के सामने थी। यह सब सोच-समझकर उसने अलग भूमि की खोज की।

राजा बलि की नीति

बलि ने वहाँ से कुछ ही दूरी पर एक भू-खण्ड खोज दिया। नगर निर्माण का कार्य पूरा किया। उसी नगर में उनको राजगद्दी भी दी गयी। राजगद्दी के समय जब शिव तंत्र ●

राजा बलि का यज्ञ एवं शुक्राचार्य की भूमिका

राजा बलि ने प्रजा के परामर्श से शुद्ध सात्विक यज्ञ, जैसा महर्षि विश्वामित्र करते थे, करने का निश्चय लिया। इस यज्ञ को करने वाले स्वयं बलि ही थे एवं विधि विशेषज्ञ रक्ष संस्कृति तथा मानव संस्कृति के ऋषिगण थे। इसमें किसी तरह की हिंसा नहीं थी। मदिरा का प्रावधान नहीं था। देवगण आमन्त्रित नहीं थे। देव संस्कृति के विषय में बहुत चौकन्ना थे राजा बलि। परन्तु सत्य है कि नीति में ज्यादा उदार होना भी खतरनाक है जैसे अयोध्या के राजा उदारतावश वशिष्ठ को नहीं हटा पाये वैसे ही बलि शुक्राचार्य को। जिसका परिणाम बार-बार इन लोगों को भोगना पड़ा। शुक्राचार्य को राजा बलि के द्वारा इस यज्ञ में कोई खास भूमिका नहीं दी गयी। इससे शुक्राचार्य बहुत खिन्न थे। सारे तथ्यों को देवेन्द्र के सामने रखा। देवेन्द्र भी चिन्तित हो उठे कि ऐसा न हो कि वह इस यज्ञ से शक्ति अर्जित कर देव-लोक पर ही आक्रमण कर दे। देवेन्द्र ने देवर्षियों एवं स्वर्ग के पार्षदों को बुलाकर मन्त्रणा की। वे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि हम लोग किसी भी स्थिति में इस यज्ञ को नष्ट नहीं कर सकते हैं। चूँकि शुक्राचार्य यह बोल दिए थे कि उस यज्ञ मण्डप पर, उस राजधानी या उस नगर में देवताओं का प्रवेश करना वर्जित है। इसलिए देवेन्द्र हरि के यहाँ पहुँच गये। हरि से प्रार्थना की गयी कि राजा बलि बहुत ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं। वे धर्म को भली-भाँति समझते हैं। तंत्र वेत्ता भी हैं। उसके बहुत प्रतिनिधि पाताल (अमेरिका) में भी अपना कार्यक्षेत्र फैलाने के लिए चले गये हैं। यदि उसका यह यज्ञ पूर्ण हो जाता है, तो यह सम्भव है कि स्वर्ग पर भी आक्रमण कर दे। हरि कुछ काल तक सोचते रहे फिर शुक्राचार्य को निर्देशित करते हैं कि आप राजा बलि के यज्ञ मण्डप में पहुँच जाएं। मैं अपना रूप बदलकर मानव संस्कृति के ऋषि-राज के भेष में पहुँच जाऊँगा। जैसा आप कहते हैं कि वह दानशील व्यक्ति हैं तथा यज्ञ में किसी के द्वारा कुछ भी मांगा हुआ वह पूर्ति करता है तो मैं उससे यह भू-मण्डल जिसका वह राजा है, ही मांग लूँगा। एवं आप तुरन्त संकल्प करा दीजियेगा। इसी मन्त्रणा के अनुसार शुक्राचार्य अपने गन्तव्य स्थल के लिए प्रस्थान कर जाते हैं एवं हरि भारतीय सन्यासी के रूप में सिद्धाश्रम पहुँचते हैं। जहाँ से यज्ञ के निमित्त प्रतिदिन याज्ञिक लोग जाया करते थे। हरि भी उन्हीं लोगों के साथ हो लिए। जब राजा बलि दान के लिए साधुओं ऋषियों को आमन्त्रित करते हैं तो उस दिन दान लेने वालों में मात्र छद्म वेषधारी हरि ही थे। यह शुक्राचार्य की व्यवस्था थी। जबकि सिद्धाश्रम में एक पुरोधा ने राजा बलि से बता दिया था कि आज दान में आपके साथ छल किया जायेगा। हम लोगों के साथ आने वाला व्यक्ति वह हमारे आश्रम का ऋषि नहीं, छद्म वेषधारी

शुक्राचार्य को मालूम हुआ कि हमें बिना बुलाये यह कार्य हो रहा है जो ठीक नहीं है। वे खुद वहाँ पहुँचे। बिना मांगे आशीर्वाद देने लगे। शुक्राचार्य का यह अभिन्न अंग बन गया था। राजा को किसी तरह खुश रखो। बिना मांगे ही सही आशीर्वाद दो। कपटपूर्ण मंगल की कामना करो। बलि को यह सब ज्ञात हो गया था। बलि ने राजगद्दी पर बैठते ही कह दिया मेरे राज्य में सभी सदाचारी होंगे। एक पत्नी-धर्म के साथ तंत्र में निष्णात होंगे, ब्रह्मचारी होंगे। किसी भी तरह की हत्या नहीं होगी। मांस-मदिरा आज से बन्द होगी। शुक्राचार्य को यदि यहाँ रहना होगा तो हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को मानकर पठन-पाठन करना होगा। यज्ञादि बिना हिंसा के हमारे तंत्र विधि से यानी सदा शिव द्वारा दी गयी विधि से होगा। किसी भी तरह की देव संस्कृति अपने यहाँ नहीं चलने देंगे। हालाँकि देवेन्द्र से मेरा सम्बन्ध मित्रवत् वैसे ही होगा, जैसे दो राष्ट्राध्यक्षों का होता है। यज्ञादि उनकी इच्छानुसार नहीं होगा। जब अपने देश में वे अपनी ही संस्कृति रखे हैं तो हमारे यहाँ हस्तक्षेप करने का क्या कारण हो सकता है? हम किसी भी तरह से उनके ऋणी नहीं हैं। अतएव शुक्राचार्य अब नीति का निर्धारण आपके परामर्श से नहीं बल्कि रक्ष संस्कृति के जन-प्रतिनिधि के अनुसार होगा। जन-प्रतिनिधि ही वास्तविक जनता का राजा होगा। हम उन नीतियों का पालन करने में मदद करेंगे। जनता की सुख-सुविधा में जो भी खलल उत्पन्न करेगा, वह दण्ड का भागी होगा। हम किसी से भी किसी तरह भयभीत नहीं हैं। हमें भयभीत करने से बाहर की संस्कृति बाज आये।

बलि के प्रथम दिन राष्ट्र को सम्बोधन ने शुक्राचार्य को हिला दिया परन्तु प्रतिष्ठा गवां कर भी कूटनीतिक दृष्टिकोण से रहना उचित ही समझे। बलि की वह राजधानी बलिपुर के नाम से विख्यात हुई। जो वर्तमान का बलिया है। यह उसी की यादगार में है। राजा बलि नीतिपूर्वक प्रजा की इच्छानुसार राज करने लगे। उन्होंने मानव संस्कृति के ऋषिगण को आमन्त्रित किया। उन लोगों से सलाह-मशविरा कर राज्य प्रगति के पथ पर अग्रसर हो चला। इनके नज़दीक ही विश्वामित्र भी रहते थे। जहाँ ये परामर्श लेना उचित समझते, मिल आते थे। राजा बलि की जय-जयकार होने लगी। प्रह्लाद के द्वारा खोई हुई प्रतिष्ठा राजा बलि वापस ले आये। कोई भी दुखी नहीं था। समता का राज्य था। सभी बराबर थे। सभी शारीरिक योग्यता के अनुसार कार्य करते एवं आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक मिलता। सभी शिव के तंत्र के साधक थे। प्रजा की इच्छानुसार बलि एक यज्ञ का अनुष्ठान कराने की सोचने लगे।

कोई अन्य मालूम होता है। यहाँ की व्यवस्था देखने पर मालूम होता है कि वह शुक्राचार्य का आदमी है। राजा बलि सोचते हैं कि चाहे जो कोई हो दान ही तो लेगा। दान देकर उसे सन्तुष्ट कर दिया जायेगा। हरि राजा बलि से दान की याचना करते हैं। राजा बलि हरि की रूप रेखा देखकर सहज ही यह अन्दाज लगा लेते हैं कि यह रूप-रंग देव प्रतिनिधि का नहीं हो सकता है क्योंकि वे लम्बे और नुकीले नाक वाले सुन्दर होते हैं पर यह तो नाटा कद का सांवले रंग का भारतीय संन्यासी ही होगा। अतएव इस पर अविश्वास करना उचित नहीं है। राजा बलि कहते हैं संन्यासी मांग लो! तुझे क्या मांगना है? छद्म वेशधारी हरि नर्म रूप में कहता है। महाराज की जय हो मुझे इस पृथ्वी पर रहने की कोई जगह नहीं है एक छोटा-सा आश्रम बनाने हेतु कुछ भूमि दान दे दें। राजा ने तथास्तु कह दिया। फिर राजा बोले तुझे कितनी ज़मीन चाहिये। हरि प्रत्युत्तर दिए, महाराज। आप तो ज़मीन दान दे ही दिए। अब उसका संकल्प अपने पुरोहित शुक्राचार्य द्वारा करायें। शुक्राचार्य संकल्प हेतु कुशा एवं जल लेकर कहे कि राजन् लो संकल्प करो। दान से व्यक्ति की कीर्ति बढ़ती है। राजा बलि को सोचने का समय नहीं दिया तथा उस याचक के आश्रम हेतु उनकी राजधानी ही शुक्राचार्य ने संकल्प करा दी। जब राजधानी संकल्प करा दी गई तो वहाँ के याज्ञिक राजा बलि से बोले, महाराज! यह तुमने क्या कर दिया? शुक्राचार्य ने तो छल से तुम्हारी राजधानी का संकल्प करा दिया। तब हरि प्रसन्न मुद्रा में राजा को आशीर्वाद देते हैं। कहते हैं कि हे राजन् तेरा मंगल हो, तुम्हारे द्वारा दिए गये दान से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। उम्मीद है तुम यह जगह शीघ्र ही खाली कर दोगे। जिससे मैं यहाँ कुटिया बना सकूँ। राजा को अपने छले जाने का एहसास हुआ तथा समझ गये कि यह व्यक्ति शुक्राचार्य के आमन्त्रण पर आया हुआ कोई और नहीं, देवेन्द्र या हरि हो सकता है। राजा बलि ने कहा देवर्षि तुम महर्षि का रूप क्यों पकड़े हो। क्या दान भी लिया जाता है छल से? तुम लोग अपना राज तंत्र बढ़ाने के लिए किसी भी साधन का उपयोग कर सकते हो। यह उचित नहीं प्रतीत होता है। हरि चतुर एवं वाक्पटु तो थे ही तुरन्त बोल उठे क्यों राजन् संकल्प के द्वारा दिया वचन भी वापस लेना चाहते हो। क्यों शुक्राचार्य यही आप कहते थे कि आपका यह यजमान वचन का धनी एवं अद्वितीय दानी है। क्या दिए हुए दान पर भी तर्क-वितर्क होता है? राजा बलि स्वाभिमानि थे, सत्यव्रती थे। अतएव अपने द्वारा बसाये हुए नगर बलिया का परित्याग कर पाताल-लोक को प्रस्थान कर जाते हैं। वह पाताल यानी अमेरिका महादेश का भू-भाग।

बलि के यज्ञ का आध्यात्मिक महत्व

राजा बलि के गुरु हैं शुक्राचार्य। शुक्र का अर्थ होता है वीर्य ग्रहण करने की कला। जो इस कला को जानता है वही अमरत्व को प्राप्त करता है। इस कला को शुक्राचार्य ने संजीवनी तंत्र (विद्या) कहा। परन्तु यह तंत्र पूर्णत्व, ब्रह्मत्व, बुद्धत्व को नहीं उपलब्ध करा सकता है। चूँकि अमरत्व से बुद्धत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है।

राजा बलि अपने गुरु के निर्देशन में यज्ञ कर रहा है। जगत के विस्तार के लिए। अर्थात् मूलाधार चक्र ही संसार विस्तार का प्रतीक है। खैर साधक किसी भी तरह का शुभ कार्य करता है तब उसे सद्गुरु मिल ही जाते हैं। उसमें पात्रता आ ही जाती है।

भगवान वामन का अवतार सिद्धाश्रम (बक्सर) में ही मानव संस्कृति में होता है। अवतार एवं सद्गुरु विश्व कल्याण की कामना से ही आते हैं। वे राजा बलि से दान माँगने के लिए उसके यज्ञ में पहुँचते हैं। उसके पहले ही राज पुरोहित, कुल गुरु राजा को सावधान करता है। एक भिक्षुक आयेगा। तुम उसे दान मत देना। पुरोहित सदैव अपने हित का चिंतन करता है। वह पुश्त-दर पुश्त यजमान को नहीं छोड़ता है। यजमान ही उसकी खेती है। सम्पत्ति की तरह वह बंटवारा करता है। यजमान पर निर्भर करता है कि वह कैसे इनसे मुक्त हो सकता है। राजा बलि के सामने भिक्षुक आता है। **“भिक्षाम देहि!”** की आवाज देता है। बलि उन्हें अपने घर पर ले जाते हैं। पाद प्रक्षालन के पश्चात् पति-पत्नी आरती कर भोग लगाते हैं। फिर निवेदन करते हैं कि प्रभु मांगो, क्या मांगते हो? उसकी पुत्री उस वामन भगवान को देख कर कामना करती है कि तुम्हें मेरा पुत्र होना चाहिए।

भगवान कहते हैं कि राजन! मैं तुम्हारे यहाँ आ रहा था तब रास्ते में एक दुकान के सामने संध्या वंदना करने लगा। इतने में दुकानदार आ गया। अपनी दुकान खोलने हेतु उसने मुझे वहाँ से हटा दिया। अतएव मुझे एक झोपड़ी हेतु जगह चाहिए।

राजा ने कहा आप मेरे राज्य में कहीं भी झोपड़ी लगा सकते हैं। इसके लिए क्या मांगना था। नहीं राजन ऐसा नहीं कर सकता। मैं नैमिषिक ब्रह्मचारी संन्यासी हूँ। मैं लोभ-लालच नहीं करता हूँ। तुम मुझे साढ़े तीन कदम पृथ्वीदान कर दो। राजा ने अपने गुरु को बुलाया। वह आते ही पहचान गये। उन्होंने कहा राजन। इसे जमीन मत दो। यह छल करेगा। तुम्हारा अस्तित्व समाप्त कर देगा। परन्तु राजा बलि में भक्त प्रह्लाद का खून था। वह आज दे ही देना चाहते थे। गुरु संकल्प कराने से इनकार कर देते हैं। भगवान ने कहा तुम अक्षत जल दो, मैं

संकल्प का मंत्र बोल देता हूँ। जब शुक्राचार्य ने देखा कि शिष्य हाथ से निकलने वाला है तब वह यज्ञ के जल पात्र के छिद्र में प्रवेश कर जाते हैं। जिससे जल ही नहीं, निकलेगा। न ही संकल्प पूरा होगा। वामन भगवान कुशा से छिद्र साफ कर देते हैं। जिससे गुरु जी की एक आँख फूट जाती है। संकल्प पूरा होता है। अब वे पर्वताकार आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक पद में सम्पूर्ण पृथ्वी, दूसरे में आकाश, तीसरे के लिए माँग करते हैं, इसके लिए बलि अपने शरीर को प्रस्तुत करते हैं। यह देख उनकी लड़की को क्रोध आता है। वह वामन को मारने का संकल्प लेती है। परन्तु बलि पूर्ण समर्पित भाव से अपने को प्रस्तुत करता है।

जब शिष्य अपना तन-मन-धन सद्गुरु को निर्विचार भाव से समर्पित कर देता है। तब सद्गुरु शिष्य का रजो गुण, तमो गुण, सतो गुण हरण कर लेता है। उसमें स्वयं प्रवेश कर जाता है। उसके मस्तक पर एक पैर रखता है, एक पैर उसके पैर पर। अर्थात् मूलाधार से उसके कुण्डलिनी को क्षण भर में सहस्रार तक पहुँचा देता है। जिससे ज्ञान-भक्ति रूपी गंगा प्रवाहित होने लगती है। बलि अब कर्म-काण्ड से मुक्त हो गये। वे उपलब्ध हो गये विष्णु स्वरूप को। यही है, विष्णु तंत्र।

सद्गुरु के सामने जो भी संकल्प भूल कर भी लेंगे वह उसे पूरा कर देता है। उसकी लड़की ही कृष्णावतार में पूतना बनी। जो पुत्रभाव रखी थी। अतएव स्तनपान कराने पहुँची। फिर उसकी हत्या का संकल्प लिया, अतएव राक्षसी रूप में हत्या का प्रयास भी किया। परन्तु उस परम पुरुष से ही किया अतएव उसे भी अपने स्वरूप को प्रदान किया।

राजा बलि ने पूर्णत्व को प्राप्त कर लिया परन्तु उनकी पूर्व कामना थी राज्य की अतएव इस को भोग लेना ही उचित समझा। अतएव नारायण ने पातालपुरी का राज्य सौंप दिया। पाताल अर्थात् मूलाधार ही पाताल का प्रतीक है। सांसारिक राज्य यही होगा परन्तु अब वे निवास करेंगे सहस्रार पर। कैलाश पर। वहीं गंगा शिव की जटा में प्रवाहित होती है। ज्ञान ही गंगा है। जो आपके शिव अर्थात् सहस्रार पर प्रवाहित होता है। नारायण ने मानव रूप में ही सद्गुरु बन कर राजा बलि को वैष्णव तंत्र में दीक्षित कर, उनका उद्धार किया।

वैष्णव धर्म

देवेन्द्र अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथा तत्क्षण देवर्षि एवं अन्यान्य पार्षदों, देवताओं, अप्सराओं के साथ वहाँ पहुँच जाते हैं तथा हरि के सम्मान में सोमयज्ञ प्रारम्भ कर देते हैं। यह यज्ञ बृहस्पति के द्वारा पूर्ण किया जाता है। इस तरह इस भू-भाग पर भी देवताओं के द्वारा पुनः अतिक्रमण कर लिया गया। हरि को इधर

आना एवं कुछ काल निवास करना अत्यन्त सुन्दर लगा। अतएव ये यहीं तप करने लगे।

हरि का तप क्षेत्र था बलिया का भू-भाग। यहीं से रस-प्रधान तंत्र की व्यवस्था की। जिसका प्रचार-प्रसार इसी भू-भाग से किया, जिसे वैष्णव तंत्र कहा गया। इसमें भाव को प्रधानता दी गयी। इसमें क्रिया को गौण रखा गया। भावना को प्रभुसत्ता दी गयी। चाहे जहाँ हो जिस अवस्था में हो। भावना को परम-पुरुष के साथ लगा देना है। सोचना है मैं उसी के साथ हूँ। जो कुछ हो रहा है उसी के इच्छानुसार होता है। मैं तो उसके ही निमित्त हूँ। स्नान, ध्यान, पूजा पाठ उसी के साथ, इस भावना के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। यही था वैष्णव धर्म। बाद में इसका भी रूप विकृत होता गया। देव संस्कृति की ज्यादा सामीप्यता के चलते इसमें भी बाह्य पार्थिव पूजा की महत्ता आ गयी। कर्मकाण्ड पकड़ लिया। चूँकि देवर्षिगण का आगमन इस धर्म में ज्यादा हुआ। अतएव कालान्तर में विष्णु की भी काल्पनिक मूर्ति बनने लगी। उसके पीछे देवेन्द्र इत्यादि देवता पुनः आ गये। अब पार्थिव पूजन का आविष्कार हो गया। इसकी व्याख्या शास्त्रों में कर दी गयी। इसमें भी पुण्य-अपुण्य की चर्चा की गयी। इस तरह इसका प्रचार अगस्त्य ने भी दक्षिण में करना शुरू कर दिया। दक्षिण में यही भावना प्रधान के आधार पर कालान्तर में भक्ति का उदय हुआ। इसी से भक्ति का जन्म-स्थान दक्षिण ही माना जाता है।

हरि अब पूर्णरूपेण विष्णु बन गये। विष्णु नाम से उनकी चर्चाएँ होने लगीं। पुराणों में विष्णु का वर्णन होने लगा। आप सहज ही अन्दाजा लगा सकते हैं कि ऋग्वेद कब का है, पुराण कब का है। यह अन्दाजा साहित्य के शब्दों एवं रचना से लग जाता है कि किस काल में कौन-सी रचना, शैली, शब्दों का प्रचलन था। वास्तविक वैष्णव वह है जो प्रत्येक कण में अपने प्रभु का दर्शन करता है। यह विराट उस विष्णु का ही विस्तार है। इस तंत्र को जानना ही वैष्णव तंत्र है। फिर वह साधक स्वयं विष्णुमय हो जाता है। शरीर से जो कुछ किया जाय वह योगासन है। मन से जो कुछ किया जाये वह ध्यान है। जब साधक आत्मा में स्थित हो जाता है तब भक्ति तंत्र का आविर्भाव होता है। आत्मा के परमात्मा में मिलने की कला ही वैष्णव तंत्र है। कर्मकाण्ड ही देव तंत्र है।

भृगुऋषि का पदार्पण

विष्णु पुनः अपने नागीय भवन में चले गये। देवेन्द्र वगैरह को यह भ्रम हो गया कि विष्णु अब बिल्कुल शान्त हो गये। देवगणों या मानव ऋषि से कोई खास रुचि नहीं रखते। क्या उनका क्रोध ही समाप्त हो गया? क्या अब वे अपने को इस मध्य धारा से अलग रखना चाहते हैं? इत्यादि प्रश्न उनके मन में उठते थे।

शिव तंत्र ● 151

150 ● शिव तंत्र

उन सब लोगों ने उनकी भावना जानने हेतु भृगुऋषि को उनके निवास स्थान पर भेज दिया। भृगु ने उनसे नाना प्रकार के प्रश्न किये। वे शान्तचित्त उनके प्रश्नों का उत्तर देते रहे। हर समय भावना को परम-पुरुष में ही रखने को कहते। इससे क्रोध नहीं आता। इन्द्रिय वृत्ति धीरे-धीरे शान्त होगी। इस भावना से दमन नहीं होता। परिवर्तन होता है। भृगुऋषि को इस पर विश्वास नहीं हो रहा था। वे हर समय कर्मकाण्ड, यज्ञादि पर ही जोर दे रहे थे। इन परिस्थितियों में भृगु को क्रोध आ गया। जब आदमी को अहंकार, क्रोध आता है तो किसी का ख्याल नहीं होता। उसका विवेक हर जाता है। क्रोध से पराजित व्यक्ति हांफने लगता है। श्वास तेज चलने लगती है। जब कहीं आग लगती है, तो हवा जोरों से चलने लगती है। चूँकि वहाँ ऑक्सीजन की जरूरत पड़ने लगती है। इसी तरह अन्दर भी व्यक्ति जब 'स्व' का दहन करता है। श्वास तेज़ चलता है। इसी से विवेक खो देता है वह। भृगु ऋषि भी क्रोधावेश रोक नहीं सके। क्रोध का अन्तिम फल होता है थूक देना या मार देना। भृगु ने भी क्रोधावेश में विष्णु की छाती में जोरदार लात जड़ दी। विष्णु शरीर मन से सशक्त थे। वे भृगु का पैर पकड़ कर कहने लगे हे मुनिवर आपको कहीं चोट तो नहीं आयी। आप तप करने वाले जो ठहरे, मैं तो लड़ाकू कौम से आता हूँ। युद्ध करता हूँ। मारना-मरना तो मेरा कर्तव्य है। आप कैसे कर दिए? कहीं आपको चोट तो नहीं आ गयी। भृगु का क्रोध उसी तरह शान्त हो गया जैसे जलती हुई अग्नि पर शीतल जल गिरे। भृगु लज्जित हो गये। क्षमा याचना करने लगे। जब व्यक्ति साधारण अवस्था में रहता है तो श्वास की गति भी सामान्य हो जाती है।

विष्णु ने कहा कि हे मुनिवर। आपका दोष नहीं है। आपकी भावना ही कुछ ऐसी हो गयी कि आप क्रोध से बुरी तरह पराजित हो गये। आप अपने को संयमित रखें। भावना को परम-पुरुष में रखते हुए मनन करें। फिर तो आप मुनि हैं ही। इस तरह विष्णु भृगु को वैष्णव तंत्र में दीक्षित कर भक्ति करने का आदेश दे देते हैं। उनके द्वारा भक्ति के निमित्त स्थान पूछने पर उन्हें वहीं बलिया भेज देते हैं। जहाँ भृगु तप करने लगे। आज भी भृगुऋषि का आश्रम वहाँ मौजूद है।

जालंधर

विष्णु के द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म दक्षिण-पश्चिम भाग में भी फैलने लगा। किसी भी संस्कृति का नाश नहीं होता। दब जाती है परन्तु समय पाकर पुनः पल्लवित-पुष्पित हो जाती है। इसी सन्दर्भ में रक्ष संस्कृति का एक उपासक और सामने आता है। जो अत्यन्त, उदार, धर्म प्रवीण यौद्धा था, तप के द्वारा शिव को खुश कर लिया था। तंत्र का अद्वितीय ज्ञाता हो गया था। उसकी प्रजा भी तंत्र

सम्पन्न थी। दोनों पति-पत्नी तंत्र विधि से अपने में आनन्दित थे। पत्नी अत्यन्त ही पतिव्रतधर्म में लीन थी। यह सब देव संस्कृति के लिए आश्चर्य का विषय होना स्वाभाविक है। जैसे आज भी पश्चिम की औरतें भारतीय पतिव्रत धर्म की हँसी उड़ाती हैं। इसे मूर्खता का परिचायक मानती हैं। वे आज इसके साथ तो कल दूसरे और के साथ, नाज़ायज पुत्रों की बाढ़ लेकर आयी हैं। जिसके चलते समाज व्यवस्था ही चरमरा उठी है। उसी की नकल पूर्व भी कर रहा है। यहाँ भी महानगरों में वही स्थिति आती जा रही है। पति एवं पत्नी का धर्म भी कुछ होता है। ये जानते ही नहीं। ये कहते हैं हम Life-Partner की तरह हैं। जितना दिन चलता है, ठीक है, अन्यथा हम अपने रास्ते, ये अपने रास्ते। मेरे एक मित्र आज के देव भूमि पश्चिम के पाताल-लोक या नाग गन्धर्व भूमि अमेरिका गये थे। इन्हें एक निमन्त्रण मिला कि स्वामी जी आप अमुक जगह अमुक तारीख को अमुक समय आयें। वे बोले क्या है भाई। वहाँ के लोग जो कुछ पूर्व की तरफ मुखातिब हो रहे थे। समझाये कि स्वामी जी ये हैं भद्रपुरुष जो अपनी पत्नी के साथ लगातार 10 वर्षों तक रह गये। वही शादी की दसवीं वर्ष गांठ मनानी है। स्वामीजी कहे यह कौन अनहोनी है? वे भद्रपुरुष बताये कि स्वामी जी यह एकदम अनहोनी है। यहाँ तो साल दो साल किसी तरह एक साथ रह लेते हैं अन्यथा दो-चार माह में ही एक-दूसरे को छोड़ देते हैं। यहाँ के लिए यह शादी तो उदाहरण है कि दस साल तक एक साथ रह गये। यही है पति-पत्नी का सम्बन्ध।

जालंधर के राज्य में सभी अपने-अपने धर्म में अवस्थित थे। यह देख कर देवेन्द्र चिन्तित हो उठे। जालंधर को भ्रष्ट करने हेतु पहले देवर्षि को भेजा गया। देवर्षि जब सफल नहीं हुए तब नारद स्वयं अपने गण-पार्षदों के साथ गये। जब वह किसी भी तरह के लालच में नहीं आये तो अपनी नीति के अनुरूप छल, बल, दाम, दण्ड, विभेद अपनाते हुए उस पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में इन्द्र हार कर भागे। सारे देवगण भयभीत होकर विष्णु के पास पहुँचे। उनसे अपनी व्यथा सुनाये। विष्णु देवेन्द्र की बातों पर विशेष ध्यान देने ही लगे थे। चूँकि उनका निवास एवं पत्नी लक्ष्मी भी उन्हीं के क्षेत्राधिकार में थी। विष्णु देवर्षि एवं देव को प्रसन्न करने हेतु युद्ध का नियम बनाये। उसे परास्त करने हेतु तरकीब सोचे।

जालंधर की पत्नी को भ्रष्ट करना

विष्णु ने उसकी कमजोरी का पता लगाने हेतु नारदीय व्यवस्था को उसकी राजधानी में भेज दिया। गुप्तचर लोग अपना रूप बदलकर काम करने लगे। विष्णु चढ़ाई कर दिए। जालंधर से घोर युद्ध होने लगा। हर बार विष्णु को पीछे धकेलते रहा। इससे विष्णु अत्यन्त चिन्तित हुए। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि इसमें

इतनी शक्ति आती कहाँ से है? प्रतिदिन नया ओज, नया जोश लेकर युद्धभूमि आता। सभी देव संस्कृति के लोगों पर कहर ढाल देता है। यह तो अजेय मालूम होता है। इसी बीच नारदीय व्यवस्था (गुप्तचर) के माध्यम से सूचना मिली कि इसकी पत्नी अपूर्व पतिव्रता है। इसके युद्ध में जाते ही उसी के ध्यान में स्थिर हो, परम-पुरुष को प्रार्थना करती है। हे परम पुरुष आप मेरे पति की रक्षा करें। जब तक उसका पतिव्रत धर्म ऐसा ही दृढ़ रहेगा। तब तक उसको मारना सम्भव नहीं है। विष्णु ने उसके पतिव्रत धर्म को नष्ट करने हेतु आदेश दिया। जो भी देवगण या देवेन्द्र या देवर्षि अपना रूप बदल कर गये। वह उसके पतिव्रत धर्म के सामने टिक नहीं सके। उन्हें उल्टे पाँव लौटना पड़ा। उस औरत में विचित्र था तेज। विचित्र था नारीत्व। हर श्वास थी परम-पुरुष के लिए। अब उसका अमंगल कौन कर सकता है? पंजाब प्रान्त में जालंधर शहर इसी के नाम पर बसा है। जहाँ सती वृंदा का छोटा मंदिर आज भी है। आज भी उसकी आत्मा इसके इर्द-गिर्द घूमती है। आप चाहें तो वहाँ ध्यान करके उसकी आत्मा को निमंत्रित कर बातें कर सकते हैं। सच्चाई जान सकते हैं।

इस विचित्र परिस्थिति में विष्णु एक दिन उसकी पत्नी वृंदा के समीप गये। जब दूर से देखे तो समझ गये कि यह तपस्वनी है। इसकी पूरी चित्तवृत्तियाँ ध्यान पर ही हैं। परम-पुरुष पर ही अन्तर्मुखी हैं। अतएव पहले इसे बहिर्मुखी करना श्रेयस्कर होगा। विष्णु झट से अपना रूप बदलकर जालंधर का रूप धर लेते हैं। उधर युद्धभूमि में देवेन्द्र संभाल रहे हैं। विष्णु नकली जालंधर बन वृंदा के समीप जाते हैं। वृंदा झट-पट उठ खड़ी होती है। पूछती है हे नाथ! आज आप इतना पहले क्यों आ गये? विष्णु कहते हैं हे प्रिय! आज एकाएक तुम्हारे प्रति मन में अनुराग उत्पन्न हो गया। बरबस युद्ध से वापस आ गया। विष्णु ध्यान बहिर्मुख करने में समर्थ, चतुर थे ही। यही मौका उचित देख उसका सतीत्व भंग कर देते हैं। जब वह जाने को उद्यत होते हैं। तब वह पहचान जाती है कि यह तो कपटी, छली विष्णु हैं।

वृंदा का श्राप

वृंदा क्रोधित हो जाती हैं। कहती हैं हे विष्णु क्या यही धर्मात्मा कहलाता है। यह कैसा धर्म? हर समय, हर किसी से छल-कपट करना ही तुम्हारा धर्म है। दूसरी औरत से इस तरह का व्यवहार तू भविष्य में कभी न करना, जिससे हमारी दूसरी बहन का सतीत्व खतरे में पड़ जाये। मैं तुझे श्राप दे रही हूँ। इससे तुझे कोई नहीं बचा पायेगा। जाओ, तुम पत्थर हो जाओ। तुम्हारी गुप्तेन्द्रिय गिर कर पत्थर हो

जायेगी। पौराणिक उल्लेख मिलता है कि वे पत्थर हो गये। वही देवेन्द्र के द्वारा पूजित शालीग्राम कहलाये। इधर सतीत्व नष्ट होने से जालंधर मारा गया।

वृंदा ने अपना शरीर अपने तेज से छोड़ दिया। ऐसा कहा जाता है कि उसने अपने किए पर पश्चाताप करते हुए वृक्ष का रूप ग्रहण कर लिया। जो वृक्ष बाद में बहुत फैल गये एवं वृंदावन कहलाये। इस घटना को देखकर मानव-रक्ष संस्कृति के लोग दहल गये। क्या यही है देवत्व? क्या यही है अस्तित्व गत-बोध? क्या यही है विष्णु का वैष्णव धर्म? सभी गमगीन थे। परन्तु उसी की स्मृति में रक्ष एवं मानव संस्कृति के लोगों ने वृंदा को शुभ माना। अपने-अपने घर में लगाया उसकी पूजा होने लगी। वह श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाने लगी। वह संस्कृति की प्रतीक बन गयी। लोगों के मन-मस्तिष्क में इतना घर कर गयी कि उसके बिना घर ही सूना होने लगा। वृंदा का पत्ता पूजा-पाठ में, भोजन में, यज्ञादि में पड़ने लगा। किसी भी तरह का कार्य हो चाहे वह शुभ या मरते वक्त अशुभ हो वृंदा को अवश्य याद करते। यही वृंदा कालान्तर में तुलसी कहलायी। इसका आचरण व्यवहार सतीत्व इतना आदरणीय लगा कि मानव संस्कृति के लोगों ने इसकी लकड़ी को गले से लगा लिया। जिसे कण्ठी कहते हैं। इसे माला के रूप में धारण कर लिया। यह वृंदा के तप-त्याग का प्रतीक है। जिसे अभी तक मानव संस्कृति के लोग गले से, हृदय से लगाते हैं।

वैष्णव मत इससे आगे नहीं बढ़ पाया। चूँकि विष्णु का चरित्र देवेन्द्र से जुड़ गया था। देवेन्द्र एवं देवर्षि हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अतएव वैष्णव धर्म आगे बढ़ते-बढ़ते रुक गया। शैव तंत्र का ही विकास सर्वत्र हुआ। बाद में विश्वमित्र का दिया हुआ गायत्री छन्द का। साहित्य का इतिहास देखने पर भी मालूम होता है कि वैष्णव धर्म का दक्षिण में पुनः ग्यारहवीं सदी में प्रचार शुरू हुआ एवं बारहवीं सदी तक जोर पकड़ा। इसमें देवी-देवताओं का अविर्भाव हुआ। इसी धर्म के साथ आर्यीं 84 लाख योनियाँ। कर्म फलाफल। एक तरफ तो इसने 12वीं सदी में भक्ति का आन्दोलन सा खड़ा कर दिया। दूसरी तरफ पाण्डित्य का भी। खैर हम लोग हिन्दी साहित्य एवं भक्ति काल के इतिहास की तरफ जाने लगे। अतएव तंत्र पर पुनः सोचें।

माली एवं माल्यवान के द्वारा रक्ष संस्कृति को बचाना

येन-केन-प्रकारेण मानव संस्कृति देव संस्कृति से प्रभावित होने लगी। खासकर चन्द्रवंशी राजा ज्यादा प्रभावित हुए। ये सबल सशक्त होते थे। देवगण भी इनसे मधुर सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। इसी वंश के एक और राजा नहुष थे जो देवेन्द्र को हटाकर कुछ काल तक देवेन्द्र के स्वर्ग का सुख भोगे। पुराणों में उनका

भी कुछ अप्सराओं से सम्पर्क आता है। इस तरह बार-बार अप्सराओं के सुख, शराब के सुख की खोज में स्वर्ग के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगे। मानो मानव संस्कृति के दूषित होने का यही समय था। हालांकि इसी वंश के ज्यादा-से-ज्यादा लोग ऋषि भी हुए हैं। जिनका वर्तमान समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान था। इन वंशों एवं ऋषियों का वर्णन आगे किया जायेगा। उनका प्रभाव देखते हुए रक्ष संस्कृति का चिन्तित होना स्वाभाविक था। रक्ष संस्कृति यानी राक्षस सिमटते जा रहे थे। देव संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। रक्ष संस्कृति के बचे मनीषी भी आरण्यों में छिपकर तप करने लगे। अपनी रक्षार्थ सोच विचार करने लगे। दक्षिणी भू-भाग के समुद्रीय तट पर रह रहे माली, सुमाली माल्यवान की स्थिति भी दयनीय हो गयी थी। देवगणों ने उन्हें भी विभिन्न प्रकार की लड़ाइयों में फँसाकर उनके अस्तित्व पर ही हमला बोल दिया था। माल्यवान अपने परिवार के साथ यत्र-तत्र भटक रहा था। उसे कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा था कि किस प्रकार देव संस्कृति से अपनी रक्षा की जाये। अन्ततोगत्वा देवर्षि पुलस्त्य, अगस्त्य का आधिपत्य हो गया था। वे नीति निर्णायक थे। वे बहुपत्नीक थे। इन्हीं के वंशजों का वर्चस्व था। देवेन्द्र भी इन्हीं के परामर्श के अनुसार कार्य सम्पादन करते थे।

लंका

उस समय रामेश्वरम से कुछ ही दूरी पर एक टापू था। जैसा कि आप जानते ही हैं कि नदियां अपना रास्ता बदलती रहती हैं। कभी दायें काटतीं तो कभी बायें भू छोड़तीं। इसी तरह समय-समय पर समुद्र से भी टापू निकलता रहता है। उसी तरह का दक्षिण में एक सुन्दर टापू निकल आया था। देवेन्द्र एवं देवर्षि ने उस टापू का विकास किया। देवगण ने सोचा कि इस टापू से ही अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया जायेगा? चूँकि स्वर्ग इधर से काफी दूर पड़ता है। अतएव इसे लघु स्वर्ग के रूप में विकसित किया गया। सारी सुख-सुविधाओं का जुगाड़ किया गया। मानव संस्कृति एवं रक्ष संस्कृति से लूटा गया धन यहीं लगाया गया। दोनों संस्कृतियों की सुन्दर अच्छी लड़कियों को भी लाया गया। चूँकि युद्ध जीतने के बाद इनका भी लूट-पाट करने में वर्तमान मुस्लिम शासकों की तरह ही व्यवहार था। अतएव उस टापू का विकास विश्वकर्मा नामक देव अभियन्ता की देख-रेख में सम्पन्न हुआ। दास-मजदूरों के रूप में दोनों संस्कृति के लोग बहु-संख्यक मात्रा में उपलब्ध थे ही। इन दोनों संस्कृतियों की लूट की सम्पत्ति को उस छोटे से टापू के विकास में लगा दिया गया। मात्र चन्द्र देवगणों के सुख का साधन यह टापू अब स्वर्ग से भी अच्छा लगने लगा। यहाँ अस्त्र-शस्त्र की खोज भी होने लगी। यहाँ से

स्वर्ग पहुँचने के लिए विमान की भी आवश्यकता आ गयी। वह भी ऐसा विमान जिसपर आरुढ़ होकर ज्यादा-से-ज्यादा देवगण एक जगह से दूसरी जगह जा सकें। युद्ध की निगाह से सामरिक भी हो। इस तरह विश्वकर्मा एवं बृहस्पति की मदद से एक विमान भी बनाया गया जिसे पुष्पक विमान कहा गया। इसका आकार बाहर से देखने में कमल पुष्प की तरह था। इसलिए इसे पुष्पक विमान कहा गया। इस टापू का ही नाम कालान्तर में 'लंका' पड़ा। यहाँ अत्यन्त सुन्दर था। लंका के सब घरों पर स्वर्णाकृति कला थी। इसी से इसे सोने की लंका भी कहा गया। यह बहुत माने में स्वर्ग से भी ज्यादा सुरक्षित थी। सुख-साधन भी वहाँ से ज्यादा उपलब्ध कराये गये। यहाँ अन्वेषण का कार्य जोर-शोर से शुरू किया गया। देवेन्द्र यहाँ स्थायी रूप से रह नहीं सकते थे। अतएव लंका के संचालन के लिए उपयुक्त व्यक्ति की खोज करने हेतु पुलस्त्य को कहा गया। देवर्षि पुलस्त्य ने उचित समय एवं सुअवसर देख देवेन्द्र से अपने ही नाती 'कुबेर' के सम्बन्ध में कहा। देवेन्द्र को कुबेर भी ठीक ही जंचा। वहाँ बहुत दिनों से देव संस्कृति के प्रचारक के रूप में पुलस्त्य अपने एवं अपने बच्चों के साथ रहे थे। अतएव सर्व-सम्पत्ति से कुबेर को वहाँ का प्रमुख संचालक नियुक्त कर दिया गया।

कुबेर को लंका का राजा बनाना

अब कुबेर ने लंका के प्रमुख के रूप में कार्यभार संभाल लिया। उनकी छत्र-छाया में प्रचार तंत्र पर जोर दिया गया। देवज्ञ यज्ञ का विधान, देवज्ञ चमत्कार का प्रचार दक्षिण में अब जोर पकड़ गया। लंका में प्रथम बार विभागों का बँटवारा किया गया। जैसे प्रचार तंत्र विभाग, युद्ध तंत्र विभाग, अन्वेषण तंत्र विभाग, रक्षा तंत्र विभाग, गुप्तचर तंत्र विभाग, विधि-व्यवस्था तंत्र विभाग, गृह तंत्र विभाग, इत्यादि का वर्गीकरण कर कार्य का संचालन शुरू हो गया। यही कारण है कि उस समय की सबसे विकसित जगह, समुन्नत जगह एवं धन-धान्य से पूर्ण जगह का नाम था 'लंका'।

अब देवतागण उत्तर से दक्षिण तक छा गये। वे निर्भय होकर घूमते। छोटे-छोटे जनपद जहाँ मानव ऋषि तप करते उनसे छेड़-छाड़ करना अब उचित नहीं समझते थे।

माल्यवान का पुलस्त्य आश्रम में शरण लेना

माल्यवान चतुर परन्तु समय का मारा रक्ष संस्कृति का प्रतिनिधि था। अब कोई उपाय नहीं देख, अपने परिवार के साथ पुलस्त्य पुत्र विश्रवा के आश्रम में आ गया। उसके साथ उसकी युवा पुत्री भी थी। जो अत्यन्त सुन्दर, चतुर, कार्य करने शिव तंत्र

में दक्ष एवं प्रतिभा सम्पन्न लड़की थी। आश्रम में रहते-रहते ऋषि विश्रवा उस लड़की पर आसक्त हो गये। जबकि इसके लड़के की लड़की भी इससे उम्र में बड़ी थी। खुद कुबेर इन्हीं का लड़का लंका का प्रमुख बना बैठा था। इसी से कहा गया है कि जब तक व्यक्ति मानसिक रूप से संन्यास ग्रहण नहीं करता, मानसिक रूप से परमात्मा-प्रेमी नहीं बनता तब तक काम का रूपान्तरण ब्रह्मचर्य में होता ही नहीं। कपड़ा लाल, काला, पीला पहनने, दाढ़ी बढ़ा लेने से संन्यासी की आकृति तो ग्रहण कर लेते हैं परन्तु अन्दर से बकरा ही बने रहते हैं। बकरा काम का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह भी दाढ़ी रखता है ऋषिवत्। काम के मामले में वही एक पशु है जो माँ, बहन, पुत्री को भी नहीं पहचानता। सम्भवतः बकरा इस पृथ्वी पर देवर्षि परम्परा का ही प्रतीक है। खैर उनकी आसक्ति को देख लड़की कैकशी का चिन्तित होना स्वाभाविक था। कैकशी अपने पिता से सारी स्थिति कह देती है। पहले तो वे भी इनके आचरण पर भयभीत होते हैं परन्तु परिस्थिति का मारा व्यक्ति जब विधन-बाधाओं से युद्ध की हिम्मत छोड़ देता है। समझौतावादी हो जाता है। अतएव माल्यवान सोचने लगता है कि देवतागण जहाँ पराजित होते हैं वहाँ के राजा से रक्त सम्बन्ध कर अपनी स्थिति मजबूत करते आ रहे हैं। सम्भवतः यही कारण है कि इनका विकास तेजी से हो रहा है और हमारी संस्कृति समाप्त सी होती जा रही है। प्रातः काल वह प्रसन्नचित्त अपनी पुत्री को सारी स्थिति से अवगत कराते हैं। पिता पुत्री को विश्रवा को वरण करने की सलाह देता है। रूपसी कैकशी ने यह बात पिता के मुँह से सुनने की कल्पना तक नहीं की थी। परन्तु पिता के द्वारा बार-बार समझाया जाता है कि समय से समझौता करने तथा अपना भविष्य बनाने के लिए कुछ कुर्बानी भी करनी पड़ती हैं। भविष्य के लिए वर्तमान से समझौता करना ही श्रेयस्कर है कैकशी। इस तरह उन्होंने कैकशी को समझा-बुझाकर तैयार किया।

कैकशी एवं विश्रवा

जब कैकशी के पिता ऋषिवर विश्रवा से शादी का प्रस्ताव रखते हैं तो वे भावविह्वल हो जाते हैं। मानो उनकी चिर-प्रतीक्षित इच्छा पूरी हुई। देवर्षि विश्रवा चौथे-पन में युवा लड़की कैकशी से शादी करते हैं। अब ऋषि कैकशी की सेवा से प्रसन्न थे। सदैव वह उनकी छाया के सदृश रहने लगी। आश्रम के प्रत्येक कार्य में हाथ बंटाने लगी। धीरे-धीरे वह इतनी महत्वपूर्ण हो गयी कि ऋषिवर उसकी इच्छा के बिना कोई कार्य ही नहीं करते। नीति नियमन में भी वह अहम् भूमिका निभाने लगी। माल्यवान यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। देवनीति ही उसके काम आयी। देवगण के नाश हेतु भविष्य उज्ज्वल नजर आया। समयानुसार

अपनी पुत्री को उचित शिक्षा भी देता एवं भविष्य के प्रति सदैव सजग भी करता। लगन, निष्ठा एवं चतुरतापूर्वक किया गया निर्णय रंग लाया। समयानुसार उसे तीन पुत्र एवं एक पुत्री भी हुई। रावण बड़ा था। वह अत्यन्त सुन्दर, होनहार पैदा हुआ। जिसे देखकर देवर्षि मुग्ध हो गये। दूसरा लड़का विभीषण यह भी सुन्दर चतुर एवं भक्त प्रवृत्ति का था। तीसरा कुम्भकरण। यह भी सुन्दर, सुशील अपने से बड़ों का आदर करने वाला हुआ। परन्तु कुछ आलसी हो गया। लड़की स्वर्ण रेखा यानी अत्यन्त सुन्दर शरीर वाली थी। इसका शरीर मानो सोने की बनी हुई मूर्ति थी। इसी से इसे स्वर्णरेखा कहा गया। चौथा पुत्र खरदूषण का जन्म हुआ। यह भी कहीं-कहीं ज्ञात होता है कि अत्यन्त शक्तिशाली निर्भीक, बहादुर था। यह एकान्तप्रिय था। सम्भवतः इसीलिए यह दण्डकारण्य में तप-ध्यान में ज्यादा समय देता था। स्वर्णरेखा भी इसी के आश्रम में रहने लगी थी। चार भाई एवं एक बहन आपस में मिलकर रहते, विद्याध्ययन करते, युद्ध कला सीखते। रावण इतना तीव्र बुद्धि था कि वह एक साथ दस-दस कलाओं को ग्रहण करने में सक्षम हो गया। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि दस दिशाओं को पराभूत कर रही थी। शीघ्र ही उसने चार वेद, छह शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण कर लिया। किसी भी विद्या को या श्रुति के ऋचा को एक बार सुन लेने पर उसे याद हो जाता। उसकी प्रतिभा, स्मरणशक्ति को देखकर देवर्षि ने सहसा कह दिया कि तुम्हारी कीर्ति दसों दिशाओं में फैलेगी। तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि मानो दसानन है। इस तरह इसे दशानन कह दिया गया। दशानन में अपने पिता की तरह वाक्पटुता, सुन्दरता, विद्वता, चारित्रिक गुण आ गया। चूँकि उसके पिता देवगुणों से परिपूर्ण ऋषि थे। देवगुणों से परिपूर्ण देवर्षि अपने को उत्तम कुल के कहते थे। दशानन की प्रतिभा, तप एवं राज्य करने की आकांक्षा मातृ प्रधान हो गयी। यानी माता का गुण उसमें आ गया। चूँकि उसकी माता रक्ष संस्कृति की थी। इसी तरह से विभीषण भी पिता के अनुरूप सुन्दर विद्वान तो हुआ परन्तु चारित्रिक गुण माँ पक्ष से उसे मिला। इस तरह विभीषण में भक्तित्व का प्रधान होना मातृपक्ष के चलते सहज हो गया चूँकि उसकी माँ परमभक्त, पतिव्रता एवं दृढ़ चरित्र की थी। बचपन से विभीषण में देवजन्य गुण कम एवं रक्ष तथा मानव संस्कृति के गुण ज्यादा आये। परमपिता परमात्मा के सामने अपने को समर्पित करने की भावना ज्यादा रही। साथ ही पद लोलुपता, तड़क-भड़क का जीवन, वाक्पटुता इसे देव संस्कार से मिली। इसी से इसका नाम विभीषण रखा गया।

कुम्भकरण यानी कुम्भ की तरह जिसका कर्ण या कान हो, यह किसी भी विद्या को शीघ्र ग्रहण करता था। किसी भी शस्त्र को अपने में कुम्भ यानी घड़े की तरह स्थिर रखता था। इसकी बुद्धि धीर, गम्भीर एवं अनुशासित थी। इसके शरीर

की बनावट उसके नाना पर और बुद्धि उसकी माँ पर, जो अत्यन्त वीर थी। यह गम्भीर विचार वाला किसी भी विद्या को कुम्भ की तरह रखने वाला हुआ। इसलिए देवर्षि ने इसका नाम कुम्भकर्ण रखा।

स्वर्णरेखा इसकी सुन्दरता माँ और बाप से मिलती-जुलती एवं दोनों से अच्छी थी। सेवा की भावना माँ की तरफ से आयी। चारित्रिक गुण, विद्या, जीने की शैली यह पिता की तरफ से मिल गयी। इसी से उसका नाम स्वर्णरेखा रखा। देवतागण उसकी वाक्पटुता, कार्यक्षमता एवं विद्वता देखकर मोहित हो गये।

रावण का भाई-बहनों के साथ तप करना

माल्यवान समय-समय पर एकान्त कानन में इन भाइयों एवं बहनों को अपनी सभ्यता और संस्कृति के विषय में बताता। रक्ष संस्कृति कैसे विनष्ट हुई; इसमें किन-किन देवगणों का हाथ है। यह पूरी जानकारी अपने भावी भविष्य के लिए अपने भावी कर्णधारों को देता। यह भी कहता बेटे रावण तुम सब भाई, बहन मिलकर अपनी संस्कृति को किसी तरह बचा लो यह मेरी इच्छा है। तुम्हारी माँ को नहीं चाहते हुए भी इस बूढ़े देवर्षि से विवाह कराकर रक्त सम्बन्ध स्थापित किया। अब तुम्हारे ही हाथ में रक्ष संस्कृति धरोहर के रूप में सुरक्षित है। चाहो तो अपनी बुद्धि, प्रतिभा एवं देवज्ञान का सहारा लेकर अपनी खोयी विरासत वापस ले सकते हो परन्तु बेटे तुझे कुछ चालाकी का सहारा लेकर अभी देवेन्द्र को मिलाये रखना होगा। देवेन्द्र सहित समग्र देवता को मिलाये रखना होगा। रक्ष संस्कृति के अग्रगण्य सदाशिव की प्रसन्नता के लिए तुम्हें तप करना होगा। तब कहीं तुम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में तुम्हारे सब भाई-बहन तुम्हारी सहायता करेंगे। अतएव समय नहीं है। तप करो उससे शक्ति मिलेगी। वह शक्ति तुम्हें समग्रता की तरफ ले जायेगी। अभी तुझे अपने पिता या देवगण के किसी भी प्रपंच, लोभ, लालच में नहीं पड़ना है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथाकथित सुखों का त्याग करना होगा। अन्यथा बीच में भटक जाओगे लक्ष्य तो दूर, भटकाव ही हाथ लगेगा।

ये सारी बातें अत्यन्त गोपनीय रहनी चाहिये। लक्ष्य की प्राप्ति परम कर्तव्य होना चाहिये। इस प्राप्ति के लिए कुछ भी कार्य उचित होगा। यही मेरी अभिलाषा है। जिसकी उम्मीद में अभी तक जिन्दा हूँ। रावण ने अपने भाइयों की तरफ देखते हुए पूछा क्यों भाइयो! तुम लोगों की क्या इच्छा है? कुम्भकर्ण तुरन्त बोल उठा, प्रिय एवं पूज्य भ्राताश्री आप जो भी करेंगे हम आपके साथ हैं। हर स्थिति में, हर क्षण में तुम्हारी रक्षा में रहेंगे। हमें किसी भी तरह का लोभ-लालच नहीं है। बस

आपकी सेवा में मेरे प्राण चले भी जाते हैं तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। बहन स्वर्णरेखा भी मधुर प्रिय वाणी में बोली पूज्य भ्राताश्री। मैं यह जानती हूँ कि आप हमारी संस्कृति को बचाने में कामयाब रहेंगे। मैं आपकी संस्कृति की रक्षक एवं प्रचारक रहूँगी। मैं तो नारी हूँ। मेरी रक्षा तो आपके ऊपर है ही। चूँकि मैं एकमात्र आपकी प्रिय बहन जो ठहरी। विभीषण मौन थे। काफी कुछ खोदने पर अपनी मौनता भंग किये। काफी सोच-समझकर बोले “रक्ष संस्कृति के रक्षार्थ आपके साथ रहूँगा या रक्षार्थ जो भी करना होगा मैं करूँगा।” रावण भाई-बहनों का उत्तर सुनकर प्रसन्न था। मन-ही-मन झूम उठा। सोचा जिसके इतने चतुर, पुरुषार्थी भाई-बहन हों, उसे कैसी चिंता? आज नहीं तो कल हम लोग अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेंगे। अतएव इसकी पूर्व योजना अभी से बनानी होगी। देखो, यह सौभाग्य है कि हम लोगों के पिता महान् देवर्षि हैं। पितामह पुलस्त्य हैं, जिसके यहाँ सभी देवतागण सादर आते हैं। हम लोगों पर विशेष अनुग्रह भी हैं। अतएव अपने व्यवहार एवं माता की तरह शिष्ट सेवा से सभी देवगणों का आशीर्वाद प्राप्त करना ही श्रेयस्कर होगा। अतएव आप सभी सेवा करके आशीर्वाद ग्रहण करें। यही हमारा निर्देशन है। मैं भी इनकी सेवा में तत्पर हूँ। कुछ काल के बाद शिव के समीप जाकर तंत्र की साधना करूँगा। जिससे हम लोगों का कल्याण सम्भव है। इस तरह इन्होंने अपनी सेवा परायणता से सब देवताओं को प्रसन्न कर लिया। सभी देवताओं ने यथायोग्य अपने आप आशीर्वाद दिया। सभी भाई-बहन आशीर्वाद पाकर धन्य हो गये। पिता एवं पितामह की विशेष कृपा थी ही। रावण चतुरतापूर्वक देव एवं देवर्षि से धनुर्विद्या वगैरह भी हासिल करने में समर्थ हो गया। विभिन्न प्रकार की विद्या, कला का प्रशिक्षण अपने नाना के द्वारा भी प्राप्त किया। इस प्रकार वह रक्ष संस्कृति एवं देव संस्कृति दोनों की युद्ध कला एवं संस्कृति को समझने में समर्थ हो सका। इतना विद्यावान-शिष्ट होने पर भी देवगण इसे कहीं का उत्तराधिकार नहीं देना चाहते थे बल्कि हेय दृष्टि से देखते थे। इसे वे लोग देव संस्कृति में लेने पर कतई तैयार नहीं थे। धीरे-धीरे उपेक्षापूर्ण जीवन-यापन करने को बाध्य होने लगे।

रावण ने इस समय अत्यन्त चतुरता से काम लिया एवं सभी भाइयों को पिता के गृह में ही रह कर तप करने एवं शक्ति अर्जन करने को कहा। स्वयं कैलाश जाकर सदाशिव से तंत्र सीखने का मन बना लिया। कुछ काल के उपरान्त वह शिव के चरणों में पहुँच ही गया। सदाशिव ने उसे तंत्र के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्र की विद्या भी प्रदान की तथा रक्ष संस्कृति को बचाने हेतु आशीर्वाद भी प्रदान किया। रावण अजस्र विद्या, बल, बुद्धि की प्रवीणता ग्रहण कर, अपने पिताश्री के

गृह पहुँचा जिसे देखकर सब भाई-बहन, माँ, पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। पिताश्री ने उसके विवेक को देखकर दीर्घजीवी का आशीर्वाद भी दे दिया। रावण ने प्रपिता ब्रह्मा का भी आशीर्वाद प्राप्त किया। अजय, अमर का वरदान प्राप्त किया। ब्रह्मा ने उसे अपना ब्रह्मास्त्र भी प्रदान किया।

रावण का लंका पहुंचना

रावण अब अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योजना बनाने लगा। इस योजना में अपने भाइयों एवं नाना को सम्मिलित किया। पूरा सोच-विचार कर नाना का आशीर्वाद प्राप्त कर सीधे लंका पहुँचा। वहाँ लंका नगर को घूमकर देखा। जिसकी शोभा तो अवर्णनीय सुन्दर एवं सर्वसाधन सम्पन्न थी। यह भी देखा कि आयुद्ध के सब सामान तो हैं परन्तु उनका संचालन करने वाला कोई भी नजर नहीं आता। सभी देवगण वहाँ भोग में लिप्त थे। कौन आ रहा है? कौन जा रहा है? किसी को कुछ पता नहीं। मानो सभी भोग वृत्ति से ही आये हों। सभी लिप्त थे। रावण में यह देख साहस का संचार हुआ। वह सोचने लगा कि इसे (लंका) तो सहज ही ग्रहण किया जा सकता है। यहाँ तो कोई युद्ध करने वाला है ही नहीं। यहाँ युद्ध की जरूरत ही नहीं। सभी भोग-वृत्ति में हैं, अतएव यह सुअवसर देख रावण अपने भाइयों के साथ पहुँच गये सीधे कुबेर के भवन में। वहाँ भी कोई रोक-टोक नहीं। रावण अपने भाई कुबेर के मुख्यालय में बैठ गये। कुम्भकर्ण को सेना मुख्यालय में, स्वर्णरिखा को संचार मुख्यालय एवं विभीषण को गृह मंत्रालय के मुख्यालय में भेज दिया। तब स्वर्णरिखा ने आकाशवाणी से सन्देश प्रसारित करा दिया कि आप सभी बन्दी हैं। आप जो जहाँ हैं, वहीं रुके रहें। भागने की जरूरत नहीं। आज से यहाँ के राजा हुए महाराज रावण। सेना, गृह मंत्रालय सभी हमारे कब्जे में आ गया है। कुबेर बन्दी बना लिये गये हैं। आप सभी देवगण जैसे हैं वैसे रहें। आप के लिए कोई आपत्ति नहीं। हाँ सवेरे होते ही नगर प्रमुखगण महाराज रावण के स्वागत में खाली हाथ दरबार हाल पहुँचे। कोई भी देवगण किसी भी तरह का छल किया, तो सेना प्रमुख कुम्भकरण के द्वारा मौत के घाट उतार दिया जायेगा। कोई भी किसी तरह का अपशब्द या अपमानमूलक वचन का प्रयोग करेगा, तो गृह प्रमुख विभीषण के द्वारा बन्दी बना लिया जाएगा। संचार व्यवस्था, संचार-प्रमुख स्वर्णरिखा के हाथ में है। जहाँ से यह सन्देश आप लोगों को दिया जा रहा है। आप सभी सुबह होते ही महाराज रावण के नेतृत्व में राज-काज करने का प्रमाण पेश करें। आप सभी से यही उम्मीद है। महाराज रावण राजगद्दी पर बैठे हैं। राज्य का सूत्रधार बन गये हैं। उन्हीं के आदेश पर चप्पे-चप्पे में सेना खड़ी है। अतएव आप

सभी का मंगलमय भविष्य इसी में है कि शीघ्र ही उनकी अधीनता स्वीकार कर राज्य संचालन में मदद करें। इस प्रकार प्रसारण आकाशवाणी से बार-बार दिया जाने लगा।

सभी देवगण अचानक यह प्रसारण सुनकर सन्न रह गये। उनका होश ही उड़ गया। सभी देवेन्द्र-देवेन्द्र चिल्लाने लगे। दूसरा प्रसारण सुनने का इन्तजार करते परन्तु सदैव एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रसारण सुनकर उन्हें सत्यभाषित होने लगा कि कुबेर बन्दी बना लिए गये हैं। सारी सेना घेर ली गयी है। गृह मंत्रालय भी घेर लिया गया है। सभी रक्षक समेत अधिकारी जो जहाँ था वहीं किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। जो स्वप्न में सोचा नहीं जा सकता वही हो गया। आखिर हुआ कैसे यह? कोई किसी से नहीं मिलता। सभी अपने-अपने घरों में छिपे हैं कर्तव्यहीन हो गये हैं। ये सोचने को मजबूर हो गये हैं कि अच्छा है हमें क्या अन्तर पड़ता है? कल तक कुबेर हमारे राजा थे। आज रावण हमारे राजा हैं। हमें कौन-सा राजा बनना है? इत्यादि बातें सोचने लगे। कोई भय से एक-दूसरे से बात नहीं करता। भय से यह सन्देश देवेन्द्र के यहाँ भी नहीं भेजते। सभी रात्रि भर में हथियार डालने एवं प्रातःकाल महाराज रावण का अधिनायकत्व स्वीकार करने को तैयार हो जाते हैं। सभी उनकी सेवा में बड़-चढ़ कर स्तुति गान करने की सोचने लगते हैं। सभी सोचते हैं मैं पहले उनके राज्यारोहण की बधाई दूँ जिससे हमारा सम्बन्ध एवं भविष्य अच्छा रहेगा।

रावण की राजनीति एवं कूटनीति

सुबह होते ही सेना के शीर्षस्थ अधिकारी दिग्पाल से लेकर वरुण, अग्नि, मरुत, नारदीय व्यवस्था, सूर्य, शनि सभी विभाग के प्रधान देवताओं में रावण के पास पहुँचने की होड़ सी लग गयी। सभी एकान्त में महाराज रावण से मिलते एवं उनका गुणगान करते तथा कुबेर के शासन व्यवस्था की शिकायत। महाराज यह कोई व्यवस्था है। यहाँ न कोई नियम, न कानून, न ही विधि न ही व्यवस्था। सभी भोगवादी हैं। ठीक किया आप आ गये। आपको पहले ही आना चाहिये था। अच्छा हुआ, देर से हुआ परन्तु ठीक हो गया। अब आप जैसे कहेंगे हम लोग करेंगे। नीतिपूर्वक काम करने में ही मन लगता है। यहाँ तो केवल देवेन्द्र की चापलूसी एवं छल, झूठ के सिवाय कुछ है ही नहीं। यह भी कोई व्यवस्था है। खैर जो हुआ सो ठीक हुआ। महाराज रावण की जय। इस प्रकार सभी जय-जयकार करते आते एवं सभी को महाराज रावण उचित निर्देश देकर वापस कर देते। यह सिलसिला दिनभर चलता रहता। महाराज रावण ने सन्ध्या में फिर सन्देश प्रसारित

कराया कि सभी अपने-अपने घर के अन्दर रहें। अगले निर्देश का इन्तजार करें। जो कोई भी आदेश का उल्लंघन करेगा उसे दण्ड दिया जायेगा। इस तरह एक सप्ताह तक देवगण अपने-अपने गृह में बने रहे। विभागाध्यक्ष को समयानुसार बुलाया जाता एवं निर्देश देकर वापस कर दिया जाता। रात्रि के एकान्त में सभी भाई एवं नाना मिलते एवं आगे की नीति निर्धारित करते। इसी बीच एक नियम बनाया गया जो सबको समान रूप से लागू करने एवं मानने को कह दिया गया।

- (1) सभी अपनी क्षमता के अनुसार काम करेंगे। आवश्यकता के अनुसार उन्हें आवश्यक सामान मिलेगा।
- (2) देव प्रदत्त हिंसक यज्ञ अब यहाँ नहीं होगा।
- (3) भोग प्रधान लंका नहीं रहेगी।
- (4) कर्म प्रधान लंका होगी अतएव कर्म करना सभी को अनिवार्य है।
- (5) सभी को शिव के तंत्र को मानना एवं करना होगा।
- (6) कोई झूठा अनर्गल प्रलाप नहीं करेगा।
- (7) देवेन्द्र की कोई व्यवस्था यहाँ मान्य नहीं होगी।
- (8) आम जनता को अपनी शिकायत करने का एवं न्याय पाने का हक होगा।
- (9) कोई छोटा कोई बड़ा नहीं होगा।
- (10) योग्यता के अनुसार काम का बँटवारा होगा।
- (11) कोई किसी भी तरह का कार्य करने से बड़ा-छोटा नहीं होगा।
- (12) उसकी प्रतिष्ठा उसके, कर्मठता एवं ईमानदारी पर निर्भर करेगी।
- (13) चरित्र से समझौता नहीं किया जायेगा।
- (14) किसी भी देवता की झूठी बढ़ाई (स्तुति) नहीं की जायेगी।
- (15) किसी को भोग की वस्तु आवश्यकता से अधिक संग्रह करने का अधिकार नहीं होगा।
- (16) सभी निर्भय, सर्वत्र विचरण करेंगे।
- (17) किसी भी प्रकार का दोष पाये जाने पर किसी भी देवता को कड़ा-से-कड़ा दण्ड दिया जायेगा।
- (18) अकारण कोई किसी को नहीं डरायेगा या कष्ट पहुँचायेगा। चाहे वह शनि ही क्यों न हो। समय पड़ने पर उन्हें भी दण्ड भोगना होगा।
- (19) विद्या सभी के लिए समान रूप से पढ़ने का अधिकार होगा।
- (20) सभी की खुशहाली ही राष्ट्र का धर्म होगा।
- (21) अपनी सभ्यता संस्कृति को फैलाना भी हमारा उद्देश्य होगा।

महाराज रावण के द्वारा उपर्युक्त नियमों का आकाशवाणी के द्वारा बार-बार प्रसारण कर दिया गया तथा सभी को नियमबद्ध रहने का आदेश दिया गया। उस नियम से राज्य की आम जनता जहाँ बहुत ही प्रभावित हुई, वहीं देवगण अप्रसन्न हुए। इसके बाद महाराज रावण का विधिवत् राज्यारोहण किया गया। राज्यारोहण के समय लंका के देवतागणों एवं आस-पास के देवर्षिगणों ने स्तुति गान किया। राज्य की गतिविधियाँ सुचारू रूप से चल निकलीं। राज्य का इस प्रकार संचालन देख कुबेर घबरा गये तथा लंका से जाने की इच्छा व्यक्त की। महाराज रावण ने सहर्ष कुबेर को ससम्मान विदा कर दिया। देवेन्द्र को यह जानकर पहले अत्यन्त कष्ट हुआ परन्तु पुलस्त्य एवं विश्रवा के समझाने पर देवेन्द्र ने अपनी सहमति प्रदान कर दी कि रावण को देव संस्कृति के अनुरूप ही रहना होगा। महाराज रावण ने अपने को मजबूत करने के लिए देवर्षि को समुचित स्थान दिया। निर्विघ्न रूप से महाराज रावण नियमानुसार लंका का राज्य संचालन करने लगे। इसी अवधि में अपनी एवं भाईयों की रक्ष संस्कृति के अनुसार शादी-विवाह किया।

महाराज रावण का प्रभुत्व एवं पराक्रम ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों ही राज्य का विस्तार भी होने लगा। इस तरह से विस्तारवादी होते गये। इस विस्तार के माध्यम से वे अपनी संस्कृति को फैलाने लगे। जब वे समझ गये कि लंका अब सशक्त, समृद्ध राष्ट्र हो गया, तब वे देव संस्कृति के द्वारा हिंसक एवं घृणित यज्ञों को बन्द करने लगे। अपनी तंत्र विद्याओं का प्रचार करने लगे तथा इसके लिए अलग-अलग तंत्र केन्द्र भी स्थापित करने लगे। यहाँ का पहला तंत्र केन्द्र हर साधन से उपलब्ध, सुरम्य, ध्यान के लिए उपयुक्त, मानसिक रूप से स्वस्थ, आध्यात्मिक रूप से उत्कृष्ट अशोक वाटिका को बनाया गया। कहा जाता है कि उस अशोक वाटिका में देवदुर्लभ, मानव दुर्लभ, यक्ष दुर्लभ वृक्ष लगाये गये। यहाँ तंत्र के आविष्कार की नई-नई विधाएँ स्थापित की गईं। उस वाटिका की ख्याति कुछ दिन में इतनी फैल गई कि दूर-दूर से लोग अपने शोक भुलाने के लिए आने लगे। कहा जाता है कि अशोक वाटिका ऐसी थी कि वहाँ किसी प्रकार का शोक नहीं था। यानी प्रसन्नचित्त होकर उस परमपिता परमात्मा की साधना करना ही यहाँ के तान्त्रिकों का लक्ष्य हो गया। कालान्तर में यही अशोक वाटिका तंत्र का मुख्यालय बनी तथा इसकी शाखा किष्किंधा पंचवटी, त्रिकूट, प्रयागराज एवं बक्सर (सिद्धाश्रम) में स्थापित की गईं। इस तंत्र के केन्द्रों (रक्ष संस्कृति के आश्रमों) के द्वारा रक्ष संस्कृति का प्रचार-प्रसार भारत के भू-भाग पर होने लगा। देवर्षि लोग इससे चिन्तित एवं भयभीत हुए। परन्तु महर्षि (मानव ऋषि) अत्यन्त प्रसन्न हुए चूँकि उन्हें भी यज्ञों के माध्यम से हिंसा करना तथा चरित्र से समझौता

करना अच्छा नहीं लग रहा था। इस तरह महाराज रावण का संस्कृति के साथ-साथ सभ्यता का भी विकास अग्रगति से चरमोत्कर्ष तक पहुँचने लगा। बाद में महाराज रावण इन्हीं स्थानों के माध्यम से सुयोग्य व्यक्तियों के द्वारा अपने शासन को भी व्यवस्थित करने लगे। इस शासन व्यवस्था में ज्यादा-से-ज्यादा अपने रिश्तेदार एवं सम्बन्धियों को रखा। चूँकि आप जैसा जानते हैं कि लंका में पहले देवराष्ट्र ही स्थापित था। इसलिए वहाँ की जनता एवं देवोत्पन्न लोग ही वहाँ रहते थे। रक्ष संस्कृति में बहुत कम लोग बच गये थे। इसलिए यह स्वाभाविक होता है कि अपने सगे-सम्बन्धियों को उच्च पदों पर लगाया जाये।

जैसा कि आप लोग भी देखते हैं कि इन्हीं प्रमुख स्थानों पर मानव ऋषि भी रहते थे या कहा जाये कि मानव ऋषियों का तंत्र साधना का केन्द्र यहीं था तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसा मालूम होता है कि रक्ष संस्कृति एवं मानव संस्कृति के ऋषिगण अन्वेषण का कार्य करते थे। चूँकि विश्वमित्र से लेकर भारद्वाज, अत्रि तक तथा निषाद से लेकर शबरी एवं नल, नील तक सभी महाराज रावण के ही कार्य क्षेत्र में आते हैं। ऐसा कहीं उदाहरण नहीं मिलता है कि महाराज रावण के द्वारा किसी की भी हत्या की गयी हो। सारे के सारे ऋषि इन्हीं क्षेत्रों में रहते थे। यदि उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट होता तो ये सहज ही इन स्थानों का परित्याग कर सकते थे। प्राप्त ग्रन्थों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन आश्रमों की दूरी पर हड्डियों का अम्बार मिलता था, ऐसा सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे हड्डियाँ देव संस्कृति या देवर्षि के द्वारा किये गये पशुबलि का परिणाम रही होंगी। दोनों की मिली-जुली संस्कृति से नये युग का सूत्रपात हुआ। सबके लिए समान रूप से विद्या का द्वार खोल दिया गया। सबके लिए तंत्र का द्वार खोल दिया गया। बहुत अल्पकाल में ही महाराज रावण की जय-जयकार दसों दिशाओं में होने लगी। इनकी ख्याति को देखकर देवगणों की जलन स्वाभाविक थी।

देवेन्द्र अत्यन्त चिन्तित हो जाते हैं। इसे अप्रत्याशित घटना समझने लगते हैं तथा महाराज रावण से मिलने के लिए उपाय सोचने लगते हैं। पुलस्त्य, अगस्त्य, वशिष्ठ आदि देवर्षियों को आमन्त्रित किया गया तथा देवेन्द्र ने अपने प्रमुख सभासदों को बुलाया। सबके समक्ष महाराज रावण की लोकप्रियता एवं जनप्रतिष्ठा अहम् प्रश्न बनकर खड़ी थी। सब लोगों ने सर्वसम्मति से उसे मिलाकर ही रखने का सुझाव दिया तथा देवलोक में आमन्त्रित कर पूर्ण प्रतिष्ठित कर सम्मान देने का भी प्रस्ताव पास हुआ। चूँकि सबों ने यह स्वीकार किया कि महाराज रावण पुत्र तो है देवर्षि का ही न। इसलिए हमारे गुणों से आज नहीं तो कल परिचित तो होना ही पड़ेगा।

महाराज रावण को ससम्मान स्वर्ग में बुलाया गया। उन्हें देवर्षि राजा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। स्वर्ग के सब देवता महाराज रावण की सेवा में लग गये। यह प्रमाण मिलता है कि सारे देवता एवं देवियाँ उनकी सेवा में सदैव लगे रहते थे। जैसे-जैसे देवगण महाराज रावण के समीप आते गये, वे जैसे-वैसे मानव संस्कृति से दूर होते गये। रावण एवं देवगण में इतनी घनिष्टता बढ़ गयी कि रावण राज्य के सभी लोग देवलोक में ही रहना पसन्द करने लगे। वे लोग इतना तक सोचने लगे कि कोई सीधा मार्ग वहाँ तक बना दिया जाये जिससे आम जनता वहाँ आसानी से आ-जा सके। परन्तु लंका एवं हिमालय स्थित स्वर्ग (रूस-चीन) देवेन्द्र की राजधानी त्रिविष्टप (तिब्बत) में काफी लम्बी दूरी थी एवं रास्ता दुरूह था जो सरल नहीं बन सका। वे लोग पुष्पक विमान से ही आ-जा सकते थे। रावण की यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी कि स्वर्ग सबके लिए सहज उपलब्ध हो सके।

रावण का विज्ञान अब देव संस्कृति के सम्बन्ध से और आगे बढ़ने लगा। समय एवं स्थान के अनुरूप बादल का वर्षा देना। हवा के द्वारा ही घर की सफाई होना। इच्छानुसार ही अग्नि का कार्य करना। सभी लक्ष्मी से परिपूर्ण सभी खुशहाल। यह सभी विज्ञान की उन्नति एवं विकास का ही परिणाम था। लंकाधिपति देव संस्कृति के समीप आने लगे जिससे उनकी प्रजा भी सहज स्वाभाविक रूप से आकृष्ट होने लगी। इस तरह लंका देव संस्कृति को धीरे-धीरे आत्मसात करने लगी। चूँकि प्रजा पहले से देवगण ही थी, जब कुबेर अधिपति थे। इन भाई-बहनों में भी पिता के द्वारा प्रदत्त खून देव का ही था। अतएव उनकी तरफ आकर्षित होना सहज स्वाभाविक हो गया। यह समय उनके नाना के मरने के बाद का था। अब उनके ऊपर कोई सम्यक अंकुश नहीं रह गया था। धन, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर बुद्धि सहज ही अधोगति की तरफ उन्मुख होती है। महाराज रावण अपनी रक्ष-संस्कृति से हटने लगे। जिसके इन्तजार में देवगण थे। जबकि एक समय ऐसा आया कि रावण स्वर्ग के देवगण, अप्सराओं के साथ लंका में ही निवास करने लगे। अब अप्सराओं का नाच-गाना, आमोद-प्रमोद शुरू हो गया। अब सभी लोग अपने कर्म-धर्म से हटने लगे। भोग में प्रवृत्ति होने लगी। जो मानव मन की सहज प्रवृत्ति है। महाराज रावण का सम्पूर्ण खानदान अधोपतन की तरफ उन्मुख होने लगा। अब देवगण एवं देवर्षि की मंत्रणा के अनुसार कार्य भी सम्पादन होने लगा। जिसका परिणाम था (मानव) ऋषियों से विचार की भिन्नता। यह विचार भिन्नता धीरे-धीरे उग्रता का रूप लेने लगी एवं विरोध उत्पन्न होने लगा। इधर देवेन्द्र मानव ऋषि, राजर्षि एवं राजा को मिलाने के लिए सोमयज्ञ स्थापित करने लगे। जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। अभी हम इसे यहीं छोड़ें। आगे इस पर पुनः विचार किया जायेगा।

दैत्य या राक्षस

भारतीय यति, मुनि, सन्यासियों के अनुसार वह राष्ट्रवादी नहीं समस्त जगत का घटक है। इसी लिए “वसुधैव कुटुम्बकम्” शब्द का आविष्कार आवश्यकता के अनुरूप इसी धरती पर हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि पौराणिक काल में राक्षसों से घृणा एवं देवों से प्रेम, पूजा का जन्म हुआ। जो कालान्तर में बढ़ता ही गया। महाभारत के वन पर्व में मिलता है

“मनुना च प्रजाः सर्वा स देवासुर मनुषाः।

सृष्ट्याः सब लोकाश्च मन्त्रे गति पंचे गति॥”

यानी सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार बसे देवता, मनुष्य और असुर सब मनु की सन्तान हैं। जैसे कि आप जानते हैं कि कश्यप और उनकी पत्नियाँ अदिति और दिति से इनकी उत्पत्ति हुई है। अदिति से आदित्य, वसु, रुद्र, आदि। दिति से असुर। इसमें देवताओं को अलौकिक मानने का कौन-सा कारण है? कैसे ये सृष्टि के रचयिता एवं संचालक हो गये? कैसे असुर घृणा के पात्र? ये शब्द गुणवाचक हैं। वाल्मीकीय रामायण में भी लिखा है

“अमरेन्द्र मया बुद्धय प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो।

एक वर्णा समाभाषा एक रूपाश्च सर्वशः॥”

यानी “संसार भर में बसे सभी लोग मूल में एक ही जाति, एक ही भाषा और एक ही प्रकार के आचार-विचार वाले मनु के पुत्र हैं।” ये देश, काल, स्थिति के अनुसार आचार-विचार में परिवर्तित हुए।

कश्यप जी मरीचि प्रजापति के पुत्र थे। जो वर्तमान कश्मीर के भू-भाग में रहते थे, जिनका विवाह दक्ष की बड़ी पुत्री से हुआ। दक्ष के पुत्र उनके साथ नहीं रहते थे। अतएव कश्यप जी वहीं के भू-भाग में रहने लगे एवं कालान्तर में दक्ष की अन्य छोटी लड़कियों से भी शादी करते गये। इस तरह उनकी 13 पत्नियाँ हुईं। अदिति छोटी थी। कालान्तर में वह भू-भाग जिस सागर के तट पर था। वही कश्यप सागर (Caspian-Sea) कहलाया। वहाँ के पर्वत का नाम भी काकेशस पर्वत पड़ा। वहाँ के लोग ही कस्पीआई जाति कहलाये। जिनकी राजधानी हिरकेनिया थी। वहाँ जो नदी है वह दैत्य नदी कहलाती है। वह भी कैस्पियन सागर में गिरती है। दान्युब नदी भी वहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि कश्यप जी का परिवार जैसे-जैसे बढ़ा उनके पुत्र माँ के साथ अलग-अलग रहने लगे। जैसे दिति के लड़के दैत्य नदी तट पर एवं दनु के लड़के दैत्य दान्युब तट पर। दिति के बड़े लड़के का नाम कशिपु था जो बाद में हिरण्यकश्यप कहलाया। वह बड़ा होनहार एवं प्रतिभा-सम्पन्न था। सभी माताओं एवं छोटे भाइयों देव, दानव,

गन्धर्व, नाग का यथोचित भरण-पोषण भी करता था। भले ही वे अपनी-अपनी माँ के साथ अलग-अलग रहने लगे। पुराणों के ही अनुसार हिरण्यकश्यप की राजधानी हिरण्यपुरी थी। परिवार बढ़ने से अराजकता का आना स्वाभाविक है जिसे पुराणकारों ने अलौकिक बना दिया है। जिससे सत्यता विदा हो गयी है। एक कहानी बनकर आपके सामने रह गयी है। खैर धन की कमी के चलते एवं अपने भाइयों के विस्तार को देखकर बुद्धिमान हिरण्यकश्यप ने पहले पहल समुद्र-उल्लंघन किया। जिसे पुराणों में “समुद्र मन्थन” भी कहते हैं। उस पार जाते ही अपना अन्वेषण शुरू किया। जिसका परिणाम था “सोने की खदान”। जैसा कि पर्शिया के इतिहास में मिलता है। “हाईवे ऑफ द गोल्ड माइन्स ऑफ एशिया मैनर अर सीवाज” (High ways of the gold mines of Asia manor or Sivas) ईरान में एक कश्पियन राज्य भी है जहाँ कश्यप सागर भी है। यह समुद्र मन्थन यानी खोज पर्शिया के इतिहास जिल्द 1 से 25 तक में आप देख सकते हैं। (जब-जब इस तरह की खोज हुई हैं, इसे समुद्र मन्थन कह दिया गया)।

सोने की खदान मिलने की सूचना जब अदिति के पुत्रों यानी आदित्यों को मिली तो वे जलने लगे। किसी भी तरह उस पर अपना अधिकार जमाने की युक्ति निकालने लगे। आदित्यों में ज्येष्ठ वरुण थे जिन्हें पर्शिया के इतिहास में ब्रह्मा भी कहा गया है। उस समय देवपुरी भी वही थी। सभी आदित्यों ने मिलकर समुद्र का उल्लंघन किया एवं दैत्यराज पर सीधे आक्रमण कर दिया। जिस पर हिरण्यकश्यप को विश्वास ही नहीं हो रहा था। यह सम्भवतः सातवें मन्वन्तर के वहासत काल का समय रहा होगा। हिरण्यकश्यप ने अपना भाई समझ उनका स्वागत किया एवं उन लोगों को खदान के एक छोर पर रहने की सलाह दी। अपनी रक्षा के दृष्टिकोण से आगे रहा। परन्तु आदित्यों को यह भी मंजूर नहीं हुआ। फलतः एक रात्रि के अँधेरे में दैत्यों पर धावा बोल ही दिया। जिसे पुराणों में देवा-सुर संग्राम के नाम से जाना जाता है। इस तरह 12 (बारह) युद्ध हुए हैं। इन्हीं दिति से हिरण्यकश्यप एवं हिरण्यकश्यप की वंश परम्परा के अनुसार प्रथम विरोचन, बलि एवं बाणासुर हुए। ये सभी संस्कारवान रहे। अच्छे राजा हुए। दैत्य एवं दानव अत्यन्त वीर, बहादुर, वैभव से परिपूर्ण राजा हुए। इनके परिवार बड़े-बड़े भी हुए एवं सभी कौटुम्बिक जीवन बिताने वाले थे। भवन निर्माण के जनक भी यही थे। शिल्पकला के माने में इनका जोड़ नहीं था। एक यह भी कारण था कि देवता हर समय इनका राज्य छीनना, झपटना चाहते थे चूँकि उनमें अपना कोई खास पुरुषार्थ तो था नहीं, महत्वकांक्षी ज्यादा थे। इन्हें असुर असु +र। असु=प्राण, र=अर्पण करना। “प्राणों का असुः” यानी प्राणपति असुर कहा जाता था। प्राणिमात्र का पति, मालिक,

स्वामी। वह जो रक्षक हो, राजा हो, पिता तुल्य जो रक्षा का भार अपने कन्धे पर रखे हो। उन्हें असुर कहा गया। यह गुणवाचक शब्द है ऋग्वेद में कम-से-कम 100 बार असुर शब्द आया है। परन्तु घृणावाचक नहीं। घृणा तो पुराणों से शुरू होकर आती है। इसके खानदान में राजा बलि एवं बाणासुर भी देवराज इन्द्र बने हैं या देवराष्ट्र के अध्यक्ष बने हैं।

नाग

ये भी मानव की तरह ही हुए हैं। इनका भी वंश, परिवार, राज्य था। ये भी श्रेष्ठ एवं धर्मप्रवृत्ति के सबल सशक्त थे। पुराणों के अनुसार कश्यप की पत्नी कदुकी (कद्रु) से नाग लोगों का जन्म हुआ। ये नाग 26 भाई हुए। ये मेहनती एवं कर्मठ थे। इनके राज्य की सभ्यता एवं संस्कृति बहुत ही उच्च कोटि की विकसित थी। पुराणों में ही नागलोक का वर्णन स्वर्ग लोक (देवलोक) से ज्यादा सुन्दर मिलता है। इस वंश में विद्वान एक-से-एक हुए। ये ज्योतिषी, भूगर्भ शास्त्री, पिंगलशास्त्री, वेद के ज्ञाता, व्याकरणाचार्य भी हुए। इनकी कन्याओं का सम्बन्ध सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश दोनों में मिलता है। ये अपने भाई आदित्य (देवगण) से हर माने में बढ़-चढ़कर आगे थे। इनमें चारित्रिक दोष नहीं था। इसी से इनकी कन्याओं का सम्बन्ध मनुवंशी (मानव) से भी ज्यादा हुआ है। पता नहीं कब एवं क्यों पुराणकर्ता इन्हें सर्प बना दिए। परन्तु इनकी पत्नियों एवं कन्याओं को सर्पिणी बनाना भूल गये। इनके खानदान में प्रमुख राजा हुए तक्षक, धनंजय, वासुकी, शेष, आदि जिनका नाम हुआ। इनका राज्य भारत में सप्त सिन्धु प्रदेश से लेकर नर्मदा नदी तक स्थापित हुआ। अब आपको स्पष्ट हो गया होगा कि नाग भी मानव के सदृश ही हैं। वाल्मीकीय रामायण में भी मिलता है। रावण ने भोगवती जाकर वासुकी राजा को युद्ध में परास्त किया एवं तक्षक की पत्नी का हरण कर लाया। जिसके बाद अपने वंश में शादी भी की।

देव गण

जैसा कि पूर्व में भी देवगण के सम्बन्ध में चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ इनका परिचय करा देना उचित समझा जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं हो। ये भी मनुष्य की तरह ही हैं। ये भी मरण-धर्मा हैं। इनमें चरित्र नाम की कोई चीज नहीं है। ये सदैव छल-कपट का सहारा लेते, अकर्मण्य रहते, दूसरे का धन-सम्पत्ति, वैभव देखकर जलते एवं येन-केन प्रकारेण उसे हस्तगत करना चाहते। इसी से ये कभी दानव से सम्बन्ध करते तो कभी मानव से, तो कभी नाग, यक्ष से। इनकी नीति चिर-स्थायी नहीं है। ये सुरा (शराब) का पान करते इसी से इन्हें सुर भी

कहते हैं। ये कश्यप की अदिति से जन्म लिए हैं। ये 33 समूहों में थे। इसी से इन्हें 33 करोड़ भी कहते हैं। ये जन-समूह आदित्य 12, रुद्र 11, वसु 8, अन्य 2 इस प्रकार ये 33 जनसमूह हुए। ये कश्यप की पत्नी अदिति जो दक्ष प्रजापति की पुत्री थी की सन्तान ही आदित्य कहलाये। ये ही आगे चलकर देव की संज्ञा पाये।

देव शब्द का दो अर्थ होता है। ये दिव् धातु से बना है। दिव् यानी चमकना, उज्ज्वल होना। सूर्य चमकता है, पूरे विश्व को प्रकाशित करता है। इसके प्रकाश से चन्द्रमा भी चमकता है जो शीतलता प्रदान करता है। अतएव ये देव या देवता हुए। परन्तु वे जो पौराणिक पात्र हैं। वे ऐसे नहीं हैं। हालांकि पुराणवेत्ता सूर्य-चन्द्रमा एवं तारों से भी इनका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करते हैं। इसी तरह देवलोक, देव का अर्थ तो समझ ही गये। लोक यानी लोक्यतेऽसौ लोक्। धञ् अर्थात् संसार, दुनिया। इस तरह इसका अर्थ हुआ चमकने वाली वस्तु की दुनिया को ही देवलोक कहते हैं। अन्तरिक्ष ही देवलोक कहा जा सकता है। आकाश में देवलोक की कल्पना की जाती है। परन्तु ये पौराणिक देवगण। इनका भी जन्मस्थल वही है जो दानवों का है। कश्यप तट। प्रथमतः देव लोक भी यही था। बार-बार दानवों से संघर्ष करते एवं महत्वाकांक्षावश ये भी आगे बढ़े एवं देवलोक अन्य जगहों पर निर्माण किये। जैसे उर्वशी नामक अप्सरा उर की निवासी थी। उर ईरान में है। जिसका उत्खनन भी हुआ है एवं 5000 वर्ष पूर्व की सभ्यता का भी पता चलता है। देवता, वरुण एवं मित्र भी वर्तमान ईराक तथा ईरान के निवासी थे। वशिष्ठ की माता उर्वशी थी एवं पिता मैत्रावरुणी जिन्हें ब्रह्मा भी कहा गया है। अगस्त्य एवं जरथ्रोस्त भी उर्वशी के ही पुत्र हैं। देवताओं में विवाह की प्रथा नहीं थी। इन्द्र, ब्रह्मा, विवस्वान, वरुण, कामदेव की पत्नी का उल्लेख मिलता है। परन्तु अन्य देव सब वेश्याओं के साथ स्वच्छंद थे। इनका जीवन भी भोग प्रधान था। परन्तु भारत भूमि में आने के लिए हर समय ललायित रहते थे। किसी तरह जब इनका भारत भूमि के मानवगण से सम्बन्ध हुआ। तब इन्होंने ईरान से अपना निवास यानी स्वर्ग को “त्रिविष्टप” पर स्थापित किया। इसे वर्तमान में तिब्बत के नाम से जानते हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम का भाग उस समय ईलावर्त कहलाता था। गिलगित के समीप एशियाई रूप का दक्षिण-पश्चिम भाग और ईरान का पूर्वी भाग ही ईलावर्त के अंग थे। यहीं कश्यप की पत्नी अदिति एवं उनकी आदित्य संतानें रहती थीं जिसके बंटवारे को लेकर भी युद्ध हुआ है। जिसे देवासुर संग्राम भी कहा गया। पुराणों में सुमेरु पर्वत का नाम आया है जो अपभ्रंश होकर समरकन्द हो गया है। परन्तु महाभारत काल में देवगण त्रिविष्टप में आ गये। रामायण काल में ही इन्होंने त्रिविष्टप आना शुरू कर दिया था। दैत्यों की कला

शिल्प देख कर इन्होंने अपने प्रमुख कलाकार विश्वकर्मा से स्वर्ग का निर्माण शुरू करा दिया। इसके लिए धन की जरूरत पड़ती तो धन हरण करने हेतु ये दैत्यों से छीना-झपटी करते जिसे देवासुर संग्राम कहा गया है। इसी के समकक्ष इन्द्र ने लंका का भी निर्माण कराया था जहाँ का राजा कुबेर को बनाया गया। यहाँ यह भी ज्ञात होता है कि लंका पूर्व में भी रावण के नाना माली, सुमाली, माल्यवान लोगों का राज्य था। जिसे देवगणों ने युद्ध में धूर्तता से छीन लिया।

इस तरह हम देखते हैं कि देव संस्कृति एवं मानव संस्कृति साथ-साथ उदय हुई एवं विकसित हुई। परन्तु ये देवता भी इस जम्बूद्वीप (भारत) में जन्म लेने के लिए भगवान् से प्रार्थना करते रहते थे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे अपने स्थान (लोक) से, अपने कर्मों से, अपने आहार-व्यवहार से अन्त तक सन्तुष्ट नहीं रहे। इसी से सम्भवतः विष्णु पुराण में लिखा है

**“अत्रापि भरतं श्रेष्ठ जम्बुद्वीपे महामुनें।
यतो हि कर्म भूरेषा हतोऽन्या भोग भूमवः॥
अत्र जन्म सहस्राणं सहस्रैरपि सत्तम्।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुषं पुण्यसंचयात्॥”**

हे महामुने। इस जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि यह कर्म भूमि है। एवं अन्य भोग भूमियाँ हैं। जीव के सहस्रों जन्मों के अनन्त महान पुण्य का उदय होने पर कभी इस भारत वर्ष में मनुष्य जन्म होता है।

इसी से देवगण आगे कहते हैं, इसी पुराण में यथा:

**“गायत्री देवाः किल गीत कानि, धन्य स्तुते भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गा स्पदमार्ग भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुस्वात्॥
कर्मण्य संकल्पित फलानि, सन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाण्य तां कर्म महीमनन्ते, कस्मिंल्लयं ये त्वमलाः प्रथान्ति॥”**

देवगण निरन्तर यही कहा करते हैं कि स्वर्ग और अपवर्ग के मार्ग भूत-भारतवर्ष में जन्म लिया है तथा जो इस कर्मभूमि में जन्म लेकर अपने फलांकाक्षारहित कर्मों को परमात्म शक्ति को अर्पण करने से निर्मल होकर उस अनन्त में ही लीन हो जाते हैं। वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं।

देवगणों ने अपने को सदा भारत के मानव से दीन-हीन समझा है। इसी से वे आगे कहते हैं

**जानीम नैतत्त्व वयं विलेने, स्वर्ग प्रदे कर्मणि देहबंधम्।
प्राप्त्याम धन्याः खलु ते मनुष्या, ये भारते नेन्द्रिय विप्रहीनाः॥**

वे देवगण पश्चात्ताप की भाषा में कहते हैं। पता नहीं अपने स्वर्गप्रद कर्मों का क्षय होने पर हम कहाँ जन्म ग्रहण करेंगे। धन्य हैं वे ही मनुष्य जो भारत भूमि में

इन्द्रियों की शक्ति से हीन नहीं हुए हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मानव इन्द्रिय संयम करते थे एवं देवगण संयम नहीं करने की वजह से शरीर शिथिल होने पर मृत्यु के करीब पहुँचने पर आर्त-दीन होकर पश्चात्ताप करते हैं। इस विवेचना से आप समझ गये होंगे कि देवगण इसी पृथ्वी पर रहे, कहीं अन्यत्र नहीं। अथर्व वेद में 11.5.19 एवं 4.11.6 के ऋचा में स्पष्ट है कि वे पृथ्वी के ही निवासी थे। इसी तरह ऋग्वेद वेद के 10.22.10 में भी कहा गया है कि जो ग्रह एवं नक्षत्र हैं वे चमकीला पदार्थ (नक्षत्र) ही हैं ऐसा ही मानना चाहिये न कि उन्हें देवगण। मनुष्य के लिए भी देवशब्द आया है परन्तु वह प्रकाशवान, चरित्रवान यानी गुणवाचक के रूप में आया है जैसे ऋग्वेद के ही 11.12.12 में मनुष्यों को (मनु की सन्तान को) प्राचीन समय में देव कहते थे। जैसे ऋग्वेद ही कहता है 1.11.23 एवं 10.77.2 में कि ऋभु और मरुत पहले मनुष्य ही थे परन्तु ये अपने कर्मों से ही देवत्व को प्राप्त हो गये। यहाँ भी इसे गुणवाचक समझना श्रेयस्कर होगा।

रामायण में देवता की महत्ता

संत तुलसी दास भगवान राम को पूर्ण ब्रह्म का अवतार मानते हैं। जिनकी प्रार्थना इन्द्र, ब्रह्मा, शिव के द्वारा की जाती है। बार-बार देवता गण मनुष्य शरीर के लिए इच्छा व्यक्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रक्ष, यक्ष, नाग, एवं देव योनि से मानव योनि ही सर्वोत्कृष्ट है। सरस्वती जी कहती हैं **“ऊँच निवासु नीचि करतूती। देख न सकहि पराइ विभूती।”**

अर्थात् देवताओं की बुद्धि ओछी है। इनका निवास तो ऊँचा है परन्तु इनकी करनी नीची है। ये दूसरे का ऐश्वर्य नहीं देख सकते हैं।

जब साधक अपने साधना पर निकलता है, तब देवता सोचते हैं कि यह जीव हमारे बंधन से मुक्त हो रहा है। परम पिता परमात्मा के तरफ जा रहा है तब वे अपने कल-बल-छल से उन्हें साधनाच्युत करते हैं। फिर मरकट के तरह नचाते हैं। साधक फिर उनकी ही प्रतिमा बनाकर उनका पूजा-पाठ करता है। जन्मों जन्म के लिए वह भटक जाता है। मूलाधार चक्र पर ही गणेश हैं। उनकी पत्नी ऋद्धि-सिद्धि, पुत्र शुभ-लाभ हैं। संसार के लोग इन्हीं के चक्कर में रहते हैं। ये प्रथम चरण में ही सहज सुलभ हो जाते हैं। इसी से इनका स्थान मल-मूत्र पर दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि इन ऋद्धि-सिद्धि को मल-मूत्र के तरह त्याग कर आगे की यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए। इसके ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र पर ब्रह्मा का स्थान है। माँ सरस्वती है। जो काम (वासना, Sex) का क्षेत्र है। आप विद्वता तो ग्रहण कर

लेंगे। परन्तु काम के दल-दल में गिर जायेंगे। अक्सर विद्वान व्यक्ति इस चक्कर में फँसता है। इस जगत में जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ा है, वैसे-वैसे ही नैतिकता का, चाल चरित्र-चिंतन का पतन हुआ है। तुलसी दास के शब्दों में हम देखें

‘रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई।

कल बल छल करि जाहि समीपा। अंचल बात बुझावहि दीपा।’

अर्थात् हे भाई। वह बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियों को भेजते हैं, जो आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं। वे सिद्धियाँ कल, बल, छल करके समीप आती हैं और आँचल की वायु से साधक के ज्ञान रूपी दीपक को बुझा देती हैं।

यदि साधक इन ऋद्धि-सिद्धि से बच गया तब **“तो बहोरि सुर कहि उपाधी।”** देवता लोग विभिन्न प्रकार का विध्न पैदा करते हैं। जैसे

इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।

आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उधारी।

अर्थात् इन्द्रियों के द्वार रूपी घर के अनेकों झरोखे हैं। बाह्य प्रत्येक झरोखे पर देवता स्थान किये बैठे हैं। ज्यों ही वे विषय रूपी हवा को आते देखते हैं, त्यों ही हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं। मेरी समझ से देवताओं के राजा इन्द्र हैं। इन्द्र से इन्द्रिय बना है। अर्थात् जो अपने इन्द्रियों के रसास्वादन में ही मस्त रहता है वही है इन्द्र। जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा आचरण करती है।

‘जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहि दीप विग्यान बुझाई।

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।’

अर्थात् ज्यों ही वह तेज हवा हृदय रूपी घर में जाती है, त्यों ही वह विज्ञान रूपी दीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं छूटी और वह आत्मानुभव स्वरूप प्रकाश भी मिट गया। विषय रूपी हवा से बुद्धि व्याकुल हो गई। सारा किया कराया चौपट हो गया।

“इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई।

विषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि विधि दीप को बार बहोरी।”

अर्थात् इन्द्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं सूझता है। क्योंकि उनकी विषय भोगों में सदा ही प्रीति रहती है और बुद्धि को विषय रूपी हवा ने बावली बना दिया। तब फिर दुबारा उस ज्ञान दीपक को उसी प्रकार कौन जलावे।

“तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावई संसृति क्लेश।

हरि माया अति दुस्तर तरि न जाई बिहगेसा।”

अर्थात् तब फिर जीव अनेकों प्रकार से जन्म-मरणदि के क्लेश पाता है। हे पक्षि राज। हरि की माया अत्यन्त दुस्तर है। वह सहज ही में तरी नहीं जा सकती।

इससे आपको देव चरित्र का सहज ही अनुमान लग सकता है। इसी से कबीर साहब कहते हैं

“तीन लोक चौदह भुवन में, गुरु से बड़ा न कोय।

कर्ता करै न कर सकै; गुरु करै सो होय।”

मानव संस्कृति गुरु पर आधारित है। बिना गुरु के ज्ञान असम्भव है। आप तप द्वारा ब्रह्मा शिव के समतुल्य हो सकते हैं परन्तु इस संसार रूपी सागर से पार उतरना अत्यन्त दुरूह है।

आर्य

यह शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है। भारत भूमि के लोग ही आर्य कहलाये। जिससे इसका नाम आर्यावर्त भी पड़ा। यहाँ के जनसमूह श्रेष्ठ, संस्कारी, चरित्रवान, बुद्धिमान, संयमी थे। अपनी गुणवत्ता पर ही जगद्गुरु कहलाये। इनके पौरुष को देखकर ही देव, दानव, नाग सब इनसे सम्बन्ध बनाकर रखना चाहते थे। इसी से इनसे कोई खास युद्ध नहीं हुआ है। बल्कि दानव एवं नाग दोनों ही वैवाहिक सम्बन्ध कायम करना चाहते थे और किया भी है। उस समय जाति शब्द नहीं था अतएव इस तरह का कलुषित विचार लोगों के मन में नहीं आया। जाति शब्द रामायण काल में आ गया प्रतीत होता है परन्तु इसके चलते द्वेष या बड़े-छोटे का भान नहीं होता है। नहीं तो वेश्या (उर्वशी) पुत्र वशिष्ठ, स्वपच पुत्र वाल्मीकी, निम्नवर्गीय (भीलनी) शबरी को वह सम्मान नहीं मिलता, जो मिला है। यह भेद महाभारत काल में कुछ उभर कर आया है। द्रोणाचार्य के द्वारा एकलव्य को अपमानित कराकर। परन्तु कृष्ण हथियार त्यागे हुए, ध्यान किये हुए द्रोणाचार्य का सिर कटवाकर इस व्यवस्था को वहीं दफन कर देते हैं। विदुर को वह सम्मान दिया जो उस समय के किसी भी तथाकथित कुलीन को सम्भव नहीं हुआ। यह तथा कथित जाति बुद्ध के समय भी कुछ आयी परन्तु बुद्ध के द्वारा इसे दफन कर दिया गया। परन्तु शंकराचार्य ने इसका पुनः बीज बो दिया। अब यह जातिरूपी बीज विशाल हो गया है एवं विषैला फल भी आने लगा है जिन लोगों ने इस बीज वृक्ष में जल डालकर सींचा, बड़ा किया वे फल खाने से अब पीछे के दरवाजे से भाग रहे हैं। यह फल उनका पीछा कर भी रहा है। अभी तो ज्ञात होता है कि अवतारों की धरती, बुद्धों की धरती (पूर्वांचल) इस विष वृक्ष से आबद्ध हो गयी है। इसके फल एवं वृक्ष भारतभूमि में तेजी के साथ दावगिन के समान फैल रहे हैं। यदि समय रहते इसे समाप्त नहीं किया गया तो सारा राष्ट्र ही इसके कारण मृत्यु के मुँह में स्वतः पहुँच जायेगा। हम अपने आदर्श से भटक गये हैं। रास्ता भूलकर देवगण का ही तो कहीं रास्ता नहीं पकड़ लिए हैं। इसे रोकने के लिए कबीर, नानक, दादू,

पलटु, रैदास, दरियादास ने अथक प्रयास किया जिसका परिणाम था कुछ काल रुक या कुछ पीछे हट गया, परन्तु समय पाते ही पुनः अबाधगति से बढ़ने लगा। आइए अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानिये एवं अपने में सशक्त बनिये, राष्ट्र अपने आप सशक्त बन जायेगा, तब पृथ्वी को भी सुन्दरतम बनने का अवसर उपलब्ध हो जायेगा।

आर्य शब्द गुणवाचक है। इससे श्रेष्ठता, महानता का बोध होता है। यह संस्कृत के ऋ+ण्यत् से बना है। यानी आर्यन या आर्य। जिसका अर्थ है आदरणीय, कुलीन, सम्माननीय, उच्चस्तरीय, योग्यतम। समयानुसार ऋषिगणों ने इसके अर्थ को भी प्रतिपादित किया है।

बाल्मीकि रामायण में श्रेष्ठता के सन्दर्भ में राम के लिए आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। गौतम ने अपने धर्मसूत्र में सदाचारी के अर्थ में प्रयोग किया है। महाभारत काल में अत्यन्त धार्मिक होने के सम्बन्ध में आर्य शब्द का प्रयोग विदुर जी किये हैं। महाभारत में ही उत्तम राजकुमार को “आर्यमति” विशेषण लगाया जाता है। जो श्रेष्ठ संस्कारी, बुद्धिवाला से सम्बन्ध रखता है। अर्जुन के कायरता को प्राप्त होने पर कृष्ण के द्वारा उनकी वृत्ति को अनार्य की वृत्ति कहा गया है। भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि जिनका चरित्र एवं व्यवहार उदार हो, संकीर्णता से ऊपर हो, जीवन संयमित नियमबद्ध हो, आचार-विचार श्रेष्ठ हो वही आर्य हैं। इसके विपरीत चरित्र को अनार्य कहते हैं।

चाणक्य गुणवान को आर्य कहते हैं, तो अमरकोश सभ्य, शिष्ट, धर्म, ज्ञान-कर्म विज्ञान, आचार-विचार, शील एवं स्वभाव से श्रेष्ठ को आर्य कहते हैं।

आर्य की भूमि

पुराणों एवं वेदों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आर्य बहुत दूर तक फैले थे। अभी सिकुड़ गये हैं। आर्यों का कार्य क्षेत्र या आर्यावर्त उत्तर कुरु (सुमेरू से ऊपर) से लेकर पश्चिम में वर्तमान ईरान, इराक, सीरिया, असीरिया, इजिप्त, अरब स्थान (अर्बस्थान), नेपाल, भूटान तक फैला है। इन्हीं प्रदेशों में प्रियव्रत उत्तानपाद से लेकर सातवें मन्वन्तर तक ने राज किया। अत्रि का भी निवास ईरान में ही था। जिससे चन्द्रवंश फैला। अभी भी इस्लामी देशों में चन्द्रमा एवं उनके लड़के तारा (बुध) की पूजा करते हैं। यानी वे चन्द्रवंशी ही हैं। समयानुसार उन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया। इसी तरह मैत्रावरुण के नाम पर मित्र से मिश्र बना। जहाँ विवस्वान (सूर्य) और उनके वंशधरों का राज्य था। विवस्वान के ही पुत्र थे शनि। शनि ने मिश्र से ग्रीस तक अपना राज्य विस्तार किया। अभी भी ग्रीस में शनि की

उपासना होती है। ग्रीस का पहला दिन भी शनिवार ही है। वहाँ के इतिहासकार शनि को ही अपना मूलपुरुष मानते हैं। उनकी कथाएँ कहानियाँ शनि से ही शुरू होती हैं। इसलिए मालूम होता है कि ये लोग शनि के वंशज हैं अतएव सूर्यवंशी हैं।

चन्द्रवंश एवं सूर्यवंश से ही पूरे मानवगण फैले। चन्द्रवंश का फैलाव ज्यादा हुआ। इस वंश के कई लोग देवराष्ट्र को जीतकर देवेन्द्र भी बने थे। राजा रजि, नहुष, इत्यादि चन्द्रवंशी देवराष्ट्र के राष्ट्राध्यक्ष बने एवं आर्यावर्त की सीमारेखा का विस्तार बर्मा, चीन के पश्चिमी भाग एवं तिब्बत तक किया। सूर्यवंश के राजा कैकय, (कैकय देश वर्तमान ताशकन्द रूस) की लड़की थी कैकेयी। कैकय देश देवलोक ही था। उसी सम्बन्ध के चलते सम्भवतः दशरथ जी को देवासुर संग्राम में जाना पड़ा। श्रीराम का भी बनवास का कारण वही देवगण हुए। सूर्यवंश में ही जनकपुर भी आता है। कालान्तर में सूर्यवंशीयों ने अपनी राजधानी अयोध्या बनायी। अयोध्या के राज में भी एक-से-एक प्रतापी चरित्रवान, शक्ति सम्पन्न एवं राष्ट्रभक्त हुए हैं। सगर, भागीरथ, ध्रुव, ऋषभ, पृथु, भरत, हरिश्चन्द्र, रोहित, दशरथ एवं राम हुए। जिनके इतिहास पुराणों में भरे पड़े हैं। इसी वंश के राजा जनक भी थे। इसी से वैवाहिक सम्बन्ध भी था। ऋषभ देव जैनियों के आदि तीर्थंकर हुए एवं जैनियों के 24 तीर्थंकर सबके सब क्षत्रिय वंश में ही अवतरित हुए, जिसमें से अधिकांश सूर्यवंश के ही थे। इसी तरह बौद्धों के भी 24 तीर्थंकर हुए हैं। वे सभी इसी वंश से आये हैं। यह विचित्र घटना है कि दोनों तीर्थंकर एवं दोनों के 24-24 तीर्थंकर, सब राज परिवार एवं ज्यादा सूर्यवंश में ही जन्म लिए। अन्तिम महावीर एवं बुद्ध भी इसी वंश के थे। सांख्य योग के प्रवर्तक भगवान् कपिल का अवतार भी इसी वंश से है। हिरण्यगर्भ भगवान् अष्टांग योग का आदि प्रवर्तक, जो योग पातंजलि में है। वे भी इसी वंश के हैं।

सौदास और वशिष्ठ

इस वंश के पुरोहित शुरू से वशिष्ठ रहे। परन्तु यह याद रखना होगा कि क्या एक ही वशिष्ठ या विश्वमित्र सदा से रहते हैं। ऐसा नहीं, इनकी वंश परम्परा थी। जैसे आदि शंकराचार्य पैदा हुए एवं अपनी अल्पावस्था में ही शरीर छोड़ दिया, परन्तु अभी तक उनकी गद्दी पर बैठने वाले शंकराचार्य ही कहलाते हैं। उसी तरह इनकी गद्दी पर बैठने वाले एवं उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उसी नाम से पुकारे गये। ये चाहे वशिष्ठ हो या विश्वमित्र, अत्रि हो या भारद्वाज या गौतम। ऐसा इतिहास नहीं मिलता कि कहीं भी वशिष्ठ ने इस वंश के लिए शुभ किया हो।

पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि शुरु से ही इस वंश के राजाओं का वशिष्ठ वंशीय पुरोहितों ने किसी-न-किसी रूप में प्रताड़ित कर दोहन ही किया है। जो राजा इनके चंगुल से छूटना चाहता वह दण्ड (श्राप) का भागी बनता। जैसे भागीरथ की नौवीं पीढ़ी में राजा सौदास हुए हैं। जो सुदास के पुत्र थे। इन्हें ही मित्रसह के नाम से पुराणों में जाना जाता है। चूँकि प्रजा से इनका मित्रवत सम्बन्ध था। इनकी पत्नी दमयन्ती भी अत्यन्त शील, सुशीला एवं पतिभक्त थी। राजा ने प्रजा के सुख में खलल डाल रहे एक देवगण (जिसका कर्म अत्यंत नीच का था। अतएव उसे राक्षस (घृणा वाचक) भी कहते थे) को मार डाला। जिससे वशिष्ठ का क्रोधित होना स्वाभाविक था। उस राक्षस का भाई राजा से बदला लेने के लिए राजा सौदास के घर रसोईया बनकर आ जाता है। वशिष्ठ भी राजा के घर भोजन करने आते हैं। थाली में खाद्य पदार्थ (माँस) रखा जाता है। वशिष्ठ खाने को उद्यत होते हैं। पूर्व सूचना के अनुसार या देववाणी (आकाशवाणी) के द्वारा उन्हें मालूम होता है कि वह अभक्ष्यमांस (भक्ष्य मांस नहीं) है। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार

“परिवेक्ष्यमाणं वशिष्ठ विलोक्याभक्ष्यमंजसा।

राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षा होमं भविष्यसि॥”

वशिष्ठ जी अत्यन्त क्रोधित हो जाते हैं एवं पूछताछ की कोई आवश्यकता नहीं समझते। झट श्राप दे देते हैं जा तू राक्षस (शूद्र) हो जा। जब राजा को इस श्राप के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो तुरन्त इसका कारण पता किया। तब वशिष्ठ जी से सौदास नम्रतापूर्वक बोले- हे ऋषिवर! आप कहते हैं कि आप त्रिकालदर्शी हैं। आपको यह ज्ञात नहीं हुआ कि भोजन बनाने वाला, आपको खिलाने वाला आपका ही कोई गण है। आप हमें श्राप दिए हैं अतएव आप भी श्राप के पात्र हैं। राजा हाथ में जल लेकर अभिमंत्रित किये तब तक धर्मज्ञ दमयन्ती विनयपूर्वक कहती है हे पति! क्रोध करना उचित नहीं। एक तो ऋषिवर अपने को महात्मा कहते हैं एवं बात-बात पर क्रोध करते हैं। इन्हें तो कई पत्नियाँ हैं। कितने पुत्र भी हैं। (श्रीमद् भागवत पुराण में तीन पत्नी का नाम मिलता है एवं 103 पुत्रों के सम्बन्ध में भी ज्ञात होता है) परन्तु यहाँ तो आप और मैं ही हूँ। अतएव आप इन्हें क्षमा कर दें। बड़ों को क्षमा ही शोभा देता है। छोटों को क्रोध एवं उत्पात। अतएव हे धर्मज्ञ! आप इन्हें क्षमा कर दें। राजा सौदास के जल अभिमंत्रित करने मात्र से पृथ्वी कांप उठी थी। देवगण भयभीत हो भाग चले थे। पशु-पक्षी भयभीत एवं अशान्त हो गये थे। पूरे वातावरण को भयभीत देख सौदास कहे कि यह जल कहाँ छोड़ू। जहाँ भी फेंकूँगा, वहाँ का नाश हो जायेगा। वे अत्यन्त करुणावस्था में,

लोकहित में, मंगल की कामना से जल को अपने ही पैर पर छोड़ देते हैं, जिससे उनका पैर तुरन्त काला हो जाता है। जिससे उनका नाम “कल्माषपाद” पड़ा। ये अपना श्राप भी अपने ऊपर ले लिए। तब वशिष्ठ जी लज्जित होकर इनका श्राप 12 वर्ष तक कर दिए। यह तो बात ठहरी ब्रह्मर्षि जी की। पता नहीं कैसे इन्हें अक्रोधी, अकामी, इन्द्रियों को पूर्णरूपेण अपने वश में किये हुए ब्रह्मर्षि कहते हैं। जबकि अपने भाई जरश्रुस्त को जो युनान का पैगम्बर भी कहा जाता था, की भी हत्या कराये थे। खैर हो सकता है ब्रह्मर्षि की यही परिभाषा रही हो।

राजा नेमि और वशिष्ठ

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी का उत्पात एक से बढ़कर एक है। जो आपको पुराणों को आँख खोलकर पढ़ने पर, अपने आप ज्ञात हो जायेगा। इक्ष्वाकु के पुत्र थे राजा नेमि। जो अत्यन्त धर्मात्मा एवं गुणवान थे। इनके धर्म, चरित्र एवं राज्य करने के ढंग से देवता तथा दानव दोनों में जलन होना स्वाभाविक था। ये यज्ञ अपने ढंग से शुद्ध सात्विक किया करते थे। राजा “नेमि” ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। जिसका समय व तिथि निश्चित कर वशिष्ठ को भी आमन्त्रित किया। वे निमन्त्रण स्वीकार किये। जिस यज्ञ में वशिष्ठ को ऋत्विज बनाये थे। वशिष्ठ जी यज्ञ के समय देवलोक चले गये। देवेन्द्र का यज्ञ कराने। इधर राजा नेमि धर्मात्मा व्यक्ति जो ठहरे। सोचने लगे शरीर क्षणभंगुर है। कब नष्ट हो जाये, कुछ पता नहीं यज्ञ शुरू करा दिया जाये। वशिष्ठ जी के आने पर उन्हें भी दक्षिणा दे दी जायेगी। यज्ञ प्रारम्भ हो गया। इधर वशिष्ठ जी यज्ञ के मध्य में ही आ गये। जब उन्होंने देखा कि मेरे बिना ही यज्ञ शुरू कर दिया, अतएव हमें तो दक्षिणा मिलेगी नहीं। वे अत्यन्त क्रोधित हो श्राप दे बैठते हैं

“शिष्य व्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः।

अशपत् पतताद देहो निमेः पण्डिमानिनः॥”

“नेमि को अपनी विचारशीलता और पाण्डित्य का बड़ा घमण्ड है, इसलिए शरीरपात हो जाये।” (श्रीमद् भागवत पुराण)

प्रत्युत्तर में नेमि भी श्राप दे दिए

“निमः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने।

तथापि पतताद् देहो लोभाद् धर्मम जानतः॥”

“नेमि ने कहा गुरु वशिष्ठ यह श्राप धर्म अनुकूल नहीं था, प्रतिकूल था। अतएव उन्होंने भी श्राप दिया कि आपने लोभवश अपने धर्म का आदर नहीं किया, इसलिए आपका भी शरीर गिर जाये। यह कहकर आत्मविद्या में निपुण नेमि

ने स्वतः शरीर छोड़ दिया।” इधर वशिष्ठ को भी श्रापवश शरीर छोड़ना पड़ा परन्तु बिना शरीर के वे नहीं रह सके। चूँकि निम्न एवं मध्यम आत्माएँ एक क्षण भी बिना शरीर के नहीं रह सकतीं। अतएवं पुनः वे मित्रावरुण एवं उर्वशी के संयोग से जन्म ग्रहण कर ही लिए।

वशिष्ठ का पुनर्जन्म

ऋग्वेद जो आदि ग्रंथ है। उसमें लिखा है-

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या । (7:13:11)

अर्थात् मित्र और वरुण के द्वारा उर्वशी से वशिष्ठ पैदा हुए।

पुराण में लिखा है

गणिकागर्भ सम्भूतो वशिष्ठरच महामुनि तपसा,

ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणमा॥

अर्थात् महामुनि वशिष्ठ गणिका (वेश्या) के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और तप के द्वारा ब्राह्मण हुए।

यही वशिष्ठ राजा दशरथ के पुरोहित थे। वशिष्ठ का अर्थ है जिसके वश में हो देवता। अपने तपोबल से सभी देवताओं को वश में कर लिए थे। इसका दूसरा अर्थ यह भी होगा कि जिसके वश में हो इष्ट अर्थात् राजा। सूर्यवंशी राजा इसके वश में रहते थे।

इनके पूर्व जो वशिष्ठ थे उनका जन्म ब्रह्मा एवं उर्वशी से हुआ था। दूसरा जन्म मित्र अर्थात् सूर्य एवं वरुण दोनों से। दोनों क्षत्रिय राजा थे। माँ गणिका थी।

छांदोग्य उपनिषद के अ. 3; खण्ड 4 में लिखा है

राजा नेमि के यज्ञ में आए महात्मा ऋषिगणों ने उनके शव को पुष्प एवं सुगन्धित वस्तु में रख सत्रयज्ञ की समाप्ति की। सभी ऋषि महात्मागण यह जानते थे कि राजा नेमि ने शरीर स्वयं परित्याग किया है अतएव प्रार्थना करने पर पुनः शरीर में प्रवेश कर जायेंगे। सभी प्रार्थना करने लगे कि हे महाराज अभी आपको कोई पुत्र नहीं था। आपके नहीं रहने पर राज्य का भार कौन ग्रहण करेगा। सारी प्रजा बिना आपके मर जायेगी। आप प्रसन्न होवें, शरीर में पुनः प्रवेश करें। जी उठें। यह सुनकर नेमि बोले

“राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवोयदि।

तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहवन्धनम्॥”

मुझे देहबन्धन नहीं चाहिये। आगे वे कहते हैं एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य ही छूटेगा। इस भय से भयभीत होने के कारण वे इस शरीर का कभी संयोग नहीं चाहते। वे तो मुक्त होना ही चाहते हैं। अतएव

“देहं नावरुरुसेऽहं दुःख शोक भयावहम् ।

सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्भत्स्यानामुदके यथा॥”

मैं अब दुःख, शोक और भय के मूल कारण इस शरीर को ग्रहण नहीं करना चाहता। जैसे जल में मछली के लिए सर्वत्र ही मृत्यु के अवसर हैं वैसे ही इस शरीर के लिए भी सब जगह मृत्यु ही मृत्यु है।

जब वीतराग से भरे राजा ने शरीर धारण करने से इनकार कर दिया तब महर्षिगणों ने प्रार्थना की हे महाराज! आप हम लोगों के पलकों पर निवास करें जिससे आपके रहने का अहसास होता रहे। महात्मा ऐसी प्रार्थना कर सोचने लगे, राजा के न रहने पर राज्य में अराजकता फैल जायेगी। अन्त में विचार-विमर्श कर राजा नेमि के शरीर का मन्थन किया गया। आज विज्ञान भी इसमें सक्षम हो गया है कि कोई भी व्यक्ति यदि बिना पुत्र के मर जाता है तो उससे शुक्राणु निकालकर बैंक में सुरक्षित रख दिया जाता है तथा उसकी पत्नी को देकर पुत्र उत्पन्न कराया जाता है। सम्भवतः उनका विज्ञान इससे भी आगे बढ़ा हो। जो हो मन्थन करने से एक लड़के का जन्म हुआ। जन्म लेने के कारण ही उसका नाम जनक पड़ा। विदेह से उत्पन्न होने के कारण वैदेह और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण उस बालक का नाम मिथिल हुआ। उसी ने मिथिलापुरी बसायी। इसी से वहाँ के सब राजाओं का नाम जनक पड़ा। परन्तु वे विभिन्न नाम के जनक थे। आज जर्मनेटिक सेल एवं सोमेटिक सेल दोनों से विज्ञान बच्चा पैदा करने में सक्षम हो गया है। जबकि उस समय द्वारा पिता के शरीर मन्थन अर्थात् उनके सेल से ऋषियों द्वारा पुत्र पैदा किये गए। अतएव वे जनक कहलाये।

राजा जनक का वंश

जनक का खानदान निम्न प्रकार चला आदि जनक जो मन्थन से पैदा हुए थे, उनके लड़कों का नाम क्रमशः इस प्रकार है

जनक उदावसु नन्दिवर्द्धन सुकेतु देवरात वृहद्वथ महावीर्य सुश्रुति वृष्टकेतु हर्यश्व मरु प्रतीक कृतिरथ देवमीढ विश्रुत महाधृति कृतिरात महारोमा स्वर्णरोमा-रोमा जो दशरथ की पुत्री शान्ता को गोद लिए थे। इनके लड़के का नाम हस्वरोमा-सीरध्वज। इन्हीं के धरती रूपी यज्ञ के सिर से सीताजी का जन्म हुआ था। सम्भवतः इसी से राजा का भी नाम सीरध्वज जनक पड़ा। इसके बाद भी इनका खानदान चला। इन्हें मानो आत्मज्ञान विरासत में ही मिलता था। सभी के सभी राजा आत्मज्ञानी हुए। संन्यासियों, ब्राह्मणों के गुरु हुए। इनका ज्ञान अद्भुत था। ये शोक, मोह, रागद्वेष से रहित हुए। अतएवं इनका चरित्र उज्ज्वल एवं अनुकरणीय रहा। इनके पुरोहित गौतम वंशीय सदानन्द एवं याज्ञवल्क्य

शिव तंत्र ● 181

रहे। जो चन्द्रवंशी थे। परन्तु गुरु तो अपने पिता (जनक) को ही बना लेते थे। जिससे इन्हें सहज ही आत्मज्ञान उपलब्ध हो जाता था। क्योंकि इनका जन्म भी तो ऐसे ही महापुरुष के सान्निध्य से होता रहा कि पात्रता स्वयं आती गयी। अतएव आत्मज्ञान भी सहज होना स्वाभाविक रहा। आत्मज्ञान रूपी तंत्र को सहज ही हस्तांतरित किया जाता रहा। जिससे ये स्वयं सिद्ध होते रहे। अक्सर महात्मा के लड़के महात्मा होते हैं। कहीं उसका जिन यदि माँ के पक्ष का ही प्रबल हुआ तो उसके अनुरूप हो जाता है। परन्तु जनक तुल्य पिता, अत्रि तुल्यपिता, वसुदेव तुल्य पिता, राम कृष्ण तुल्य पिता के पुत्र तो अवश्य ही अपने आप में परम-श्रेष्ठ, श्री सम्पन्न, आत्मज्ञान से पूर्ण होने चाहिये। तभी तो बुद्ध के भी लड़के ने सहज संन्यास ग्रहण कर लिया एवं कबीर का कमाल तो अद्भुत कमाल का ही था। वह बचपन से ही कुछ माने में कबीर से भी बढ़-चढ़ कर आगे था। आत्मज्ञान तो उसे जन्म के साथ ही धरोहर स्वरूप प्राप्त हुआ था। गुरुनानक के पुत्र श्रीचन्द्र जी महाराज भी बेजोड़ हुए। जिनके नाम पर अभी भी उदासी अखाड़ा चलता है। इसी तरह अर्जुनसिंह देव भी थे। यदि ऐसे महापुरुष पुत्र उत्पन्न करते तो पृथ्वी अवश्य ही कुछ और होती। परन्तु दुखद घटना है कि शंकराचार्य के बाद अधिकतर लोग पुत्र उत्पन्न करने से भयभीत हो गये। परन्तु अभी भी जो संस्कारवान महात्मा थे, उन्होंने किये जैसे हंसा महाराज के पुत्र, सतपाल एवं बालयोगेश्वर। इसी तरह गायत्री के संस्थापक श्रीराम शर्मा जिनका पुत्र गायत्री संस्थान को सँभाले हुए है। गरीबदास पंथ प्रवर्तक धर्मदास, कबीर पंथ के आचार्य, मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ के गृह्य मुनिदास साहब, बलिया के सदाफल देव जी। इस तरह अभी इन लोगों के पुत्र तो औरों के तथाकथित ज्ञान से अच्छे एवं उच्च विचार वाले हैं। चूँकि इनका शरीर एवं ज्ञान दोनों ही सहज पिता के माध्यम से पुत्र तक पहुँचा है। अभी भारत का कुरूप होना, यहाँ के महात्माओं का कुरूप होना, भ्रष्ट होना, अनैतिक होना इसी का परिणाम है। आप ही जरा सोचो, गाय एवं पशु का तो अच्छे बीज देकर नस्ल सुधार होता है। परन्तु मानव जो इस पृथ्वी की धरोहर है, अमूल्य निधि है। उसको उत्पन्न करने का अधिकारी है चोर, गुण्डा, भ्रष्ट राजनेता, कोढ़ी, पागल, दरिद्र, दीन-हीन, अकिंचन व्यक्ति, तो कैसा बनेगा आज का समाज? कैसा बनेगा संन्यासी? चूँकि ये भी तो उसी के वंशज हैं। जैसे माँ-बाप वैसा पुत्र, वही पुत्र संन्यासी। परन्तु यह भी विचित्र विडम्बना है। आज का मानव सोचता है अमुक संन्यासी लोभी है, तो अमुक कामी। इत्यादि-इत्यादि मिथ्या धारणाएँ मानव के मन में चल रही हैं। वे कहते हैं संन्यासी तो हमसे बिल्कुल भिन्न होना चाहिये। आखिर कैसे? उसका भी जन्म सड़े-गले मानव मस्तिष्क से हुआ। रह भी रहा है उसी तरह

की झुग्गी-झोपड़ी में, किसी-न-किसी कष्ट में। किसी-न-किसी दुःख से वह भाग खड़ा हुआ। अपने जीने की राह खोज ली एवं रातों रात हो गया सिद्ध बाबा, नाग बाबा, खड़ेश्वरी बाबा, तपस्वी बाबा। जो बाबा जितना ही ढोंगी, मूर्ख वह उतना ही सिद्ध। अब मूर्खों के द्वारा पूजा होने लगी। विक्षिप्तों के द्वारा पूजित हो गया, मूर्खाधिपति। अब आप क्या उम्मीद करते हो उससे? क्या कर सकता है तुम्हारे लिए? तुम्हारे विश्व-परिवार के लिए। अतएव तुम्हें स्वयं जागना होगा। शिव की तरह पार्वती के साथ रह कर, शिव के परम तंत्र को समझना होगा। तब कहीं तुमसे ही कार्तिकेय एवं गणेश का जन्म हो सकता है। स्वस्थ मन, सबल सशक्त चित्त, तपस्वी शरीर ही स्वस्थ सन्तान समाज को प्रदान कर सकता है। तब समाज अग्रगति की तरफ बढ़ सकता है। परन्तु दुःख का विषय है कि शंकर का, सदाशिव का उत्तराधिकारी बन गया है वो जो पार्वती को गाली दे रहा हो। अपनी ही माँ (पार्वती) को यज्ञ में बैठने से मना कर रहा हो। कह रहा हो यज्ञ भ्रष्ट कर देगी। स्वयं पिता (शंकर) के रूप में यक्ष बन इस बार भी पार्वती को यज्ञ रूपी, विषमता रूपी अग्नि में धक्का दे रहा है। तब इस पृथ्वी को कौन बचायेगा? वह तो यक्ष पहचान में आ गया जिससे शिवगणों ने उसका सिर काट दिया, परन्तु यह तो यक्ष पहले से ही शिव के चोला में है। उन्हीं के रूप में है। उन्हीं का स्वयं प्रतिनिधित्व कर रहा है। अब यह पार्वती को जला भी रहा है। इसे विद्वतापूर्ण शब्दों में उचित भी ठहरा रहा है। चूँकि स्वयं बिन माने धर्म का ठेकेदार भी बन बैठा है। क्या इससे मुक्ति दिलाने हेतु स्वयं शिव को ही तो नहीं आना पड़ेगा। परन्तु आने पर उन्हें भी भ्रम हो सकता है चूँकि उन्हीं की तंत्रोक्त बातें अपने ढंग से कह रहा है। समझा रहा है।

आप जैसे ही तंत्र को पकड़ कर अपने अन्दर प्रवेश करेंगे, पायेंगे उस अनन्त को, उस विराट को जहाँ यह सब क्षुद्रत्व गिर जायेगा। मिट जायेगा। तब आप सचमुच में पहचान पायेंगे शिव पार्वती के वास्तविक रूप को। अतएव जरूरत है आप जहाँ हैं, वहीं रुकें। वहीं खड़े हो जायें। एक मिनट के लिए अपने अन्दर झाँकें, देखें। कहाँ हैं आप? तब यात्रा प्रारम्भ करें। कठिनाई हो रही है, देखें आपको कोई-न-कोई सद्गुरु अवश्य मिल जायेगा। परमपिता उस सद्गुरु के माध्यम से बह जायेगा आप तक। उतर जायेगा आप में। तब आप इस पृथ्वी के लिए रामतुल्य, कृष्णतुल्य, सन्तान दे पायेंगे। तब होगी पूर्ण तपस्या आपकी। पूरी होगी यात्रा आपकी। पूरा होगा मंगल विश्व का। मानव मन जैसे-जैसे शान्त होता है, चित्त वृत्तियाँ स्थिर होती हैं। स्व को पहचानना शुरू कर देता है। 'स्व' में स्थिर होकर पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है।

अवतार

जब कभी भी मानव पूर्णत्व को प्राप्त करता है तो उसे अवतार कहते हैं। अवतार शब्द भी विचारणीय है। अवतार यानी अव+तृ+अपू=उतार अवतरणम् अव+तृ+ल्युट्=नीचे आना; उतार, अवतार।

अवतारः अव+तृ+धृत्=उदय, प्रकट होना, उतार।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति ही अवतार है। सभी की आत्मायें उतरी हैं, उदय हुई हैं, प्रकट हुई हैं। समय पर अन्तर्ध्यान हो जायेंगी। जिसका कार्य सम्मान्नीय, आदरणीय, लोकहित, जन-कल्याण में होता है। उन्हें हम अवतार मान लेते हैं। उसकी पूजा स्तुति करते हैं। अच्छे मानव चित्त, उच्चतम मानव मन को विष्णु का अवतार माना गया है, परन्तु अदिति पुत्र विष्णु नहीं। वह देवताओं का ही सदैव हित करता रहा। यह विष्णु मानव का प्रतिनिधि है। विष धातु से नुक पद लगकर जो विष्णु बनता है वह है अदिति पुत्र विष्णु। इस विष्णु के शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार दी गई है

**“यस्माद्विश्वमिदं सत्र तस्य शक्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णु विशुधातेः प्रवेशनात्॥”**

जो भी व्यक्ति जन-कल्याण की भावना रखते हुए यानी आत्म मोक्षार्थच जगत् हितायश्च की भावना से पूर्ण होकर पूर्णत्व को प्राप्त करता है। उसे ही नारायण कहते हैं। नर का ही नारायण में रूपान्तरण भी कैसे कहें। पूर्णत्व ही कहा जा सकता है। भले ही ये जब तक रहते हैं इन्हें बुराइयों, अनीतियों से अनवरत संघर्ष करना पड़ता है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान समाज के अधिकतर लोग इनके विरोध में ही खड़े हो जाते हैं। परन्तु इनका संकल्प महान् होता है। अतएव मानव हित में विजयश्री इनके माध्यम से प्राप्त हो जाती है। हरिवंश पुराण में भगवान् शब्द का अर्थ किया है

**“ऐश्वर्यस्यः समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतिरणा ॥”**

पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य, तेज इन सबका नाम भग है। इन छह वस्तुओं की जिनमें पूर्णता हो ऐसे योगी, महात्मा, राजा, आदि के लिए भगवान् शब्द का प्रयोग होता है। अत्रि, वेद-व्यास, परशुराम, विश्वामित्र, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, इत्यादि महामानव को भगवान् शब्द से विभूषित किया गया। रति देव एवं जनमेजय को भी तत्कालीन पुरोहितों ने प्रभो एवं भगवान् शब्द से सम्बोधित किया। इस तरह हम शास्त्रों में ही अवलोकन के पश्चात् पाते हैं कि मानव श्रेष्ठ ही भगवान् कहलाया। रक्ष संस्कृति, देव या

यक्ष संस्कृति के लोगों में भगवान् शब्द का प्रचलन नहीं था। सम्भवतः उनमें महत् लोक कल्याण की भावना की कमी हो, जिससे पूर्णत्व को नहीं प्राप्त कर सके। इसी से देवता भी मानव शरीर ग्रहण करना चाहते हैं; वह भी भारत खण्ड में। जहाँ का हवा-पानी, जलवायु ऋषि-परम्परा ऐसे हैं कि मानव सहज ही पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। यह भी देखने में मिलता है कि जैसे ही कोई मानव पूर्णत्व को प्राप्त करता है। वैसे ही देवगण उनकी सेवा में, स्तुति में हाज़िर हो जाते हैं। जैसे उनके लिए अनहोनी घटना हो। बुद्ध के बुद्धत्व मिलने पर भी देवतागण स्तुति करने लगे। बुद्ध का प्रथम शिष्य जैसे ही परमतत्व को पाता है देखता है, प्रकाश ही प्रकाश। आगे देखता है बाहर देवतागण फूल बरसा रहे हैं। स्तुति कर रहे हैं। कबीर को भी सद्गुरु का अवतार कहा जाता है। जो स्वयं सिद्ध हुए। कमल के फूल पर ही बाल्यावस्था में मिले। ये चरखा कातते रहे। देवगण भी इनका सत्संग सुनने आते। इनके भण्डारे का आयोजन करते। बस मानव मन को जरूरत है, उस पूर्ण को जानने की जिस पूर्ण से आया है, भ्रमवश भूल गया है या संस्कारों का आवरण पड़ गया है तभी तो अपने को भूल भिखमंगे के सदृश दीन-हीन अकिंचन अवस्था में नाना प्रकार के दुःखों से आबद्ध है। अब यह सोचना तंत्र में प्रवेश कर जाना है कि मैं भी वही हूँ जो परमब्रह्म परमपिता है। जब मैं भी उसी परमपिता का पुत्र हूँ तो ऐसा क्यों? सम्भवतः इसीलिए कि सब को भूलकर नाना प्रकार के देवी-देवता, भूत-प्रेत रूपी भ्रम के दल-दल में फंस गये हैं। अब अपने को असहाय महसूस करने लगे।

मैं एक कहानी सुना रहा हूँ। सुना है एक राजा था। वह इस पृथ्वी का चक्रवर्ती सम्राट था। उसका एक ही पुत्र था। बचपन में नौकरानी बगैर पूछे उसे खेलने के लिए बाहर बगीचे में ले गई थी। उससे खेल रही थी। बगीचे की सुखद सुगन्धित हवा के झोंके ने उसे सुला दिया। इसी बीच एक भिखमंगा अपनी पत्नी के साथ वहीं से गुज़र रहा था। सोचा हमें पुत्र नहीं है क्या अच्छा होता यह लड़का हमें मिल जाता। लड़का खेलते-खेलते द्वार तक आ गया था। उसे अकेला देखकर भिखारी ने उठा लिया। दोनों पति-पत्नी भिखारी उस बच्चे को लेकर नगर के बाहर निकल गये। इधर राज्याधिकारी खोजते-खोजते निराश हो गये।

वह राज-पुत्र (राज्य का भावी कर्णधार) अब उस भिखमंगे माँ-बाप के साथ रहने लगा। शुरू-शुरू में तो रोया-चिल्लाया परन्तु धीरे-धीरे उनके साथ का अभ्यस्त हो गया। अब उनके नहीं रहने पर या विलम्ब से झुग्गी-झोपड़ी में पहुँचने पर बहुत रोता एवं माँ-माँ चिल्लाता। कुछ काल के बाद वह भी अपने पिता से भीख मांगने की कला सीखने का आग्रह करने लगा। होनहार देख उसके माँ-बाप

ने उसे भीख मांगने की कला सिखा दी। अब लड़का नाना प्रकार का रूप बनाकर, नाना प्रकार का कष्ट दुःख का दुखड़ा रोकर भीख मांगने लगा। अपने पिता से ज्यादा मांगता। उसकी भिखमंगों में अच्छी प्रतिष्ठा भी बढ़ गयी। उसके इर्द-गिर्द के भिखमंगे, उससे भीख मांगने की कला सीखने आने लगे। अब वह बिल्कुल भूल ही गया कि मैं कभी राजकुमार (राजपुत्र) भी था। अब तो वह यह बात सपने में भी नहीं सोच सकता था। उसे चिन्ता रहती थी मात्र अपने भिखमंगे माँ-बाप की और झुग्गी-झोंपड़ी की। एक दिन भीख मांगने हेतु दूर देश चलने की मंत्रणा कर रहा था अपने साथियों से। सभी साथी उसके नेतृत्व में चलने को तैयार थे। परन्तु उसके माँ-बाप ने सुना तो सोचा कि कहीं यह उसी राज्य में न चला जाये। जहाँ से हम लोग उसे उठा लाये हैं। यदि भूलकर भी वहाँ गया एवं किसी तरह पहचाना गया तो भारी अनर्थ हो जायेगा। हमारे हाथ से निकल जायेगा। फिर हमारा क्या होगा? अतएव बहुत उदास मन से माँ बोली बेटा- हमने बहुत दुःख से तुम्हें पाला है। तू और कहीं जाना परन्तु उत्तर दिशा में न जाना। वहाँ का राजा अन्यायी है। अधर्मी है। वह धर्म-कर्म नहीं समझता। अतएव तू वहाँ से सावधान रहना। इससे अच्छा है तू यहीं रह। जो हमें मिलेगा। उसी में खुश रहेंगे। तू तो साथ रहेगा। इस तरह समझा-बुझाकर उसे रोक दिया। समय चक्र के अनुसार जब उसके माँ-बाप की मृत्यु हो गयी। वह पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो गया। तब सोचने लगा। क्यों हमें उत्तर दिशा के राज्य में जाने से रोका गया। अब चलकर देखते हैं। हमारा लगता ही क्या है? भिक्षा ही तो नहीं मिलेगी। लगेगा क्या यह सोच अपने साथियों के साथ वह निकल पड़ा उत्तर दिशा में। देखा राज्य बहुत ही सुन्दर था। सभी निर्भय थे। सभी सम्पन्न थे। न कोई भिखारी, न कोई अत्याचारी। सब कुछ उसकी आशा के विपरीत दिखाई पड़ा। वह घूमते-घूमते राजमहल के पास चला गया। राजा बाहर निकल रहे थे। युवक ने सोचा जरा देख लेते हैं राजा को भी। जब आ ही गये हैं तो देख लेते हैं। राजा ज्यों ही बाहर निकला, वह युवक त्राटक की मुद्रा में देखता ही रह गया। मानो उसका मन-मस्तिष्क अज्ञात जगत में खो गया। वह राजा घूमते हुए आया एवं उस युवक को पकड़ कर पूछा, कहाँ खो गया है। तब उस युवक को होश आया। वह डर सा गया। क्या गलती हो गयी। क्या सचमुच वही राजा है। जो हमें पकड़े हुए है। क्या यह भी संभव है? कदापि नहीं। कहाँ वह राजा, चक्रवर्ती सम्राट, कहाँ मैं भिखारी? राजा पूछता है तुम्हारा नाम क्या है? वह डरते हुए बोला महाराज! गलती हो गयी। भूल गया था। अब कभी नहीं यहाँ आऊंगा। चूँकि अपनी माँ की उक्ति याद आ गयी, राजा अन्यायी है, दण्ड देता है अतएव

भयभीत स्वर में क्षमा याचना करता है। राजा पूछता है तुम्हारी छाती में काला निशान तो नहीं है? वह और डर जाता है। उसके सारे साथी उसे छोड़कर भाग जाते हैं। वह अकेला रह जाता है। वह कह देता है नहीं महाराज हमें कोई निशान वगैरह नहीं। हमें छोड़ दो महाराज। राजा कहता है अब तू कहाँ छूटेगा। तुझे बहुत खोजा भी, तुझे तो खोजते-खोजते मैं थक सा गया। लेकिन मुझे उम्मीद थी कि एक-न-एक दिन वापस जरूर आएगा। तू आ ही गया। फिर उसकी कमीज़ उठाते हुए बोले, देख यह है निशान। तू मेरा ही पुत्र है। तू भीख मांगता है। यह राज्य तुम्हारा ही है। इस सम्पूर्ण राज्य का उत्तराधिकारी तू ही है। मानो उसको अपने ही कानों पर विश्वास नहीं हो रहा। कहीं सपना तो नहीं देख रहा।

राजा प्रसन्नचित्त हो उसे गोद में उठा लेता है। उसका भिक्षापात्र अनायास ही गिर जाता है। वह राजमहल पहुंच जाता है। अपने पिता का उत्तराधिकारी बन जाता है। अब अपने भिक्षापात्र की चिन्ता नहीं करता, न ही अपनी झोंपड़ी की। अपनी मूर्खता का कभी-कभी अहसास हो जाता है कि क्यों मैंने समय बर्बाद किया। खैर अब प्रसन्न है, आनन्दित है। यही स्थिति है आपकी व हम सब की। अपने परमप्रिय परमात्मा रूपी पिता को भूलकर भिखमंगों के साथ भिक्षाटन कर रहे हैं। जैसे ही परमपिता परमात्मा (परम प्रकाश) के सामने जायेंगे। भिक्षाटन रूपी कुवृत्तियां अपने आप बिना प्रयास के गिर जायेंगी। आप पा लगे अपने प्रभु का राज्य। हो जाओगे अपने ही राज्य के स्वामी। बन जाओगे स्वामी जी। बस अपने ममता रूपी माँ, अहंकार रूपी पिता, सांसारिक बन्धन रूपी झोंपड़ी, कुवृत्तियां (लोभ, काम, क्रोध) रूपी भिखारी मित्र, कुसंस्कार रूपी संयम, भय, कुपात्रता रूपी भिक्षा पात्र का मन से परित्याग मात्र करना है। सद्गुरु रूपी दृढ़ इच्छा, संस्कार को लेकर स्मृति (सुरंग) के सहारे प्रभु के दरवाजे पर पहुंच जाना है। फिर क्या, वह प्रभु तो अपनी गोद में बैठाने के लिए सदा से व्याकुल है। देर उसकी तरफ से नहीं, देर तुम्हारी तरफ से है। फिर पा लेना है अपने अनन्त राज्य को। उपलब्ध हो जाना है वह प्रभु। फिर लौटना मुश्किल है, असम्भव है।

चन्द्रवंश

चन्द्र कहने से आकाशीय चन्द्रमा की तरफ ध्यान जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है, चन्द्रमा अत्रि ऋषि के पुत्र थे। ये अत्यन्त पराक्रमी थे। चन्द्र यानी अत्रि एवं कश्यप जी प्रारम्भ काल में पास-पास रहते थे। अतएव चन्द्रवंश का देवगण से सम्बन्ध सहज स्वाभाविक हो गया। अत्रि चन्द्रमा को पढ़ने के लिए देवताओं के गुरु बृहस्पति के यहाँ भेज दिए। बृहस्पति देव गुरु थे। अतएव इनका चरित्र भी

देवतागण से मिलता-जुलता था। कहावत है यथा गुरु तथा शिष्य। महाभारत के अनुसार इनकी बड़ी पत्नी का नाम यशस्विनी तथा सबसे छोटी पत्नी का नाम तारा था। यह हरिवंश पुराण में भी है। खैर ऐसा ज्ञात होता है कि बृहस्पति वृद्धावस्था में तारा से सम्बन्ध किये थे। अत्रि पुत्र चन्द्र जब पढ़ने देवलोक (देव राष्ट्र) गये तब वे लोग अपने स्वभाव एवं आचरणवश चन्द्रमा के स्वागत में लग गए। इस कार्य में बहुत-सी देव कन्याएं, स्त्रियां लग गयीं। चूंकि अत्रि भी बहुत ही शक्ति सम्पन्न राजा एवं ऋषि थे। उनका एक पुत्र चन्द्रमा था। जो प्रतिभा सम्पन्न युवक था। ऐसा पुराणों में मिलता है कि सिनीवाली, कुहू, धुनि, पुष्टि, प्रभा, वसु, कीर्ति इत्यादि कन्याएं उनकी सेवा में हर समय तत्पर रहती थीं। इसके अतिरिक्त वृद्ध बृहस्पति की युवा पत्नी तारा भी थी। तारा चन्द्रमा का कान्ति तेज देखकर मोहित हो गयी। उसकी लाचारी का फायदा उठाया। जिससे तारा एवं चन्द्रमा में प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो गया। तारा चन्द्रमा के साथ बृहस्पति को छोड़कर चली गयी। जब बृहस्पति को यह मालूम हुआ तो अत्यन्त क्रोधित हुए। देवेन्द्र को आदेश दिया हे देवेन्द्र! हमारी पत्नी तारा को किसी भी तरह चन्द्रमा से वापस लाओ।

देवेन्द्र तारा को वापस लाने गये। परन्तु वह भी वृद्ध पति के यहाँ जाना नहीं चाहती थी। न ही चन्द्रमा छोड़ना चाहते थे। तारा के चलते देवगण एवं चन्द्रमा में घोर युद्ध हुआ। जिस युद्ध में दैत्य (राक्षस) चन्द्रमा की मदद किये। हालांकि राक्षस लगभग हर समय मानव की ही मदद किये हैं। इस युद्ध में देवता पराजित हुए। देवेन्द्र युवा चन्द्रमा की बल-बुद्धि, युद्ध की नीति, देखकर भयभीत हो गये। बृहस्पति अपने दारुण दुःख को ब्रह्मा से कहते हैं। ब्रह्मा जी चन्द्रमा से बात करते हैं एवं किसी तरह समझा-बुझाकर तारा को वापस बृहस्पति को लौटाते हैं। बृहस्पति को जब यह ज्ञात होता है कि तारा गर्भिणी है तब उसे डांटते हैं।

“त्यज त्याजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः।

नाहंत्वां भस्मसात् कुर्मास्त्रियं सान्तानिकःसति ॥”

अर्थात् “दुष्टे। मेरे क्षेत्र में यह तो किसी दूसरे का गर्भ है। इसे तू अभी त्याग दे, तुरन्त त्याग दे। डर मत, मैं तुझे जलाऊंगा नहीं, क्योंकि तू तो एक स्त्री है और दूसरे मुझे सन्तान की कामना है। देवी होने के कारण निर्दोष है।” अपने पति की डांट सुनने के बाद वह लज्जित हो जाती है। साथ ही भय से पुत्र गिर जाता है। आप सोचें, बृहस्पति भी दैवज्ञ कहलाते हैं। भूत-वर्तमान भविष्य सभी उन्हें मालूम है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु उन्हें क्या ज्ञात है? क्या नहीं। उन्हीं पर अवलोकन कर उनकी बुद्धिमत्ता का अंदाजा लगा लें।

**“तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम्।
स्पृहाभाङ्गिरस शक्रे कुमारे सोम ए वच॥
समायं न तवे तयुच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः।
पप्रच्छुर्ऋषयो देव नैवोचे व्रीडिक्त तु सा॥”**

(श्रीमद्भागवत पुराण)

उसने सोने के समान चमकता हुआ एक बालक अपने गर्भ से अलग कर दिया। उस बालक को देखकर बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ही मोहित हो गए और चाहने लगे कि हमें मिल जाए। अब वे एक-दूसरे से इस प्रकार जोर-जोर से झगड़ा करने लगे कि यह तुम्हारा नहीं, मेरा है। ऋषियों और देवताओं ने तारा से पूछा कि यह बच्चा किसका है परन्तु तारा लज्जावश कोई उत्तर नहीं दे सकी।

तब उस श्रीयुक्त बालक ने सोचा कि कहीं भय से माँ झूठ न बोल दे, अतएव बालक ने कहा दुष्टे! तू बतलाती क्यों नहीं? तू अपना कुकर्म मुझे शीघ्र से शीघ्र बतला दे। तब भी तारा अपने पति के भय से नहीं बोली। चूंकि बृहस्पति को उस बालक को देखकर लोभ हो गया था। तब ब्रह्मा जी जो सम्भवतः सृष्टि के रचयिता थे। उन्हें भी मालूम नहीं हो सका। एकान्त में तारा को ले जाकर पूछते हैं, बहुत तरह से समझाते हैं और बचाने का आश्वासन देते हैं। तब तारा धीरे से कहती है चन्द्रमा का। ब्रह्मा जी उस लड़के की बुद्धि पर जो अत्यन्त निर्भीक एवं गम्भीर था। उसका नाम बुध रखते हैं। यह बुध ही चन्द्रवंश का विस्तार करता है।

इला-इलावर्त

बुध की शादी वैवस्वत मनु की पुत्री इला से हुई। इसी इला के पुत्र पुरुरवा हुए। ये बहुत ही प्रतापी, ओजस्वी, धार्मिक राजा हुए। इनके प्रताप को देखकर देवेन्द्र घबराए रहते थे। उनकी सेवा में सैकड़ों अप्सरायें भेजते रहते थे जैसा कि ऋग्वेद में मिलता है। अन्त में उर्वशी इनकी सुन्दरता एवं पौरुष का वर्णन सुनकर इनके यहाँ आती है एवं इनके साथ बहुत काल तक रहती है। जिससे इन्हें 6 से 8 (छह से आठ) पुत्र उत्पन्न हुए। विभिन्न पुराणों में पुत्रों की संख्या विभिन्न दी गई है। पुरुरवा माता के नाम पर ऐल कहलाए तथा इला के नाम पर ही इस क्षेत्र का नाम इलावर्त-फिर आर्यावर्त हुआ। ये लोग अपनी राजधानी वर्तमान (प्रतिष्ठान पुरी) झूसी (इलाहाबाद, उ. प्र.) में बनाए, ऐसा लगता है इला के नाम पर ही इलाहाबाद नाम पड़ा।

चन्द्रवंश से ब्राह्मण एवं ब्रह्मर्षि

चन्द्रवंश में अनेक योद्धा, महर्षि, पण्डित, ब्राह्मण, क्रान्तिकारी, खगोलशास्त्री, आयुर्वेद के विद्वान हुए। जैसे चरक संहिता के रचयिता कृष्णत्रेय, सूर्य को बेध लेने वाला प्रभाकर, दत्तात्रेय ऐसे महान संन्यासी। दत्तात्रेय शैव संन्यासियों के प्रथम गुरु भी कहे जा सकते हैं। यही सहस्त्रार्जुन के भी गुरु थे। देवापी, बाल्मीकि, शान्तनु अत्यन्त वीर, तेज सम्पन्न एवं अद्वितीय महारथी थे। देवापी को तो देवता लोग अपना उपाध्याय तक बनाये। इनके दिशा-निर्देश पर ही धर्म, कर्म प्रारम्भ हुए एवं योग की दीक्षा भी दी गयी। चन्द्रवंश से पूरी पृथ्वी पर धर्म की क्रान्ति भी आयी। विश्वमित्र के ही लड़कों में से बहुत से क्षत्रिय हुए बहुत से ब्राह्मण। इनके 26 गोत्र ब्राह्मणों में आये यानी इनके 26 लड़के ब्राह्मण हुए जिनसे गोत्र बना। इस तरह कौशिक कुल भी ब्राह्मण कहलाया। इसके बाद चंद्र एवं सूर्यवंश के बहुत से लोग ब्राह्मण हुए, महात्मा हुए। विश्वमित्र एवं शालवती के देवश्रवा, तथा 'कति' हुए। कति से कात्यायन गोत्र ही चला। रेणु से सांस्कृतिक, गलब, मुद्गल, मधुच्छन्द, जय एवं देवल हुए जो अलग-अलग गोत्र भी बने। माधवी से अष्टक।

इस तरह विश्वमित्र अपने समय के धर्म के प्रवर्तक एवं क्रान्तिकारी थे। वे कहते थे आप क्षत्रिय होकर राज्य भी कर सकते हो, यज्ञ भी, तप भी। किसी पर निर्भर मत रहो। अन्यथा अकर्मण्य बन जाओगे। धर्मच्युत हो जाओगे। विश्वमित्र ने कर्म के अनुसार ही मानव को सम्मान देने के लिए प्रोत्साहित किया। जो उस समय या वर्तमान के लिए अत्यन्त ही अनुकरणीय है। इसी कर्मवाद सिद्धान्त को लेकर वशिष्ठ में एवं विश्वमित्र में द्वंद्व भी हो गया था। अन्त में विश्वमित्र की जीत हुई। वशिष्ठ मानने के लिए बाध्य हुए।

चन्द्रवंश में निम्न राजा एवं इनके परिवार ब्राह्मण बने, संन्यासी राजर्षि, महर्षि एवं ब्रह्मर्षि बने।

- (1) यति गृहस्थ होते हुए भी विरक्त थे, जिससे यति संन्यासी ही बने।
- (2) अलर्क सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मण बने।
- (3) सृंजय धर्मज्ञ एवं नीति नियामक।
- (4) जनमेजय महर्षि एवं प्रभो की पदवी पाये।
- (5) महाशाल देवों द्वारा पूजित हुए।
- (6) महामना देवों द्वारा पूजित हुए एवं धर्म नीति के नियामक हुए।
- (7) उशिनर धर्मज्ञ एवं तपस्वी।

- (8) विजय धर्मज्ञ होने के नाते ब्राह्मणों को शिक्षा दिए एवं शौर्य तेज के चलते क्षत्रियों को भी।
- (9) सुरोध धर्म के प्रवर्तक, महान यशस्वी, एवं महर्षि हुए।
- (10) मुद्गल धर्मज्ञ तथा इनके भाई ब्राह्मण बने जिससे ब्राह्मण वंश आगे चला जो मुद्गल गोत्र है।
- (11) इन्द्रसेन ब्रह्मर्षि हुए। इनके लड़के ब्राह्मण एवं क्षत्रिय हुए।
- (12) च्यवन धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र के महान ज्ञाता।
- (13) उदीथ सम्पूर्ण धर्म एवं यज्ञ के ज्ञाता एवं यज्ञ करना, करने की शिक्षा देते थे।
- (14) मरुत राजर्षि, धर्मज्ञ।
- (15) वृषभ अद्वितीय बलवान एवं विद्वान भी।
- (16) पुण्यवान धर्मात्मा।
- (17) ऊर्ज धर्म के पूर्ण ज्ञाता।
- (18) सत्यहित शौर्य, एश्वर्य से पूर्ण पराक्रमी।
- (19) जनमेजय धर्म एवं नीति के पूर्ण जानकार।
- (20) उग्रसेन भीमसेन, श्रुतसेन, महारथी।
- (21) रजि महापराक्रमी जो देवेन्द्र भी बने।
- (22) नहुष देवेन्द्र बने यानी देव राष्ट्र के शासक हुए।
- (23) सभार चाक्षुष, परमन्यु, तितिक्षु ये लोग महाबली एवं धर्मज्ञ।
- (24) धर्मरथ विद्वान एवं इन्द्र से भी ज्यादा पराक्रमी।
- (25) चित्ररथ धर्मज्ञ एवं इन्द्र का मित्र।
- (26) सहश्रद् हैहय, हय, वेणु हय (यदुवंशी) परम धार्मिक एवं महाबली नीतिज्ञ।
- (27) महिष्मान पराक्रमी तथा इसने महिष्मति नगरी बसाई।
- (28) सहस्त्रार्जुन महाबली। इसने द्वीप, समुद्र, पत्तन एवं नगरों को जीता।
- (29) भद्रशेण्य काशी का राजा एवं धर्मज्ञ।
- (30) कनक धर्मज्ञ।

इसी तरह इसी वंश के धन्वन्तरी, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज एवं अहिल्या थी।

उपर्युक्त विवरण से चन्द्रवंश के विषय में कुछ जानकारी मिल जाती है।

विशद जानकारी हेतु पुराणों एवं वेदों के पन्नों को पलटना आवश्यक है।

साधु

सा यानी साक्षात् धु यानी धुल गया। जिसकी काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, रूपी धूल धुल गयी, अब वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप हो गया। इसमें दो अक्षर हैं स ज्ञान एवं ध वैराग्य। यानी जिस में ज्ञान-वैराग्य का पंख लग गया अब वह इन्हीं पंखों के सहारे परब्रह्म परमात्मा रूपी गगन में उड़ान भरता हो, वही साधु कहलाता है। साधक जब स्वयं को साध लेता है, शान्त हो जाता है। साधु कहलाता है। यह एक अत्यन्त विलक्षण शब्द है। आप जहाँ हैं वहीं रहें, जिस रूप में हैं, उसी रूप में रहें। जो कर्म कर रहे हैं, वही करते रहें। साधुता को उपलब्ध हो जायें। 'स्व' को उपलब्ध होना ही, साधुता को उपलब्ध होना है। साधुता को उपलब्ध होने के लिए सद्गुरु की जरूरत है। तभी तो कबीर साहब कहते हैं

“काला मुंह करूं कर्म का, आदर लांबू आग।

लोभ बढ़ाई छाड़ि के, राचों गुरु के राग॥”

बहुत दिन तक कर्म-काण्डों के फेर में पड़ा। बहुत तीर्थ-व्रत हो चुके। बहुत यज्ञ-कर्मकाण्ड हो चुके। बहुत स्वर्ग-नर्क की विधि हो चुकी। बहुत देवी-देवता को पूजा जा चुका। अब कब तक करोगे। क्या इसे करते-करते थक भी नहीं रहे हो। कई बार शरीर धारण किया कितने बार इन कर्मों के चक्कर में पड़ा अब तो इन कर्मों को त्याग दो। क्या होगा इन्हें अपनाकर? क्या आदर-मान बढ़ाई के चक्कर में हो? अमुक कर्म करने से यह फल मिलेगा। यह यज्ञ कर्मकाण्ड करने से, संसार में तथाकथित मान-बढ़ाई मिलेगी। साधु इस तथाकथित मान-बढ़ाई से अलग रहता है। मेरे एक मित्र हैं, महंत हैं। उज्जैन कुम्भ में मिले। मुझे अपने खेमे में चलने का आग्रह किया। मैंने पूछा क्या हो रहा है? वे बहुत गौरव से बोले पोस्टर नहीं देखे, अखबार नहीं देखे, मैं अश्वमेघ यज्ञ कर रहा हूँ। बड़े-बड़े राजनेता बड़े-बड़े अधिकारी आते हैं। हमें इस कुम्भ में कौन नहीं जानता। स्वामी जी हम अब वह नहीं हैं जो आपने 5 से 10 वर्ष पूर्व देखा था। हमारी प्रतिष्ठा अब बहुत बढ़ गई है।

आप कब तक इस कर्म एवं मान-बढ़ाई के चक्कर में पड़े रहोगे। अब तो इससे बाहर निकलो। लेकिन बाहर निकलने का कोई उपाय भी नहीं है। आदर-रूपी मान-बढ़ाई के दल-दल में फंस चुके हो। अब क्या किया जा सकता है। ये कच्चे कर्म हैं ही इसलिए। यदि सद्गुरु मिल गया तो कहीं इन कच्चे कर्मों का मुंह काला करा सकता है एवं आदर रूपी मान-बढ़ाई में आग लगा सकता है। आग लगाने से कम में समझौता नहीं। ऐसी आग कि सभी जलकर भस्म

हो जायेगा। उस आदर का नाम तक नहीं रहेगा, अस्तित्व तक नहीं रहेगा जब साधक कच्चे कर्मों का परित्याग कर देता है। आदर में आग लगा देता है तब लोभ अपने आप छूट जाता है। यह लोभ तथाकथित संन्यासी के यहाँ ही डेरा डाले रहता है। जब कभी आप को लोभ, मान, बढ़ाई, कच्चे कर्मों को देखना हो आप किसी संन्यासी बाबा के यहाँ पहुंच जायें। ये सब के सब एक साथ आपको वहाँ दिखाई देंगे। इसी से सद्गुरु के राग (भक्ति) में लग जाओ। उन्हीं की भक्ति में अब नाच उठो। यह जग इन्हीं कर्मों में बौराया है। पागल हुआ है। **‘कर्म करि करि जग बौराय।’** इन कर्मों से ही अहंकार ही वृद्धि होती है। अन्ततोगत्वा जीव इन्हीं कच्चे कर्मों में विदग्ध हो जाता है।

“जीव करम में जल गया, कहै कहाँ ते राम।

कंचन जला कबीर में, जाको ठौर न ठाम॥”

जीव-कर्म में मलिन हो गया। अब राम का नाम भी कहाँ से लेगा। क्योंकि इन्हीं कच्चे कर्मों (देवी-देवता) से कंचनरूपी विचार मानों पथीर रूपी कुकर्मों से जल गया। जिससे इसको कहीं भी स्थिर स्थान नहीं है। जीवन अनमोल था परन्तु कौड़ी के बदले ही चला गया। अब क्या किया जा सकता है। इन कर्मों से छुटकारा तभी सम्भव है जब साधु रूपी सद्गुरु हाथ लगे। सद्गुरु साधक के अन्दर आग लगा देता है जिस आग में “मैं” यानी अहंकार जल जाता है। जो जीवात्मा गुरु की मदद लेने से भाग गया। वह उन कर्मों से विदग्ध नहीं हो सकता। सद्गुरु कबीर अपनी वाणी में इसे निम्न प्रकार व्यक्त किये हैं।

“कहाँ करूं मैं जलि गया, अन्तर लागी आग।

राम नाम काठी करी, गया कबीरा भाग॥”

यदि साधक गुरु के निर्देश में हरि भजन करे, सीधे रास्ते का अनुसरण करे तो शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त कर लेगा। जबकि आदमी उल्टा, टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता चलने का आदी हो गया है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि सीधे-सीधे ही हरि उपलब्ध हो जाएंगे। आज के मानव ने यह धारणा बना ली है कि भगवान जंगल में ही मिलेगा। तीर्थ करने पर ही मिलेगा। तभी तो आज तीर्थों में भीड़ हो गयी है। किसी भी तीर्थ में इतनी भीड़ अभी हो गई है कि वह तीर्थ भी अब नरक सा प्रतीत होने लगा। एक धारणा यह भी है कि हरि यज्ञ से मिलेगा। आज जहाँ देखो यज्ञ होने लगा। इस यज्ञ के नाम पर सीधी-सादी जनता का मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक शोषण शुरू हो गया। बदले में उसे हाथ आयी निराशा। ये सब टेढ़े एवं कच्चे रास्ते हैं। अतएव सीधे रास्ते पर ही चलना श्रेयस्कर है। यदि साधक ठीक-ठाक गुरु का निर्देश मानकर सीधे रास्ते से यात्रा प्रारम्भ करे,

तो अवश्य ही वह पहुंच जायेगा दया-धर्म तक। धर्म तक जाने का और कोई रास्ता है ही नहीं। जब साधक धर्म तक पहुंच जाता है या धर्म को उपलब्ध हो जाता है तो वह सहज ही विश्राम में चला जाता है। चूंकि साधक बहुत चल चुका। अब कहाँ जायेगा। जैसे नन्हा सा बच्चा मां की गोद में जाकर विश्राम को उपलब्ध हो जाता है। निश्चिन्त हो जाता है। उसी तरह साधक धर्म को उपलब्ध होते ही विश्राम में चला जाता है। अब वह सब कर्मों से मुक्त हो जाता है। वह साधक साधु हो जाता है। जिसे सद्गुरु यों कहते हैं

**“लिखा मिट्टे नहीं करम का, गुरु कर भज हरिनाम।
सीधे मारग नित चलै, दया धरम विसराम॥”**

यदि इस तरह की साधुता आ जाती है। वह साधु किसी, पंथ का किसी सम्प्रदाय का नहीं होता। किसी मज़हब का नहीं, किसी से भी बंधकर नहीं रहता। वह तो बन्धन से मुक्त पूरी मानवता का होता है। इस तरह के साधु रूपी वृक्ष में जो फल लगता है। वह फल है, हरिनाम। जो भी उस वृक्ष की छाया में जायेगा। वह हरिनाम रूपी फल अनायास ही चख लेगा, जिसका परिणाम होगा विचार में शीतलता, नम्रता। अहंकार दूर भागता है। इन्हीं साधुओं के प्रभाव से संसार चल रहा है। यदि ये नहीं होते तो कभी का यह संसार जल गया होता।

**“साधु वृक्ष हरिनाम फल, शीतल स्वाद विचार।
जग में साधु होत नहिं, जल मरता संसार॥”**

तभी तो आगे कहते हैं

**“साधु नदी जल प्रेम रस, तहां प्रछाले अंग।
कहै कबीर निर्मल भया, हरि भक्तन के संग॥”**

यदि साधु को पेड़ मानते हैं तो उसमें राम नाम का फल अत्यन्त शीतल सुस्वाद लगता है। जो स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी शीतलता देता है। यदि साधु को नदी मानते हैं तो उसमें प्रेम-रस रूपी जल प्रवाहित होता है। प्रेम में हर समय देना होता है। भक्त भगवान को अपने को अर्पित कर देता है। प्रेम अनन्त की तरफ ले जाता है। लोभ में लेना-लेना ही होता है। प्रेमी-प्रेमिका में लोभ के आते ही उनका प्रेम दो कौड़ी का हो जाता है। प्रेम शीरी-फरहाद का है। मीरा-कृष्ण का है। मीरा को कुछ नहीं चाहिये, वह गा रही है, कृष्ण के लिए, नाच रही है कृष्ण के लिए। श्वास ले रही है, कृष्ण के लिए। उसका एक-एक कण कृष्ण के लिए समर्पित है। यह प्रेम रूपी नदी। जो बह चली है अनन्त की तरफ। चाहे जो चाहे जी भरकर पी ले। वह रोकती नहीं। परन्तु पीना तो दूर है। उस प्रेम रस में अंग प्रछालने मात्र से मन निर्मल हो जाता है स्वच्छ हो जाता

है। अब पीने पर क्या होगा? साधक सहज ही अनुमान लगा सकता है। हरि भक्त के संग की महिमा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। संग-साथ से मन-निर्मल हो जाता है। उस प्रेम-रस को पीने से तो तू भी दीवाना हो जायेगा एवं तुझ से भी वही प्रेमरस रूपी नदी अनायास ही निकल आयेगी। अब आप अपने को अलग नहीं बचा सकते हैं। बचाने का उपाय भी नहीं। प्रेम का अर्थ होता है श्रद्धा। पूर्णरूपेण श्रद्धा है गुरु पर। परमात्मा पर। प्रेम का अर्थ है भरोसा। पूरा-का-पूरा भरोसा है। अब सन्देह की गुंजाइश नहीं, क्योंकि सन्देह का अर्थ ही है होश रखो, कोई लूट न ले, बचा कर रखो अपने को। हर समय बचाव के लिए तत्पर रहो। पता नहीं कहीं कोई आक्रमण न कर दे। जो हर समय सन्देह में, दुविधा में जी रहा है। वहाँ प्रेम रस रूपी नदी नहीं बह सकती है। आज का मानव सुरक्षा के नाम पर चट्टान बन गया है। पत्थर बन गया है। प्रेम देखना है तो देखो मुस्कुराते हुए फूल में। वही फूल प्रेम का प्रतीक है। जीवन का प्रतीक है। हर समय खतरे में है। धूप से, शीत से, आंधी-तूफान से। इतना ही नहीं तथाकथित साधु एवं संन्यासी से भी भयभीत है। कभी भी तोड़ सकते हैं धर्म के नाम पर।

“कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरसा आयी।

अंतर भीगी आत्मा, हरी भई बनराई॥”

गर्मी के तूफान से पेड़ के पत्ते गिर जाते हैं। पंक शुष्क हो जाते हैं। पृथ्वी फट जाती है। पेड़ की सूखी टहनियां आकाश की तरफ आतुरता से देखने लगती हैं। परन्तु जैसे ही बादल बरसता है, पेड़ हरे-भरे हो जाते हैं। पृथ्वी की दरारें बन्द हो जाती हैं। पेड़ खुशी से अनचाहे ही नाच उठते हैं। परन्तु कोई शास्त्री, कोई पण्डित, कोई विद्वान कहे कि मैं प्रवचनों की वर्षा से पेड़ को हरा कर दूं, शास्त्रों के पाखण्ड से कर दूं तो वह नहीं कर सकता है। चूंकि पेड़ को वास्तविक वर्षा चाहिए जिससे उसका एक-एक कण भीग जाये। शास्त्रों की व्याख्या में तो आदमी ही पड़ता है। रट लेता है रामायण, अब हो गया वह ब्रह्मज्ञानी। सच पूछा जाये तो अब इन शास्त्रों से प्रेम के बदले सन्देह बहने लगा है। इन शास्त्रों की आड़ में अपनी दुकानें जो इन्होंने चला रखी हैं। मुझे कल एक घटना याद आ गयी। मैं बक्सर से दिल्ली आ रहा था मगध एक्सप्रेस से संयोग से ए.सी.टू. टायर में यात्रा कर रहा था। बक्सर के बाद दूसरे स्टेशन पर गाड़ी रुकी। कुछ जय-जय कार हुई। मैंने सोचा कोई नेताजी होंगे। दिल्ली जा रहे होंगे। चूंकि दिल्ली तो नेताओं की ही नगरी है, परन्तु देखता हूँ कि एक वृद्ध मौलाना साहब फूल माला से लदे हुए चढ़े। साथ एक औरत भी थी। सम्भवतः अच्छी पत्नी हो। मैंने देखा कि चार-पांच व्यक्ति उनका सामान चढ़ाये जा रहे थे। साथ-साथ एक पुलिस

अधिकारी भी उनकी सुरक्षा में सवार हुआ। खैर रात्रि का समय था। मैं विश्राम करने लगा। पुनः मेरी नींद खुली। जय-जयकार से। मैंने सोचा अब कौन आया भाई। देखा कि एक बहुत बड़े महात्माजी चढ़े। उनके साथ भी दो बच्चे एवं एक औरत थी। जो सब फूल-माला से लदे थे। इनके पास सामान उस मौलाना साहब से भी ज्यादा था। चूंकि इनके और ज्यादा शिष्य चढ़ाने आये थे। मैंने सोचा जरूर ये अच्छे महात्मा हैं। खैर सुबह दर्शन किया जायेगा। हम लोग महात्मा को महात्मापन से नहीं आंकते। चूंकि हमारे पास जैसी कसौटी है वैसा ही हम आंकते हैं। अमुक नेता, अमुक अधिकारी फलां बाबा के यहां जाते हैं तो अवश्य ही, वह बड़ा है। बड़े पद वालों के जाने से वह बड़ा है और कोई बड़प्पन नजर नहीं आता। खैर सुबह मैं शौच होने गया। तब तक पांच बजे ही हमारे बर्थ के नज़दीक तीन आदमी और थे, वे उतर गये। वह भी तीन बर्थ खाली हो गए। मैं स्नान कर बाहर आया तो देखा कि बाहर के स्टूल पर मौलाना साहब बैठे थे। बीड़ी पी रहे थे तथा दूसरे हाथ में बीड़ी का बण्डल रखे हुए थे। मैंने उनसे सप्रेम “हरि ॐ” बोला। वे हाज़ी मौलाना साहब झंपते हुए बीड़ी बढ़ाये। वे सोचे ये अदब किये बीड़ी के लिए। मैंने कहा धन्यवाद। आप का दर्शन हो गया, यही काफी है। क्या आप खाली हैं। हमारा बर्थ खाली है। जरा आपका अमृत वचन सुनते। वे बीड़ी पीकर आ गये। बोले महाराज आप बीड़ी नहीं पीते। मैंने कहा नहीं। क्या सिगरेट पीते हैं या गांजा। मैंने कहा बस आपका प्रेम। आपके तो बहुत शिष्य चढ़ाने आये थे। बोल पड़े, हाँ हमारे लाखों से ज्यादा अनुयायी हैं। एक दरोगा हमें दिल्ली तक पहुंचाने आया है। मैंने कहा, क्या उन्हें भी यह धुक-धुकिया पीना सिखाते हैं? उनका चेहरा लाल हो गया। आप हमें ठीक से नहीं समझते हैं? बड़े-बड़ों की हिम्मत नहीं होती है हमसे इस तरह बोलें। मैंने कहा महाराज क्षमा करना। मैंने बहुत हिम्मत करके ही पूछा एवं मैं कोई बड़ा हूँ भी नहीं। तब वह बेचारे कहने लगे क्या कहें महाराज यह लत है जो छूटती नहीं। क्या आपके पास में कोई उपाय है कि इसे छोड़ दिया जाये। मैंने कहा कौन-सा उपाय था जो इससे जुड़ गये। अरे भाई, जुड़ना छोड़ दो। मन को उस परमतत्व में लगा दो। मन लत से दूर हो जायेगा। खैर मैंने उनको समझा-बुझाकर विदा किया एवं अब दूसरे महात्मा के दर्शन के लिए सोचा। मैंने उठकर महाराज के नज़दीक जाकर सप्रेम हाथ जोड़ “हरि ॐ तत्सत्” कहा। वे भी कुछ अन्यमनस्क भाव से प्रतिउत्तर दिए। मैंने निवेदन किया क्या आप अमुक व्यक्ति हैं? सहर्ष बोले, हां। मेरा नाम देश-विदेश में कौन नहीं जानता। अभी भारतवर्ष में रामायण प्रवचन में मैं ही प्रथम हूँ। खैर मैंने कहा, आपके यहाँ जगह की कमी

है। आप कृपया मेरे बर्थ पर चलते तो? आपका कुछ उपदेश सुन सकता था। वे बोले आप क्या इसी डिब्बे में हो। मैं बोला हां महाराज आपके पीछे चारों बर्थ खाली हैं। सब हमारे ही जिम्मे हैं। वे तुरन्त खड़े हो गये। क्या आप अकेले हैं एवं चारों बर्थ एसी। टू. टायर की आपने ही आरक्षित करायी हैं। मैंने उनकी मनःस्थिति जानने के लिए कह दिया, लोगों एवं परिस्थिति ने कर दी। वे तुरन्त हमारे साथ हो लिए एवं उनका छोटा लड़का भी साथ-साथ आ गया। वे बोले स्वामी जी आपका परिचय। मैं संक्षिप्त में ही बोला, दिल्ली रहता हूँ। हरिनाम लेता हूँ। आप ऐसे महात्मा का दिव्य सन्देश सुनने का प्रयत्न करता हूँ। महाराजजी बोले- आप जरूर सिद्ध एवं उच्च कोटि के महात्मा हैं। तभी तो चार-चार बर्थ आरक्षित कराये हैं। मैंने पूछा क्या सिद्धता का यही चिह्न है। तो वे बोले हां महाराज सिद्ध एवं बड़े सन्तों के साथ तो बड़े लोग हैं। देखें मेरे विषय में। वे आगे बोलते गये मेरे पिताजी साधारण व्यक्ति थे। मुझे किसी तरह पढ़ाये। मैं रामायण रट गया। प्रवचन भी खूब सुना एवं जगह-जगह प्रवचन करने भी लगा। शुरू-शुरू में कुछ कठिनाई हुई परन्तु बाद में सब ठीक-ठाक हो गया। हमारी जाति के लोग बहुत धनाढ्य हैं, विदेशों में भी हैं। परिचय कुछ था ही। प्रवचन के माध्यम से मैं शीघ्र ही उनके सहयोग से विदेश (अमेरिका) चला गया। वहाँ मुझे बहुत चढ़ावा मिला। फिर क्या था, भारत वापस लौटा। यहाँ तो हम पूरे भारत में छा गये। कौन नहीं जानता हमें। अब हमें कुछ कमी नहीं। कार है, अच्छी कोठी है। पत्नी बच्चे आपने देखे ही। बच्चे को भी अभी से ही रामायण का प्रवचन ही सिखा रहे हैं। इस धन्धे में मान प्रतिष्ठा के साथ चढ़ावा भी है। देखें, स्वामी जी, अभी हम एक सप्ताह के प्रवचन से आ रहे हैं जिसमें ढाई लाख नक़द का चढ़ावा आया है। न बिक्री कर का भय न आयकर का। मैंने पूछा आप हिसाब कैसे करते हैं? आपकी टेप, पुस्तक भी तो बिकती हैं। जहाँ आप जाते हैं, आपकी दुकानें भी तो लगती हैं। वे मुस्कराते हुए बोले स्वामी जी, हमारे कौम के लोग बहुत धनी शाहखर्च एवं धर्मभीरू हैं। उन्हीं के बच्चे एवं बच्चियों को दुकान पर बैठा देते हैं। कहते हैं यह धर्म का काम है। वे धर्म समझकर सश्रम बेचते हैं एवं एक-एक पैसे का हिसाब आकर दे जाते हैं। साथ ही हम प्रति-दिन शाम को हिसाब मिला लिया करते हैं। मैंने कहा क्या करेंगे ये रुपये? वे बोले, स्वामी जी मैंने बोला न अत्यन्त गरीब परिवार से आया हूँ। बिना पैसे के क्या होगा? मैंने कहा आप दान का माहात्म्य कहते हैं, आप दान देते हैं कि नहीं। उनका लड़का झटपट बोला मैंने तो अभी तक नहीं देखा कि बापू जी किसी को कुछ भी दिए हों। हम लोग भी कभी मांगते तो सामने खड़े किसी

शिष्य से कह देते हैं। देखो भाई इस बच्चे को दस रुपये दो। वही देता ये तो अपने पिताजी को भी एक रुपया नहीं देते। कहते हैं कि तूने क्या किया आज तक। देखो तो मैंने युवावस्था में ही धन कमाकर रख दिया। इनके पिताजी यानी हमारे बाबा कहते हैं कि बेटा हमें भी तीर्थ करा दो तो ये बोले मैं श्रवण कुमार की कथा कहता हूँ। श्रवण कुमार नहीं हूँ जो आपको लेकर घूमा करूँ। आप अपने कर्मों का फल स्वयं भोगें। इतना कहना था कि रामायणी जी अपने बच्चे को एक तमाचा जड़ दिए एवं कहे कि यह लड़का शैतान है। कहां क्या कहना चाहिये इसे मालूम ही नहीं। वह भी गुस्से में बोला हमको आप कल ही प्रवचन देना सिखा रहे थे, जिसमें कहा कि हर मनुष्य को सदा सत्य बोलना चाहिये, तो क्या मैं सत्य नहीं बोल रहा हूँ। वे पुनः दूसरा तमाचा लगाते हुए बोले कि अरे शैतान तुझे बोलने के लिए तो मैंने नहीं कहा। तू क्यों अनर्गल प्रलाप करता है। खैर मैंने बीच में पड़कर बाप-बेटे का युद्ध किसी तरह विराम कराया। परन्तु वह लड़का वहाँ से उठकर यह कहते हुए चला गया कि स्वामी जी मैं छोटा हूँ, कमजोर हूँ इससे इन्हें छोड़ देता हूँ अन्यथा मैं भी बताता। मैंने कहा बापू जी आपको इससे अर्थलाभ तो होता है परन्तु आप 'अपने को' कब लाभ करेंगे? देखो, इस अर्थ की दौड़ में अनर्थ होने जा रहा है। यह भी एक धार्मिक शोषण हुआ। आप अत्यन्त विक्षिप्त हो, अशान्त हो, कुछ तो करो जिस से आपका भी कल्याण हो। परिवार का भी तथा समाज का भी। वे बेचारे आतुर स्वर में बोले स्वामी जी अब मैं इतना आगे चला आया हूँ। लाखों लोग मेरी शरण में आ गये हैं कि चाहकर भी वापस नहीं आ सकता। अब किससे ध्यान सीखूँ। पढ़ा तो हूँ। परन्तु किया तो नहीं हूँ। मेरी इच्छा भी होती है। परन्तु हर समय प्रवचन में सोचते रहता हूँ। अब क्या नया बोलूँ जो श्रोता को ताजा लगे, प्रियवर लगे। इसी में अपना प्रियवर भूल गया हूँ।

यही स्थिति प्रत्येक मानव की है। हम सब अपना प्रिय भूलकर असहज हो गये हैं। सहज हो जाना ही साधुता है। यदि सचमुच में सहज हो गये हैं तो परमपिता परमात्मा का सामीप्य भी सहज ही सुलभ हो जाता है। हम अपने स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। जितना ही असहज होते हैं 'स्व' से दूर होते जाते हैं। तभी तो साधु के सम्बन्ध में गुरुदेव कहते हैं

**“भली भई जो भय मिटा, टूटी कुल की लाज।
वे पर वही है रहा, बैठा राम जहाज॥
हरि जी भये जो केतकी, भंवर भये सब दास।
जहं जहं भक्ति निर्मला, तहं-तहं राम निवासा॥”**

ज्यों ही आप सहज होते हो, भय अपने आप मिट जाता है। अब भय के टिकने का कोई उपाय नहीं है। चूंकि जब तक भय है तब तक हरि नहीं है। दुनिया के सारे धर्म भय सिखाते हैं। देखो मन्दिर जाओ, पूजा अर्चना करो नहीं तो भगवान क्रोध करेंगे। नरक चले जाओगे। नर्क की यातनाओं का भी वर्णन है। बच्चा भयभीत है, युवक भयभीत है, वृद्ध का तो भयभीत होना स्वाभाविक है। मां बच्चों को भयभीत रखती है। कभी बिल्ली का भय, तो कभी कुत्ते से, तो कभी साधु बाबा से। जैसे-जैसे बच्चा बिल्ली, कुत्ते को जानने लगता है मां अड़चन में पड़ जाती है। चूंकि बच्चा भयभीत नहीं रहेगा तो बेहाथ हो सकता है। अतएव नई-नई तरकीबें सोचती है। वह तरकीब अदृश्य हो सकती है। अतएव कहती है सो जाओ, नहीं तो भकाऊं खा जायेगा। प्रेत खा जायेगा। अब बच्चा प्रेत से भयभीत हो सो जाता है। मां निश्चिन्त हो जाती है। इसी तरह हमारे पुरोहित पण्डित जनमानस को डराते हैं। जो समाज जितना ही डरता है, भयभीत है। वह उतना ही धर्मभीरू है। आप पायेंगे मन्दिर पर भीड़, मस्जिद में भीड़ या गुरुद्वारे में भीड़। ये सब भीड़ धर्मभीरू की है। तथाकथित धर्म से डरे हुए लोगों की है। उसमें एक भी निर्भीक व्यक्ति मिलना मुश्किल है। जबकि भययुक्त व्यक्ति धर्म को उपलब्ध हो ही नहीं सकता। अब अन्धकार कहे कि मैं तो रहूँगा ही एवं सूर्य के प्रकाश को उपलब्ध भी होना चाहता है। यह कैसे सम्भव है।

“निर्भय भय तहं गुरु की नगरियां।”

जहाँ निर्भय हुआ, वहीं गुरु का नगर है। वही परमपिता का नगर है। इसी से सद्गुरु कहते हैं कि जो भय पीछा करता था। वह अब मिट गया। बहुत अच्छा हुआ। अब इससे पीछा छूट गया। भय के मिटते ही कुल-खानदान की लज्जा भी टूट गयी। कई जन्मों से ढो रहा था। बहुत बेचैन था। मैं अमुक कुल का हूँ। अमुक खानदान का हूँ। अब वह भी टूट गया। भार हल्का हुआ। यह भार झेलना अत्यन्त कठिन है। मेरे एक मित्र हैं वे जहाँ जाते हैं बिना पूछे कहते हैं मैं अब संन्यासी हूँ। मेरे पिताजी बहुत बड़े प्रगाढ़ राजज्योतिषी थे। मैं भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण हूँ, इत्यादि। ये सब बिना पूछे एक स्वर में कह देते। एक दिन मैंने पूछा आपसे कौन पूछता है? वे बेचारे बोले- अरे स्वामी जी! आज कल शूद्र भी संन्यासी होने लगे हैं। लाल वस्त्र पहनते हैं। अब बताओ कहीं छू गया तब। मैं तो कहीं का नहीं रहूँगा। मैंने उनसे पूछा- संन्यासी बड़ा या जाति। संन्यासी होकर भी अपने लौकिक कुल को लेते आये तब बताओ आपका ही 'ब्रह्म सत्यम्। या जाति सत्यम्।' वे बोलते- ये तो हम लोग केवल उपदेश देते हैं न, अब आप

ही बताओ इसे कैसे छोड़ूं। कभी-कभी सोचता हूँ कि यह सब मिथ्या है, नहीं सोचना चाहिये परन्तु छूटता नहीं। कैसे छूटेगा? चूँकि अन्दर भय विराजमान है। जब निर्भय होते हो तो उसमें आपके तथाकथित कुल की तथाकथित मर्यादा, लाज टूट जाती है। मन चिन्ता से मुक्त हो जाता है। बहुत हो चुकी परवाह। बहुत हो चुकी चिन्ता, अब उससे भी बेपरवाह हो गया। अब तो राम नाम के जहाज पर ही बैठ गया। अब क्या चिन्ता, कहाँ भय, किस बात की लज्जा। यह जहाज तो अपने आप वहाँ पहुंचा देगा जहाँ हमारा गंतव्य है।

अब हम किस पुष्प को तोड़ें, किस हरि को चढ़ाएं। अब तो नज़र आने लगा कि हमारे हरि जी ही पुष्प हो गये। केतकी हो गये। मैं ही भंवरा हो गया। सभी साधु ही भंवरा हो गये। अब भक्ति अत्यन्त निर्मल हो गयी। पवित्र हो गयी। तब तक भक्ति निर्मल नहीं थी। जब तक कर्मकाण्ड था। चूँकि पहले अमुक मन्त्र ऐसे बोलें, अन्यथा दोष आएगा। पाप पड़ेगा। अमुक को ऐसे करो अन्यथा दण्ड भोगना पड़ेगा। यह भय था। अब हरि रूपी केतकी में ही मैं भंवरा बनकर सुगन्ध का रसास्वादन करने लगा। अब भक्ति निर्मल हो गयी। भक्ति के निर्मल होते ही राम का निवास हो गया। अब बात कुछ उल्टी हो गयी। पहले हरि रूपी पुष्प पर मैं भंवरा रूप से था। अब हरि ही सर्वत्र है। राम ही सर्वत्र है। मेरे रहने का कारण भी समाप्त हो गया। अब सर्वत्र राम का ही निवास नज़र आ रहा है।

साधु की महिमा

साधु की महिमा अनन्त है। इस तरह के साधु का घर-द्वार, आश्रम नहीं होता। मढ़-व मन्दिर नहीं होता। जहाँ रहता है, वहीं आश्रम है। जो साथ है वह सहयोगी है। जिस गर्भ से जन्म लेता है वह भी धन्य हो जाती है।

“धन्य सो माता सुन्दरी, जाको साधु पूत।

राम सुमरि निर्भय भया, अरु सब गया अऊता॥”

सब माँ सुन्दरी नहीं हैं। जिसका पुत्र साधु हो गया है वही सुन्दरी है और सबने तो पशु तुल्य ही बच्चे को जन्म दिया। पृथ्वी का बोझ बढ़ाया। सुन्दर वही है जो सत्य हो एवं शिव हो। जिसका पुत्र साधु हो गया हो व सत्य को प्राप्त कर लिया हो। शिव को प्राप्त कर लिया हो। सुन्दरता को उपलब्ध हो गया हो। वही माँ सुन्दरी है। वह साधु, राम का स्मरण कर निर्भयता को उपलब्ध हो गया। अब उसके सारे अऊत (ऊपरी बाधा) समाप्त हो गये। सारे उपद्रव गिर गये। अब कैसा उपद्रव। उपद्रव तो तभी तक था जब राम नहीं था। निर्भयता नहीं

थी। उसके आते ही उपद्रव स्वतः समाप्त हो जाते हैं। आगे कहते हैं

“कबीर कुल सोई भला, जा कुल उपजै दास।

जा कुल दास न उपजै, सो कुल ढाक पलासा॥”

जिस कुल में दास, (हरि भक्त) उपजता है वह कुल धन्य हो जाता है। उसी कुल की कीर्ति, ख्याति रह जाती है। जैसे राणा खानदान को कौन जानता? बहुत सारे कुल हुए मर गये। कीड़े-पतिगों की तरह चले गये। कौन याद करता है। परन्तु इस खानदान में मीरा हो गयी। अब यह कुल ही याद हो गया। जिस कुल में हरि भक्त उपजते हैं वह कुल धन्य हो जाता है। जिस कुल में हरि भक्त नहीं उपजते वह कुल ढाक-पलाश के तुल्य हैं। यदि अमृत की वर्षा भी हो तो ढाक-पलास में फल नहीं लगता। वह यों ही रहता है। जैसे **“भूरख हृदय न चेति, जो गुरु मिलहि विरंच सम्।”** यदि साक्षात् ब्रह्मा भी गुरु बन जायें तो मूर्ख के हृदय में चेतना का संचार नहीं हो सकता। अतएव कुल भी धन्य वही है जिसमें हरि भक्त का जन्म होता है।

“जा घर साधु सेवा नहिं, पार ब्रह्म पति नाहि।

ते घर मरघट सारिखा, भूत बैसे ता ढांहि॥”

जिस घर में भी ऐसे साधु चले जायें वह घर धन्य हो जाता है। उस घर का समझो भाग्य ही पलट गया। समझो सगुण रूप में पर ब्रह्म पिता परमात्मा का ही आगमन हो गया। जैसे शबरी के घर परमपुरुष आ गये। विदुर के घर कृष्ण आ गये। विदुर के घर भी गये। कर्ण के घर भी गये। परन्तु आप देखें कौन उनको उपलब्ध हुआ। ऐसे साधु की सेवा जिस घर में नहीं हो। परब्रह्म पर प्रतीति नहीं हो। वह घर, घर नहीं कहा जा सकता। उस घर में आदमी का निवास नहीं कहा जा सकता। वह घर अवश्य ही मरघट है। शमशान भूमि के समान है। जहाँ मुर्दे जलते हैं। भूत बसते हैं। वह घर चलते-फिरते मुर्दों का है। भूतों का है। इसी से अभी कोई घर, घर सा प्रतीत नहीं होता। यदि वह घर-सा रहेगा तो घर एवं आश्रम में कोई अन्तर ही नहीं। घर एवं शमशान में अन्तर अवश्य है। सभी घर में भूत डेरा डाल दिए हैं। इसी से अभी ओझा गुनी की बाढ़ आ गयी है। चूँकि घर-घर में भूत आ गये हैं। **“भूतवा के पूजि सो भूतवा होई।”** जो भूत का पूजन करता है वह भी भूत योनि को ही प्राप्त होता है। इसी से घर-घर में भूत फैल गये हैं। जो उस घर में रहते हैं। वे भी चलते-फिरते प्रेत ही हैं। समान गोत्र जाति के एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। यदि आप में परब्रह्म को पहचानने की क्षमता है। उसमें प्रीति है तो उसकी सेवा आप अवश्य करेंगे। तब प्रेत आपके घर में कैसे निवास कर सकते हैं। यह तो आप पर निर्भर

करता है कि आप घर को प्रेत का निवास स्थान बनाना चाहते हैं या साधु का या परब्रह्म का। इसके लिए आपको स्वतंत्रता है।

**“साकट ब्राह्मण मति मिलो, साधु मिले चण्डाल।
जाहि मिले सुख उपजै, मानो मिले दयाल॥”**

साधु की जाति नहीं होती। वह तो ब्रह्मस्वरूप ही होता है। वह ब्रह्म की ही जाति हुआ फिर भी लौकिक दृष्टिकोण से भी भक्त भगवान् से सप्रेम प्रार्थना करता है कि हे भगवान! आप हम पर कुछ भी प्रसन्न हो तो साकट ब्राह्मण मत मिलने दो। साकट ब्राह्मण, हिंसक ब्राह्मण, मांसाहारी ब्राह्मण, व्यभिचारी ब्राह्मण का दर्शन मत होने दो। यदि दर्शन ही देना है तो भले ही चाण्डाल कुल में उत्पन्न साधु का ही दर्शन दो। रविदास के चलते ही मीरा कृष्ण को प्राप्त कर गयी। चाण्डाल सदना कसाई परब्रह्म परमेश्वर को उपलब्ध हो गये। वाल्मीकि लव-कुश के गुरु हुए। इनके मिलने से सुख उपजता है। जैसे **“सूखत धान पराजस पानी”** धान सूख रहा हो। वर्षा हो जाये। वह धान की फसल लहरा उठती है। उसी तरह इन साधु के दर्शनमात्र से सुख उपज जाता है। मानो दीन-दयाल ही मिल गये। अब दीन की दीनता को दयालुतावश हरण कर लिए।

**साधु आवत देखि के, चरणो लागो धाय।
क्या जानो यह भेष में, साहब ही मिलि जाये॥
साधु आवत देखि कर, हैंसी हमारी देह।
माथे का ग्रह ऊतरी, नैनन बड़ा स्नेह॥
आवत साधु न हरषिया, जात न दीया रोय।
कहै कबिरा वा दास की, मुक्ति कहाँ ते होय।।**

सद्गुरु कहते हैं कि कहीं आपको रात्रि विश्राम ही करना हो तो साधु की झोंपड़ी ही अच्छी है। जहाँ आपको ज्ञान-वैराग्य तो मिलेगा। दिल-दिमाग शान्त तो रहेगा। आप चैन का श्वास तो ले सकते हो। जहाँ आपका केवल हित है। अहित की सम्भावना है ही नहीं। लेकिन साकट का गांव में क्या ठिकाना है? वहाँ रहने का आराम तो मिल सकता है? परन्तु क्या ठिकाना हम वापस भी लौटें या नहीं। इसी तरह चन्दन की कुटकी ही अच्छी है। छोटी लकड़ी अच्छी है। जिसको घिसकर सर पर रखें तो शीतलता तो देगी। सुगन्ध तो देगी। क्या करेंगे बबूल के जंगल को। जहाँ विश्राम करने जायें तो भी काँटा ही चुभेगा। टहलने निकले तो पैर से खून ही निकलेगा।

साधु को यदि आपने देख लिया कि वह आ रहा है तो सोचने-विचारने की जरूरत नहीं। ग्राम नाम पूछने की जरूरत नहीं। दौड़कर चरणों में लिपट जाओ।

अन्यथा सन्देह में, शंका में ही समय बर्बाद हो जायेगा। पता नहीं इसी भेष में साहब (परम पिता) ही हों। अतएव पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास से उनके चरणों में लिपट जाओ। ऐसे साधु को आते देखकर भक्त की देह, शरीर स्वतः ही हँसने लगती है, प्रफुल्लित हो जाती है। माथे पर बहुत बोज़ रूपी ग्रह जो लिए फिर रहा था। वह अब उतर जाएंगे ही नहीं, उतर गए। नैन में स्वतः स्नेह उमड़ पड़ा। प्रेम से भर गया। जब आँख में प्रेम भर ही गया तब अब ग्रह रूपी बोज़ सिर पर कैसे रहेगा। यदि साधु को आते देखकर भी दिल हर्षित नहीं हुआ एवं जाते समय दिल रो नहीं दिया तो उस भक्त की मुक्ति कैसे होगी। चूँकि मुक्ति का मालिक वह साधु आया एवं गया आप पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा तो आपकी कैसे मुक्ति होगी। असम्भव है।

**“वेद कथत ब्रह्मा थके, थके जु शेष महेश।
गीता हूँ की गम नहीं, सन्त किया प्रवेश॥
तीर्थ न्हाये एक फल, साधु मिले फल चार।
सद्गुरु मिले अनेक फल, कहै कबीर विचार॥
दर्शन कीजै साधु का, दिन में कई-कई बार।
आसोजा का मेह ज्यों, बहुत करै उपकार॥
हरि सा तू मति हेत कर, कर हरिजन सो हेत।
माल मुल्क हरि देत है, हरिजन हरि हि देत॥”**

सन्त शान्त हो जाते हैं। उनका प्रवेश शान्ताकार में हो जाता है। वे आनन्दचित्त हो जाते हैं। ब्रह्मा वेद (ज्ञान) कहते थक जाते हैं। ब्रह्म को उपलब्ध नहीं होते। शेष, महेश भी ज्ञान कहते-कहते थक गये। शान्त नहीं हो पाये। जो शान्त हो जायेगा वह थकेगा कैसे? थकता तो है वह जो अशान्त हो। तीर्थ नहाने से तो एक फल मिलता है। शरीर शुद्ध होता है। धर्म मिलता है। परन्तु यदि साधु मिल गया तो क्या पूछना है। चारों फल अनायास अपने आप मिल जाते हैं। जिसके लिए जन्म-जन्म मुनि जप-तप करते हैं, मनन करते हैं तब भी नहीं मिलता। परन्तु साधु के मिलने पर चारों फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष स्वतः ही मिल जाते हैं।

सद्गुरु मिल जाये तो फिर क्या पूछना है। उनका फल तो अनन्त है। चूँकि सद्गुरु तो स्वयं अनन्त हैं। वे तो अनन्त से ही जोड़ देते हैं। इसी से कहा गया है कि साधु के दर्शन में विलम्ब मत करें। जैसे उद्यम रहित मनुष्य लक्ष्मी से वंचित रहता है वैसे ही साधु दर्शन से वंचित मनुष्य चारों फलों से। यदि सम्भव हो तो साधु पुरुष का दिन में कई-कई बार दर्शन करो। इस साधु रूपी सद्गुरु को

मन के मन्दिर में बैठा लो। चलते, फिरते, घूमते दर्शन करते रहो। जैसे स्वाति का बादल बरसता है तो केला में पड़ने पर कपूर, बाँस में पड़ने पर बंसलोचन एवं सीप में पड़ने पर मोती बनता है। उसी प्रकार साधु रूपी बादल बरस कर हमारे ऊपर बहुत उपकार करता है। इनका उपकार अनन्त है। इसी से तो आगे कहते हैं हरि से हेत करने (सम्पर्क करने) की कोई जरूरत नहीं है। यदि हरिजन से प्रेम हो गया तो काफी है क्योंकि हरि तो माल एवं मुल्क ही देगा। हरि प्रसन्न होने पर लक्ष्मी एवं राज्य प्रदान कर सकता है परन्तु हरिजन तो हरि को ही दे देता है। हरिजन से प्रेम करना श्रेयस्कर है। हरि तो पीछे अपने आप आ ही जायेगा।

सद्गुरु के बिना तप अहंकार लाता है

इन्हीं प्रसंगों में एक कथा याद आ रही है। यह श्रीमद् भागवत पुराण की कथा है। राजा अम्बरीष अपने घर को ही आश्रम बना चुके हैं। प्रजा को ही शिष्य बना चुके हैं। पत्नी-पुत्र को अपनी साधना पथ के सहयोगी। ये साक्षात् हरिजन हो गये। तभी तो साहब कहते हैं

“हरि से तो हरिजन बड़े, समुझि देखु मन माहि।

कबिरा सब जब हरि विर्ष, सो हरि हरि जनमाहि॥”

हरिजन हरि से भी बड़े हैं। यह कहने एवं सुनने से ज्ञात नहीं होगा। अपने मन के अन्दर मनन करने पर मालूम होगा। मन के अन्दर झाँकने पर दिखाई पड़ेगा। जब सब में हरि ही बस रहा है, सब जगह ही हरिमय है परन्तु उस हरि का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते हो, तो हरिजन के दर्शन कर लो। साधु में देख लो। वहाँ वह सगुण रूप में प्रत्यक्ष विराजमान है। भले आप जंगल चले जाओ। योग-जाप कर लो। एक पैर पर खड़ा रहकर, एक हाथ ऊपर उठाकर तप कर लो। अहंकार तो आ जायेगा। हरि हाथ नहीं आयेगा। प्रेम हाथ नहीं आयेगा। करुणा हाथ नहीं लगेगी। सिद्ध बाबा हो सकते हो। श्राप-आशीर्वाद दे सकते हो। पूजा हो सकती है परन्तु प्रेम का निर्झर आप से नहीं निकल सकता। ऐसे ही तपस्वी थे परशुराम, दुर्वासा। ऐसे ही तपस्वियों से भारतीय पुराण भरे पड़े हैं। जरा-सा कुछ हुआ नहीं कि क्रोध धधक उठा। जरा-सा चोट लगी नहीं कि काम बाहर बदनसूरत होकर आ गया। ऐसे ही ऋषि थे च्यवन, सौभरी। तप करते गए। तपस्वी बाबा हो गये। संसार में ख्याति हो गयी। सुकन्या रूपी अबोध लड़की को देखते ही काम कुरूप होकर बाहर निकल आया। मछली को देखकर सौभरी का काम बाहर आ गया। जितना अपने तथाकथित रूप से संसार का

भला नहीं किया उससे ज्यादा इस संसार का अनिष्ट कर दिया। अपने तप का प्रभाव दिखाकर, अपने श्राप का भय दिखाकर, अपनी सिद्धियों का लोभ दिखाकर। इस तरह के नमूने वर्तमान में भी कम नहीं हैं। इनकी संख्या में वृद्धि हो रही है। खैर हर समय साधु-पुरुष, सद्गुरु की संख्या नगण्य ही रही है। जिन्हें पहचानना संसार एवं संसारी के लिए अत्यन्त कठिन है। चूँकि मानव ने सदा से असहजता में विश्वास किया है। सहजता से मानो उसे बैर है। वह सोचता है सद्गुरु कहीं जल में खड़ा तप करता होगा। कहीं गर्मी में पंचाग्नि लेता होगा। कहीं हिमालय की बर्फ में नंग-धड़ंग खड़ा होगा। वह इस संसार में क्यों आयेगा? क्या जरूरत है जो हमारे साथ है, सहजता से है फिर उसमें हममें क्या अन्तर है। कभी भी उसके अन्तर तल में उतरने की हिम्मत नहीं करते। बस साधारण, अति साधारण व्यक्ति समझकर उससे दूर ही रहना चाहते या उपेक्षा करने या समय पर निन्दा करने से भी नहीं बाज आते। कहते हैं वह महात्मा बनता है। कबीर, नानक, दादू, पलटू, राम हो या कृष्ण। बताओ इनमें क्या विशेषता है। इनका भी घर है, परिवार है, बच्चे हैं, कामधन्धा है। बहुत बनता है, भगवान का नाम लेकर ठगता है। अपने को साधु कहता है। यह तो ढकोसले वाला है इत्यादि प्रकार के व्यंग रूपी बाणों से व्यथित करने का प्रयत्न करते हैं। कभी उसके नज़दीक जाकर उसकी आँखों में झाँकने तक की कोशिश नहीं करते। इस प्रकार समय चूक जाते हैं। जब वह महामानव यहाँ से जा चुका होता है। बस पछतावा हाथ लगता है। चूँकि हम जीवन-भर तो दौड़े, वहाँ, जहाँ कुछ नहीं था। हाथ लगा भी तो क्रोध, काम, लोभ, अहंकार। ऐसे ही साधु पुरुष थे राजा अम्बरीष। जिन्हें लोग पहचानते नहीं थे। जन-साधारण तो क्या ऋषि दुर्वासा तक नहीं पहचाने। एक अतिसाधारण व्यक्ति से जो व्यवहार अपेक्षित है, वह भी अम्बरीष से नहीं किया गया। सद्गुरु जैसे ही शिष्य में उतरता है। उसकी ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। अन्यथा वह काम केन्द्र मूलाधारचक्र स्वाधिष्ठान चक्र पर ही घूमता रहता है। उसका दमन होता है। जो अवसर पाते ही बाहर निकल आता है। ऋषि का सारा तप क्षणभर में स्वाहा हो जाता है। सद्गुरु इसी काम को ब्रह्मचर्य में बदलने की कला प्रदान करता है।

राजा अम्बरीष-दुर्वासा

राजा अम्बरीष अतुलनीय ऐश्वर्य से पूर्ण सातों द्वीपों पर राज करते थे परन्तु समस्त सम्पत्ति मिट्टी की तरह उन्हें ज्ञात होती थी। चूँकि वे वीतरागी हो गये थे। धर्मात्मा थे ही अतएव उनके राज्य की प्रजा भी स्वर्ग की इच्छा नहीं करती

थी। वे अपने अन्तःकरण में अनन्त प्रेम दान करने वाले प्रभु का ही नित्य-निरन्तर दर्शन करते रहते। इसलिए उन लोगों को वह भोग सामग्री भी हर्षित नहीं कर पाती थी जो बड़े-बड़े सिद्धों, तपस्वियों को भी दुर्लभ है। वे वस्तुएँ उनके प्रेमानन्द के सामने अत्यन्त तुच्छ और तिरस्कृत थीं। वे जल में कमल की भाँति राज्य करते थे। एक बार राजा अपनी पत्नी के साथ द्वादशी प्रधान एकादशी का एक वर्ष तक व्रत किये। एकादशी यानी पाँच कर्म इन्द्रिय, पाँच ज्ञान इन्द्रियों को संयमित कर ग्यारहवें मन को शान्त करना ही वास्तविक एकादशी हुई। जब मन शान्त हो जाता है तब यह मन मानसरोवर बन जाता है जिससे प्रेम का शीतल निर्झर अपने आप निकल आता है। प्रेम से लबालब होने पर बारहवीं आत्मा अपने आप साकार हो जाती है। भक्त अब आत्मानन्द में डुबकी लगा लेते हैं। अब **“बूँद समाना समुद्र में।”** बूँद महासमुद्र में विलीन हो जाती है। वह प्रभुस्वरूप हो जाता है या प्रभु ही उसमें आ जाते हैं। **“समुद्र समाना बूँद में”** भी हो जाता है। अम्बरीष इसी द्वादशी प्रधान एकादशी का व्रत करते थे। व्रत की समाप्ति पर साधु महात्माओं को आमन्त्रित कर दान-दक्षिणा देकर स्वयं भी प्रसाद ग्रहण करने जा रहे थे। तब तक सूचना मिली कि ऋषि दुर्वासा आ गये हैं। राजा साधु पुरुष थे। अतएव अपने स्वभाव-वश तुरन्त दौड़ते हुए, नंगे पाँव गये एवं दुर्वासा जी के पैर पकड़ लिए। उनकी पूजा-अर्चना की। चरणामृत लिया। प्रसाद पाने का आग्रह किया। दुर्वासा जी यानी दूर वासा अर्थात् तप तो किया परन्तु उनका वास दूर हो गया, परमात्मा से। जाप तो किया, यज्ञ तो किया परन्तु परमात्मा से दूर होते गये। हो गये दुर्वासा। अम्बरीष उपवास में थे। उपवास यानी नजदीक वास, निवास करना अर्थात् वे परम-पुरुष के सान्निध्य में निवास कर रहे थे। जिनकी हर वाणी से अमृत की वर्षा होती थी। इसी से ये थे अम्बरीष। साधु पुरुष। दूसरी तरफ उच्च कुल में आकर भी, गृह त्याग कर भी, कठोर तप कर के भी, शरीर जलाकर भी, परम पुरुष से दूर थे, दुर्वासा जी। तब कैसे पहचानेंगे साधु पुरुष को। किन आँखों से देखेंगे सद्गुरु को। संसार भी तो यही निर्णय करेगा कि दुर्वासा ही है वास्तविक साधु चूँकि उसके पास उसी तरह की कसौटी ही है।

दुर्वासा जी अपने स्वागत से खुश हुए कि इतना बड़ा सम्राट हमारे पैरों को धो रहा है, चरणामृत पी रहा है। अहंकार को भोजन मिल रहा था। अतएव वे बोले राजन भोजन की व्यवस्था करो। मैं जमुना में स्नान कर आ रहा हूँ। दुर्वासा जी स्नान करने गये तो विलम्ब करने लगे चूँकि इन्तजार कराने में भी मजा आता है। इधर एक वर्ष का द्वादशी व्रत बीतने जा रहा था। राजा ने साधु-महात्मागण

ब्राह्मण से परामर्श किया। हालाँकि सब कुछ जानते हुए भी परामर्श किया। महाराज दुर्वासा अभी तक स्नान कर नहीं आए अब द्वादशी एक घड़ी है समाप्त होने पर क्या करें? महात्मागण ने उन्हें सलाह दी महाराज दुर्वासा है क्रोधी ब्राह्मण। अतएव आप जल ग्रहण कर लें। जल पारन में आ भी जायेगा एवं नहीं भी आयेगा। आपका द्वादशी का व्रत पूरा हो जायेगा। दुर्वासा जी भोजन भी कर लेंगे। ऐसा ही राजा ने किया। दुर्वासा जी आ गये एवं सोचा कि राजा ने अपना व्रत पूरा करने हेतु जल पी लिया। व्रत पूरा कर लिया। वे क्रोध से थर-थर काँपने लगे। भौहें चढ़ जाने से उनका मुँह विकट हो गया। उन्होंने हाथ जोड़कर खड़े अम्बरीष से डाँटकर कहा

**“अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत्।
धर्मव्यक्तिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः॥”**

“अहो। देखो तो सही, यह कितना क्रूर है, यह धन के मद में मतवाला हो रहा है। भगवान की भक्ति तो इसे छू तक नहीं गयी। यह अपने को बड़ा समर्थ मानता है। आज इसने धर्म का उल्लंघन करके बड़ा अन्याय किया है। देखो, मैं इसका अतिथि होकर आया हूँ। इसने अतिथि-सत्कार करने के लिए मुझे निमन्त्रण भी दिया किन्तु फिर भी मुझे खिलाये बिना ही खा लिया।” अच्छा देख अभी इसका फल चखाता हूँ। यों कहते-कहते वे क्रोध से जल उठे। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और उससे अम्बरीष को मार डालने के लिए एक कृत्या उत्पन्न की। वह प्रलयकाल की आग के समान दहक रही थी। वह आग के समान जलती हुई हाथ में तलवार लेकर राजा पर टूट पड़ी। उस समय उसके पैरों की दमक से पृथ्वी काँप रही थी। दुर्वासा अब मुस्कुरा रहे थे। उनका क्रोध पूरा हो रहा था परन्तु राजा अम्बरीष देखकर भी उससे तनिक विचलित नहीं हुए। वे एक पग भी नहीं हटे। ज्यों के त्यों खड़े रहे। भक्त को क्या अन्तर पड़ता है वह तो सबको उसी परम-पिता का ही समझता है। अतएव कृत्या से भय की भी कोई बात नहीं। वे “स्व” में सहज ही स्थिर थे। उनके शरीर से ही सुदर्शन (दिव्य ज्योति) चक्र निकला जिसमें देखते-ही-देखते कृत्या जलकर भस्म हो गयी। कृत्या को जलते हुए देख दुर्वासा विचलित हो गये। अब देखते हैं वह दिव्य-ज्योति रूपी चक्र, जो अत्यन्त ही सुन्दर है जिसके दर्शन का भी फल है। वह चक्र सुदर्शन उनकी तरफ बढ़ रहा है जिसको देखने में उनकी आँखें असमर्थ थीं। जिसकी गर्मी भी वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। अतएव भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं। जब कोई अनाड़ी साधक भी उस दिव्य प्रकाश को एकाएक देखता है तो चकाचौंध होकर विक्षिप्त हो जाता है। भागने के अलावा कोई रास्ता नहीं होता। वे भी भागकर अपने पिता ब्रह्मा के यहाँ आते हैं एवं बचाने की गुहार लगाते

हैं। ब्रह्मा कहते हैं तूने उस साधु पुरुष का अहित किया, मैं कुछ नहीं कर सकता। वह जिस पुरुष को उपलब्ध है। मैं भी नहीं प्राप्त कर सका हूँ। अतएव तुम्हारी मदद हम नहीं कर सकते। वे भागकर शिव के पास जाते हैं। वह भी मदद करने से मना कर देते हैं। परम-पुरुष के खिलाफ कौन मदद करेगा। अन्त में थककर विष्णु के यहाँ जाते हैं। विष्णु उन्हें सलाह देते हैं देवर्षि दुर्वासा आपको कोई भी देवता बचा नहीं सकता। यदि आप अपना बचाव एवं कल्याण चाहते हैं तो उसी साधु पुरुष अम्बरीष का चरण पकड़ लें। साधु को क्रोध नहीं होता प्रेम से परिपूर्ण होता है। अतएव बदले में वह आपको भी प्रेम ही देगा। आप समय बरबाद न करें। लौट जायें अम्बरीष से ही प्रार्थना करें। वह क्षमा कर देंगे। क्षमा क्या करेंगे? वे तो क्रोध ही नहीं करते। क्रोध तो आपको है। आपके क्रोध का परिणाम ही आपका पीछा कर रहा है।

दुर्वासा जी विष्णु की उक्ति सुनकर लौट आये। राजा अम्बरीष के पैर पकड़कर अत्यन्त दीन भाव से बोले, हे साधु पुरुष हमें क्षमा कर दो, क्षमा कर दो। यह देख राजा अम्बरीष अत्यन्त दुखी हुए। हमारे ही चलते यह तपस्वी ब्राह्मण इस गति को पहुँचा। बड़े जन हर समय दोष अपने में देखते हैं। अतएव उन्होंने परम पिता का ध्यान कर प्रार्थना की, हे परमात्मा! इन्हें माफ कर दो। यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया है तो इन्हें माफ कर दो। हालाँकि हम अभी तक कोई पुण्य कार्य तो किये नहीं फिर भी हे भगवान! आप धर्म के रक्षक हो, इन्हें माफ कर दो।

**“यदि जो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥”**

यदि मैंने समस्त प्राणियों की आत्मा के रूप में उन्हें देखा हो और वे मुझ पर प्रसन्न हों, तो दुर्वासा जी के हृदय की सारी जलन मिट जाये। इतना कहते ही वह प्रकाश राजा अम्बरीष में ही समाहित हो गया। दुर्वासा की जलन समाप्त हो गयी। भयमुक्त हो गये। जब भी कोई व्यक्ति अहंकार त्याग कर समर्पण भाव से, श्रद्धा के साथ साधु पुरुष की शरण में जाता है। त्रिविध ताप से मुक्त हो जाता है। शीतलता आ ही जाती है, शान्त हो ही जाता है। जैसे दुर्वासा अम्बरीष का शरणागत हुआ। जब दुर्वासा जी का मन शान्त हुआ तो उस साधु का गुणगान करते हुए कहते हैं

**“अहो अनन्तदासानं महत्त्वं दृष्टमहल में।
कृत्याग्यो पि यद राजन् मंगलानि समाहसे॥
दुष्करः कोनुसाधुनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्।
यैः संगृहीतो भगवान सात्वतामृषभो हरिः॥”**

धन्य है। आज मैंने भगवान के प्रेमी भक्त का महत्व देखा। राजन् मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिए मंगल कामना ही कर रहे हैं। जिन्होंने भगवान् के चरणों को दृढ़ भाव से पकड़ लिया है उस साधु पुरुष के लिए कौन-सा कार्य कठिन है? जिसका हृदय उदार है, वे महात्मा भला किस वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते। जिनके मंगलमय नामों के श्रवण मात्र से जीव निर्मल हो जाता है उन्हीं के तीर्थ पाद भगवान् के चरण कमलों के जो पास है, उनके लिए कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है। महाराज अम्बरीष। आपका हृदय करुण भाव से परिपूर्ण है। आप ने मेरे ऊपर महान अनुग्रह किया। अहो, आपने मेरे अपराध को भुलाकर मेरे प्राणों की रक्षा की है।

महात्मा अम्बरीष की शरण में जाने मात्र से दुर्वासा की बुद्धि शुद्ध हो गयी। मन शान्त हो गया। शान्त मन से उनकी स्तुति की। उनसे सत्संग सुना एवं माँगकर प्रसाद ग्रहण किया। तब वे आकाश मार्ग से ब्रह्म लोक चले गये। ऐसा वर्णन आता है। यानी इससे यह भी ज्ञात होता है कि आकाश मार्ग से गमन की शक्ति हो सकती है, ब्रह्म पुरी रह सकते हैं, सिद्धियों के स्वामी बन जाते हैं परन्तु साधु नहीं बन सकते हैं। जब तक कि आपकी सद्गुरु से भेंट न हो जाये। सम्भवतः दुर्वासा को अम्बरीष रूपी सद्गुरु का दर्शन हो गया। वह तो पहले भी था, बाद में भी। परन्तु दुर्वासा रूपी शिष्य तब तक मानने के लिए बाध्य नहीं होते जब तक कोई चमत्कार न देख लें। सीधे-सीधे साधु को कतई नमस्कार नहीं कर सकते। जबकि सद्गुरु किसी भी चमत्कार से कोसों दूर रहते हैं। वे तो सरल, सीधे, नवनीत की तरह हैं। तुम्हें पहचानने की क्षमता चाहिये। परन्तु पहचानने वालों की संख्या नहीं के बराबर है। तभी तो सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं

**“ऐसा कोई ना मिला, नाम भक्त का मीत।
तन मन सौंपे मिरगा, ज्यों, सुनि पायक का गीत॥”**

ऐसा कोई नहीं मिला, जिसे ईश्वर नाम से प्रीति हो। भक्ति हो। जो भी आया किसी-न-किसी दुःख के निवारण हेतु आया। आशीर्वाद या श्राप के लोभ से आया। “देश घूमो विदेश घूमो” शिष्य की खोज में देश-विदेश, गाँव की खोर में भी घूमा। ऐसा कोई नहीं मिला जिन्हें परमात्मा से प्रेम हो। यदि प्रेम होता तो वे अवश्य ही अपने तन (शरीर) मन को गुरु के चरणों में सौंप देते। जैसे मृग पायक का गीत सुनकर सुध-बुध खो देता है। अपने आपको पूर्ण रूप से उन्हें सौंप देता है। शिष्य यदि शरीर सौंपता भी है तो मन को अन्यत्र रखता है। मन को तो सौंपता ही नहीं। यदि एक क्षण के लिए भी साधक मन व शरीर को गुरु को पूर्ण-रूपेण सौंप दे, तो गुरु अपनाकर सम्पन्न कर सकता है। उसके

बाद शिष्य भी वह नहीं रहेगा जो एक क्षण पूर्व था। समर्पण की देर है। सद्गुरु के द्वारा तंत्र-विद्या को हस्तांतरित करने में विलम्ब नहीं है। वह तो तत्क्षण सम्भव हो जाता है।

साधु को दान

“कबीरा दर्शन साधु के, खाली हाथ न जाये।

यही सीख बुद्धि लीजिये, कहे कबीर समुझाया।”

साधु-पुरुष के दर्शन की अत्यन्त ही महत्ता है। साधु तो चलता-फिरता त्रिवेणी संगम है। हालाँकि वह संगम भी चाहता है कि ऐसे साधु-महात्मा मेरे यहाँ आयें, पैर अपना मेरे जल में धो लें, जिससे मैं भी लोगों के पापों को धोने में समर्थ हो सकूँ। साधु के दर्शन कभी भी खाली हाथ नहीं करने चाहिये। सद्गुरु अपने शिष्यों को शिक्षा दे रहे हैं कि भूलकर भी खाली हाथ मत जा अन्यथा खाली हाथ ही लौटना पड़ेगा। मिलता है उसी को जो कुछ देता है। देना भी हमारा भ्रम है। यह मालूम होता है कि हम दे रहे हैं जबकि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो वह घूमकर हमें ही लौटा रहा है। वह सूद समेत लौटा रहा होता है। यह हमारा अहंकार ही कहलाता है कि मैं कुछ दे रहा हूँ। हाँ दान देने वाले एवं दान लेने वाले की स्थिति पर भी निर्भर करता है। पहला प्रश्न होता है दान देने वाला कैसा है? किन कर्मों का धन दान दे रहा है? दान देने की क्षमता रखता भी है या नहीं? जो स्वयं भूखा है वह दूसरों को कैसे खिला सकता है? जो स्वयं दीन-हीन, अकिंचन है। वह दान कैसे दे सकता है?

“द्रव्यहीन जैसे पुरुषार्थ मनही माहि तवाई हो।”

दरिद्रता सम दूसरा दुःख भी नहीं है। अतएव मानव को अपने पर भरोसा कर कर्म करना चाहिये। जिससे वह स्वावलम्बित हो सके। आप सर्वसमर्थ हो। स्वयं शक्तिमान हो। उठो अपने को पहचानो। कब तक दूसरे का मुँह देखते रहोगे।

“करूँ बहियाँ बल अपनी छाड़ विरानी आस।

जाके अँगना नदी बहे, सो कस मरे पियासा॥”

परम पिता परमात्मा ने वह सब कुछ आप में दिया है जो आप दूसरों में देखते हैं। आपने अपनी शक्ति कभी देखी नहीं। हर समय दूसरों की आस में हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहे। यह उसी तरह की बात है जैसे किसी के आँगन में ही नदी बह रही हो एवं कहे कि मैं प्यासा मर रहा हूँ। आपके अन्दर सब कुछ है। मात्र आपको पुरुषार्थ करने के लिए आगे आना है। आप वैध तरीकों से रोजी-रोटी कमाने को स्वतंत्र हैं। अवैध तरीका अपनी ही मनुष्यता के खिलाफ

है। जैसे गबन, रिश्वत, चोरी, अपहरण, नाप-तौल में कमी, अश्लीलता वाले कारोबार, नशा सम्बन्धी व्यापार। साथ ही ऐसा कोई भी कार्य जो मानवता के हित में नहीं हो, नहीं करना चाहिये। साथ ही कमाये हुए धन का उपयोग भी भोग-विलास में करना उचित नहीं है। अन्यथा धन का दुरुपयोग हो जायेगा। जब भी भटका हुआ समाज धन कमाना अपना उद्देश्य समझा। तब-तब धन के लिए युद्ध हुआ। धन का उपभोगकर्ता मारा गया। मानवता सिसक उठी। अनाचार, व्याभिचार, दुराचार का साम्राज्य स्थापित हुआ। इससे यह उचित है कि “धन कमाने एवं खर्च करने में पवित्रता रखनी ही होगी।”

धन-सत्य, न्याय, सेवा, कल्याण और परहित को ध्यान में रखते हुए पवित्र साधनों से कमाया जाये और जनता के कल्याण में व्यय किया जाये।

अब प्रश्न उठता है विश्व कल्याण, जन-कल्याण किसके हाथ में सम्भव है? वह सम्भव मात्र “नवसद्विप्र” ही कर सकता है जो साधक है साधना सम्पन्न है। कुपात्र को दिया गया दान भी अत्यन्त खतरनाक है। अतएव दाता सोच ले, समझ ले कि यह किस हद तक समाज का कल्याण कर सकता है। क्या इस धन का उपयोग स्कूल के बच्चों में होगा? दीन-दुखियों में होगा? तपस्वी महात्माओं के आवास भोजन में होगा या पुरोहित वर्ग इसे लेकर पुर का हित न कर अहित तो नहीं कर रहा। ऐश-आराम, भोग-विलास में तो नहीं खर्च कर रहा है। यह विचारणीय प्रश्न है। जब मालूम हो गया कि दान लेने वाला सुपात्र है। कल्याणमूलक है। निःस्वार्थी है। परमार्थी है। फिर क्या पूछना है उसे जो भी दिया जाये कम ही है। देने वाले का भी धन एवं कीर्ति दिन दुगुनी रात चौगुनी बढ़ती है। तभी तो ऋग्वेद में कहा गया है

“उतो रथिः पृणतो नोपदस्यति।”

अर्थात् दान देने से सम्पदा घटती नहीं है अपितु दान की नींव पर निरन्तर बढ़ती जाती है। सत्कर्मों में लगाया गया धन उसी तरह सुरक्षित है जैसे बैंकों में धन जमा रहता है। जो व्यक्ति अपना धन साधु पुरुष को दान करता है, वह उससे उतना ही फल पाता है जितना कोई व्यक्ति जीवन-भर भगवान् की पूजा कर प्राप्त करता है। दान की जड़ पर खड़ा पेड़ निरन्तर हरा-भरा होता है। दान देने वाले समुदाय को आप गौर से देखें, उसका कारोबार निरन्तर अग्रगति से बढ़ता ही जाता है। वहीं उन लोगों को देखें जो अपने जीवन में कमाये और अपने ही जीवन में दरिद्र हो गये। धन का उपयोग दान में नहीं किया गया तो वह नाश को अपने-आप प्राप्त हो जाता है। इसी से ऋग्वेद आगे कहता है

“अदिस्सन्तं दपयतु प्रजानन।”

अर्थात् कंजूस व्यक्ति को भी दान देने के लिए प्रेरित करना चाहिये। चूँकि आप अपना धन दान कर सन्तुष्ट हो जायेंगे, तो कंजूस का क्या होगा? अतएव अपने शुभचिन्तकों, मित्रों को भी दान देने के लिए निरन्तर प्रेरित करना चाहिए। यह भी दान देने के ही बराबर है। अन्यथा अथर्व-वेद कहता है

“प्र पततः पापि लक्ष्मि।”

गलत ढंग से कमाया गया धन कुछ काल चमक-दमक रखता है। पुनः वह विनष्ट हो जाता है। इस तरह धन का सदुपयोग सुपात्र को दान देना ही है।

आगे सद्गुरु कहते हैं

**“खाली साधु न विदा करूँ, सुन, लीजै सबकोय।
सोई कबीरा भेंट धरूँ, जो तेरे घर होय॥
टुका माही टुक दे, चीन माँहि सो चीर।
साधु देत न सकुचिये, यो कह दास कबीरा॥
कंचन दिया कर्ण में, द्रौपदि दीया चीर।
जो दिया सो पाइया, ऐसे कहैं कबीरा॥”**

जब हम कुछ देते हैं तब वही अंक बनकर बाएं स्थित हो जाता है। साधु पुरुष या परमात्मा जो हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं। उससे शून्य निकलता है। यदि हमने एक दान दिया तब शून्य से दस हो जाता है। दस दिया तो सौ या हजार लाख हो सकता है। यदि कुछ नहीं दिया तब आपकी सम्पत्ति शून्य के बाद लगती है। तब उसकी कीमत घटती जाती है। यही कारण है कि कृपण की सम्पत्ति एक दिन घटते-घटते नाश हो जाती है।

जो हो, उसी के अनुसार आप दें। परन्तु देने में संकोच मत रखें। सन्देह मत करें। जो आप देंगे उससे कई गुणा आपको लौटेगा ही। इसे वृथा नहीं जानना चाहिये। इसका प्रमाण वेद, पुराण, इतिहास में भी है। जो राजा दानी सत्कर्मों रहा। उसका अक्षय राज्य रहा है। जो राजा कृपण कामी रहा उसका राज्य विनष्ट हो गया।

“कहे कबीर सुनो तो सन्तो, ज्यों आवे त्यों फेरी हो।”

धन जैसे आता है वैसे ही दान देना श्रेयस्कर है। मैंने एक कहानी पढ़ी है। एक भिक्षुक प्रतिदिन भिक्षा माँगता था। दिन-भर परिश्रम करता तो उसे सवा किलो ही अन्न मिलता। जीवन का तीन हिस्सा निकल गया था। किसी तरह दोनों प्राणी जीवन गुज़ार रहे थे। एक दिन सोचा यदि राजा हमसे मिल जाते तो मैं उनसे भिक्षा माँग लेता फिर पूरा जीवन आनन्द से रहता। इस तरह की धारणा बलवती होती गयी। राजा कब मिलेगा, कहाँ मिलेगा। एक दिन संयोग

ही था। वह घर से निकला था सुबह-सुबह। जब भिखमंगे घर से निकलते हैं तो अपनी झोली में एक मुट्ठी चावल के कण रख लेते हैं। खाली नहीं निकलते, अन्यथा? बात बिगड़ जायेगी। उसने भी ऐसा ही किया था। जब राजमार्ग पर आया तो सुना कि राजा निकलने वाला है। बहुत लोग राजा के दर्शनार्थ राजमार्ग के दोनों तरफ खड़े थे। वह भी भीड़ में खड़ा हो गया। सोचने लगा हे परमात्मा आज हमें मिला दो जिससे मैं कुछ माँग सकूँ। यह सोच ही रहा था कि राजा का रथ अचानक भिक्षुक के सामने आकर रुक गया। राजा रथ से उतरा एवं अपना गमछा फैलाये हुए बोला बाबा कुछ दान कर दो। देखो मैं महल से निकला हूँ। राज्य में अकाल पड़ गया है। समाज का हित होगा। कुछ भी दान कर दो। देखो न मत करना। जो हो वही दान करो। वह भिक्षुक सोच भी नहीं सकता था कि राजा ही हमसे माँगेंगा। भिक्षुक तो माँगने का आदी था आज तक कभी दिया नहीं था। देना उसके लिए अनहोनी घटना था। कैसे दे। वह मुट्ठी झोली में रखे चावल का एक-एक दाना बीन रहा था। सोच रहा था यदि एक दाना भी दिया तो एक कम हो ही जायेगा। किकर्तव्यविमूढ़ हो गया। इधर राजा कहता जा रहा था, बाबा कुछ भी दे दो ना। भगवान् मंगल करेगा। भिक्षुक ने अनमने भाव से एक चावल का दाना उसकी झोली में डाल दिया। वह राजा जय-जय करते हुए रथ पर बैठकर चल दिया।

आज भिक्षुक पूरे दिन उदास था। शाम को घर लौटा। उसकी पत्नी देखकर खुश हुई। आज तो आप लगभग दस किलो चावल लाये हो। आज तो खुश होना चाहिये। उदास क्यों हो। वह उदास भाव से बोला क्या कहूँ एक चावल कम है। राजा ने हमसे ही भीख में माँग लिया। यदि एक चावल नहीं दिया होता तो एक दाना ज्यादा न होता। जब उसकी पत्नी ने चावल को पात्र में रखा तो देखा एक चावल का दाना सोने का था। वह बोली देखो जी यह क्या है? क्या यह सोना है? हम लोगों ने जीवन भर सोना तो देखा नहीं। देखो जरा, गौर से। वह भिक्षुक सोने के चावल को देखकर और दुःखी हो गया। काश! मैंने पूरी मुट्ठी चावल दान में दिया होता।

यही स्थिति सबकी है। आप जहाँ जाते हो, माँगते हो। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे माँगते हो भीख, देते कुछ भी नहीं। एक बार माँगो नहीं परन्तु देकर तो देखो! परमपुरुष को दिया गया दान, अक्षय होता है। विष्णु पुराण कहता है कि कथा वाचक, मन्दिर के पुजारी, वैद्य, ज्योतिषी कर्म-काण्डी को दान मत दो। चूँकि यह इन लोगों का व्यापार है। जो व्यक्ति ध्यान धारणा करता है। चाल चरित्र का निर्माण करता है। समाज सेवा में तत्पर है, उन्हीं से दीक्षा ग्रहण करो और दान दो। आपका दान फलदायी होगा।

विश्वमित्र का यज्ञ

महर्षि विश्वमित्र सिद्धाश्रम में रहकर तप ध्यान करते हुए नित नये-नये विश्व कल्याणमूलक अनुसन्धान करने लगे। यह सिद्धाश्रम वर्तमान बक्सर था। जो चौरासी कोस में फैला था। पूर्व में सोन नदी तथा पश्चिम में मोहनियाँ जहाँ भगवान् ने मोहिनी रूप धारण किया था, फैला था। इनके साथ चौरासी हजार शिष्य रहते थे। इससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि कितने शिक्षक सेवक रहे होंगे। आज भी इतनी बड़ी संख्या वाला कोई भी विश्वविद्यालय नहीं है। उस विश्व-विद्यालय में सभी वर्गों के छात्र योग्यतानुसार शिक्षा ग्रहण करते थे। जिसके कुलश्रेष्ठ थे विश्वमित्र। इस विश्वविद्यालय में देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, किन्नर संस्कृति के लोग भी विद्याध्ययन करते रहे। यह विद्यालय मानवता का प्रतीक बन गया। इसकी ख्याति त्रिलोक में शीघ्र ही फैल गयी। सभी अपने बच्चों का दाखिला इस विद्यालय में कराना चाहते थे, जिसका परिणाम था आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक, शारीरिक विकास।

यह विद्यालय प्रेम का निर्झर बन गया जिसमें सभी समभाव से स्नान कर सुस्वादु एवं सुरुचि जल का पान करते। सभी विषमता का परित्याग कर प्रेम के आलिंगन में बद्ध हो गये। यह भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इतने विशाल विद्यालय का खर्च कैसे चलता था? क्या अयोध्या या काशी, मगध जैसा छोटा राज्य इसका खर्च वहन कर सकता था? यह कदापि सम्भव नहीं था। आखिर खर्च चलता कैसे था? क्या भिक्षाटन से। बहुत सोच-विचार के पश्चात् यही ज्ञात होता है कि इसके खर्च के लिए विश्वमित्र ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था। इनका राज्य ही इस आश्रम हेतु अर्पित था। जिसके विश्वविद्यालय में अनेक छात्र पढ़ते थे। वे समभाव शिक्षा के प्रेमी थे। वे अहिंसक थे। अतएव वे भी हिंसापूर्ण यज्ञ का विरोध करते रहे। ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि उन्होंने कभी किसी भी प्रकार की हिंसा (हत्या) करी हो हों, देवर्षि एवं देवगण अवश्य हिंसा करते एवं ऐसे ही यज्ञों का अनुष्ठान करते, कराते। जिसका वे भरपूर विरोध करते अंत में इस तरह के यज्ञ बन्द ही हो गये। महर्षि विश्वमित्र की कीर्ति तीनों लोकों में समभाव से फैल गयी। सभी इनकी स्तुति वन्दना करने लगे।

“सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः” के अनुसार गायत्री यज्ञ के साथ ज्ञान यज्ञ के प्रचार-प्रसार ने जोर पकड़ लिया। सभी कुल, वर्ण, गरीब, धनी के लड़के समान रूप से ज्ञान पाने लगे। यही था “विश्वमित्र का यज्ञ।”

वशिष्ठ की कूटनीति

आप काम चाहे कितना ही अच्छा करें, उसमें कुछ-न-कुछ अवरोध आना भी निश्चित ही है। चूँकि कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जिन्हें सबका विकास, सबका आनन्द अच्छा नहीं लगता। उनके अहंभाव पर चोट लगती है तो उनके अहंकार की, ऊँच-नीच की, गरीब-धनी की, समान-असमान की व्यवस्था गिरते नज़र आती है जिससे उनका आहत होना स्वाभाविक है। उन्हें कष्ट होने लगता है सभी पढ़ जायेंगे तो आखिर हमारा भविष्य क्या होगा? हमारा खानदान क्या करेगा? हमें कौन पूछेगा? हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा इत्यादि प्रश्न से आबद्ध होकर छटपटाने लगते हैं। भयभीत हो अपनी रक्षा हेतु नाना प्रकार की कूटनीति का आश्रय लेने लगते हैं। भले ही उसमें बहुतों का क्षय है। वहाँ तो स्वार्थ की रक्षा के लिए कोई भी कदम उठाना धर्म-सा प्रतीत होता है। अपने अस्तित्व की रक्षा करना ही उन्हें परम कर्तव्य मालूम होने लगता है। यही कारण था विश्वमित्र से जलन का। उस समय के देवर्षि लोगों के यज्ञ एवं विद्यालय बन्द होने लगे थे। वशिष्ठ, भृगु, विश्रवा, अगस्त्य, आदि देवर्षि का अस्तित्व खतरे में नज़र आ रहा था। अतएव किसी भी तरह विश्वमित्र के विद्यालय को बन्द कराना ही इनका उद्देश्य हो गया। वशिष्ठ के नेतृत्व में देवलोक में मन्त्रणा होने लगी। सभी देवता किसी भी तरह महाराज रावण को अपने पक्ष में मिलाने के लिए विचार-विमर्श करने लगे। चूँकि रावण का मैत्री सम्बन्ध था मानव संस्कृति से। उसने अपने पितामह ब्रह्मा से आशीर्वाद भी लिया था कि मेरी मृत्यु देवताओं से, राक्षसों, गन्धर्वों एवं यक्षों से नहीं हो चूँकि उसे मानव संस्कृति की नैतिकता एवं चरित्र पर अटूट विश्वास था। वह इनके ही सान्निध्य में रहना चाहता था। जो देवता आज तक रावण से खिन्न थे। एकाएक उससे प्रसन्न हो गये। उसी का गुणगान शुरू कर दिया। सारे देवगणों ने उसी के यहाँ खेमा डाल दिया। उसके श्रीवृद्धि से लेकर, सड़क की सफाई तक का काम स्वयं करने लगे। धीरे-धीरे देवगणों ने उसके राज्य का सारा काम स्वेच्छा से उन्हें प्रसन्न करने हेतु सँभाल लिया। पहले तो उन्हें अटपटा-सा लगा कि ये देवता इतने सेवा निपुण एवं अनुशासित कैसे हो गये? परन्तु कालान्तर में रावण को भी अच्छा लगने लगा। किसे नहीं अच्छा लगेगा कि कोई उसके राज्य का सारा काम ही सँभाल ले। पानी बरसाने से लेकर सीमा सुरक्षा तथा गाँव नगर की सफाई के साथ-साथ कोष की वृद्धि भी करता हो। रावण की हर आज्ञा का पालन होता हो। यहीं महाराज रावण चूक गये। अन्यथा उनका राज्य आज तक स्थिर होता। चन्द्रमा से एकाएक कालिमा हट जाये तो महान् उपद्रव समझना चाहिए कि कोई अनहोनी घटना

अवश्य घटेगी। दुष्कर्मों व्यक्ति एकाएक रामनामी ओढ़कर घूमने लगे तो समझना चाहिए अवश्य कोई खतरा करने वाला है। यही हुआ महाराज रावण के साथ। वशिष्ठ की कूटनीति ने साथ दिया। वशिष्ठ जैसा कूटनीतिज्ञ इस पृथ्वी पर अभी तक नहीं हुआ। कूटनीतिज्ञ किसी तरह राज्य के शीर्ष पर रहना चाहता है। भले ही उसके लिए कोई माध्यम हो। वह उसमें पाप-पुण्य नहीं देखता। उसका उद्देश्य ही महत्वपूर्ण होता है। विधि गौण हो जाती है। भले ही मानवता को दाँव पर लगाना पड़े।

महाराज रावण का देवताओं के वश में हो जाना

महाराज रावण स्वयं स्वरोदय शास्त्र के ज्ञाता थे। सम्भवतः वे ही उस समय इस पृथ्वी पर स्वर साधक (स्वरोदय) शास्त्र के ज्ञाता थे। उनका ज्योतिष पर भी अनुसन्धान था जो रावण संहिता के रूप में है। तंत्र पर भी खोज थी जो रावण तंत्र के रूप में है। वे विश्वमित्र के सान्निध्य में रहकर नित नये-नये अनुसन्धान में जुटे रहते एवं मानव के सुख-सुविधा, चरित्र निर्माण मूलक, कार्य करते रहते। परन्तु देवताओं ने उन्हें अपनी सेवा से इतना खुश कर दिया कि रावण ने अपने राज्य की सुधि तक खो दी। शनि देव तक अपनी वक्र दृष्टि का परित्याग कर लंका की नींव का निर्माण कार्य करने लगे। विश्वकर्मा नये-नये महल (मन्दिर) वाटिका, तालाब का निर्माण करने लगे। देवेन्द्र स्वयं अप्सराओं के साथ निवास करने लगे। प्रजा चूँकि पहले से देव संस्कृति की थी ही अतएव देव संस्कृति को फैलते देर नहीं लगी। रावण देवताओं के चंगुल में धीरे-धीरे कसते गये। अब वे तंत्र-तप भूलकर दिन-रात देवताओं के साथ सोमरस का पान एवं अप्सराओं के साथ रमण में संलग्न हो गये। प्रजा का कल्याणमूलक कार्य भूलने लगे। देव प्रजा उनका साथ देने लगी। शासन की बागडोर धीरे-धीरे देवगण के हाथ आ गयी। देव विहित यज्ञ का पुनः श्रीगणेश होने लगा।

यह भी पहले अगस्त्य एवं विश्रवा के क्षेत्र में ही प्रारम्भ हुआ। इन यज्ञों में पुनः पशुबलि से लेकर सोमरस का प्रावधान शुरू हो गया। धीरे-धीरे इनका उत्पात दण्डकारण्य से लेकर किष्किंधा, चित्रकूट, प्रयागराज होते हुए आगे बढ़ चला। मानवता पुनः सशंकित हो उठी। जिससे विश्वमित्र का चिन्तित होना स्वाभाविक था। जो ताड़िका, मारीच, सुबाहू विश्वविद्यालय की रक्षा का कार्य करते थे वे भक्षक से बन गये। मानवता एक बार फिर लज्जित हो गयी। इधर देवर्षियों को सन्तोष हुआ। विश्वमित्र के ज्ञान यज्ञ में नित्य नये-नये विधन उत्पन्न होने लगे। कभी शिक्षकों का अपहरण, कभी विद्यार्थियों का। विश्वविद्यालय रूपी

ज्ञान का अस्तित्व खतरे में नज़र आने लगा। रावण के द्वारा जो भी धन मुहैया किया जाता था, बन्द कर दिया गया। उधर वशिष्ठ के नेतृत्व में अश्वमेघ, गोमेघ, नरमेघ यज्ञ प्रारम्भ कर दिया गया। सोमरस का प्रचलन शुरू हो गया। शराब किसी हद तक मनुष्य पचा भी सकता है परन्तु यह औरतों के लिए अत्यन्त खतरनाक है। ताड़िका एवं स्वर्णरिखा जैसी राजपरिवार की कन्याएँ सोमरस पान करके वीभत्स कामवती हो गयीं तो और औरतों की स्थिति का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। शराब, माँस के नशे में इन औरतों ने “**पुरुष मनोहर निरखत नारी।**” की कहावत चरितार्थ कर दी। काम पिपासिनी ताड़िका एवं उसके सहकर्मियों के चलते विश्वविद्यालय के छात्रों का जन-जीवन संकटापन्न हो गया। विश्वमित्र अत्यन्त उद्विग्न हो गये। अब क्या किया जाये। इन देवगणों एवं देवर्षियों ने अपनी क्षुद्र आशंका पूर्ति हेतु पूरी मानवता को खतरे में डाल दिया। बार-बार सोचने लगे कौन शिष्य बीड़ा उठायेगा उनके खिलाफ, कौन बिगुल बजायेगा। कौन है इतना सशक्त, दृढ़ प्रतिज्ञ एवं चरित्रवान?

“गाधी तनय मन चिन्ता व्यापी, हरि बिनु मानहिननिश्चर पापी।”

यह हरि कौन हो सकता है? जो मानवता के दुःखों का हरण करे। सद्गुरु को खोज होती है ऐसे ही हरि की। सद्गुरु यदि दृढ़ प्रतिज्ञ है, विश्वकल्याण की भावना से ओत-प्रोत है तो अवतरित कर ही लेगा किसी शिष्य में हरि को परन्तु पात्रता भी तो चाहिये। विश्वमित्र में यह क्षमता है कि पूरी सृष्टि को क्षण-मात्र में नष्ट कर दें। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व को विनष्ट कर दें। इस शक्ति से वे भी परिचित हैं। इसी से विश्वमित्र से प्रत्यक्ष कोई भिड़ना नहीं चाहता। विश्वमित्र बहुत चिन्तन मनन के पश्चात् अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।

राम में रामत्व का आना

राम तीर्थयात्रा से भाइयों के साथ लौट आये हैं। उनकी अवस्था लगभग पन्द्रह वर्ष आठ माह की है। अपने भवन में विरक्त की तरह रह रहे हैं। भाइयों को, सेवकों को, दासियों को उपदेश दे रहे हैं। संसार मिथ्या है। नाता-रिश्ता भ्रम हैं माया महल में हम सब भूले हैं। क्या यहाँ खुशी मनाना? क्यों एवं किसलिए दुःखी होना? अपना वस्त्र-आभूषण सब सेवकों में बाँट देते हैं। सदैव एकान्तता ही उन्हें अच्छी लगती है। निर्जन जगह पर ध्यानस्थ हो जाते हैं। अपने स्वरूप में स्थित हो आनन्दित हो जाते हैं। विशेष जानकारी के लिए योग वशिष्ठ या वाल्मीकीय रामायण देख सकते हैं। परिहास होने पर वे प्रसन्न नहीं होते। न भोगों में उनकी आसक्ति है, न किसी कार्य में प्रवृत्ति ही। वे सदा मौन रहते हैं।

खाने-पीने से भी विरक्त हैं। संन्यासी आचरण है। पद्मासन पर शून्यचित्त हो बैठे रहते हैं। शरीर क्षीण हो गया है उनका अनुसरण करने वाले लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न भी उसी अवस्था को उपलब्ध होते जा रहे हैं। इस स्थिति को देखकर राजा चिन्तित हो जाते हैं। वे सोचते हैं चौथे पन ये पुत्र हुआ, वह भी संन्यासी हो गया। अब यह राज कौन देखेगा? यही चिन्ता तो प्रत्येक बाप की होती है। किसी तरह इसे बाँधो। साधु होना, संन्यासी होना अच्छी बात है, परन्तु हमारा लड़का न हो। यही कुण्ठा प्रत्येक माँ-बाप में रहती है। खैर राजा दशरथ अपने पुरोहित वशिष्ठ एवं वामदेव को बुलाते हैं। राम के विषय में कहते हैं तथा उनकी शादी कर देना उचित समझते हैं। अपने मंत्रीगण से यही सलाह करते हैं। वशिष्ठ जी मंत्रणा के पश्चात् कहते हैं कि राम की शादी पश्चिम एवं उत्तर में होगी।

महर्षि विश्वामित्र पहुँच जाते हैं। द्वारपाल से सन्देश देते हैं। राजा को सूचित करो विश्वामित्र मिलना चाहते हैं। द्वारपाल राजा को शीघ्र ही सूचित करता है। जैसे ही राजा दशरथ सुनते हैं महर्षि विश्वामित्र का आगमन हुआ है। राजा अपने मंत्रीगण के समेत नंगे पैर दौड़ते हैं। महर्षि को सप्रेम दण्डवत्कर राजमहल लौटते हैं। उनकी पूजा-अर्चना कर, कुशल क्षेम पूछते हैं। महर्षि भी एक-एक कर सबका कुशल पूछते हैं। सभी सभासद, मंत्रीगण, अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। राजा दशरथ कहते हैं “महर्षि आप हमारे खानदान के गुरु भी हैं। आपकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त है। आपका तप-बल सूर्य के प्रकाश की तरह चारों तरफ फैला है। जैसे गंगा में स्नान करने पर प्रसन्नता होती है उसी तरह आपके दर्शन से प्रसन्नता होती है। मैं आपका पूजन-दर्शन कर उसी तरह प्रसन्न हूँ जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्र अपने आप में नहीं समाता। अपने तट की सीमा लांघकर आगे बढ़ जाता है। हे मुनिवर! आप हमारे पूज्य गुरु हैं। आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजन से आप पधारे हैं, उसे आप सिद्ध हुआ ही समझिये। आपके लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है। हे भगवन्! आप जैसे सत्पात्र को दी हुई वस्तु, प्राप्त हो कर ही सार्थक होती है। मैं आपका सारा कार्य पूर्ण करूँगा। आप हमारे परम आराध्य देव हैं, गुरु हैं, भगवान् हैं।” दशरथ जी हर्षातिरेक होकर एक स्वर में सब कुछ कह गये। चूँकि विश्वामित्र जी सम्भवतः अयोध्या में तीसरी दफा आये थे। एक बार सत्यव्रत को दिशा देने। दूसरी बार गायत्री यज्ञ करने। तीसरी बार अब राम को लेने। दो बार तो देने आये थे। अतएव वे सोचते होंगे गुरु तो हर समय देता ही है। इसे क्या लेना है परन्तु इस बार यह सद्गुरु लेने ही पहुँच गया है। साधक शिष्य को यह सोचना चाहिए कि सद्गुरु के कुछ लेने में, माँगने में भी मंगल ही छिपा है। जो आपको अभी तत्काल नहीं दिखाई पड़ता। कालान्तर में ज्ञात हो जायेगा। अतएव सच्चा शिष्य सहर्ष

तन-मन अर्पण कर देता है। सैकड़ों जन्मों का पुण्य, उदय होता है तब ही आप से गुरु कुछ मांगता है। आपका समर्पित होना ही आपका परम सौभाग्य है।

विश्वामित्र द्वारा राम को माँगना

शान्तचित्त से महर्षि सुन रहे थे। मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे। सभी ऋषि आतुर दृष्टि से सूर्य सा चमकता मुख-मण्डल देख रहे थे। वशिष्ठ चिन्तित थे। महर्षि कहते हैं “हे राजन् आप नृप श्रेष्ठ हैं। आपका जन्म भी उत्तम तपस्वियों के कुल में हुआ है। आपके खानदान के लोगों ने धर्म रक्षा हेतु प्राण तक दे दिए हैं। मुझे भी विश्वास है आप दिए गये वचन का जरूर पालन करेंगे। अब मैं यहाँ आने का अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ। सिद्धाश्रम में ज्ञान रूपी यज्ञ वर्षों से होता आ रहा है जिसे अब निशाचरगण नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। कोई विद्यार्थी अब इतना सशक्त प्रवीण नज़र नहीं आता, जिसे आगे बढ़ाऊँ। अतएव हे राजन् आप अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को दे दीजिये। जिनसे यज्ञ की रक्षा भी होगी। दस दिन में ही उन्हें विद्या भी दे दूँगा। दोनों कार्य साथ-साथ हो जायेंगे। जिससे राम की श्रेष्ठता बढ़ जायेगी। राम की कीर्ति में चार चाँद लग जायेंगे। इनकी तीनों लोकों में पूजा होगी।”

यह सुनकर दशरथ जी क्षणभर के लिए बेहोश हो गये। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि गुरुवर राम को ही माँग लेंगे। गुरु तो माँगता वही है जिसकी आप कल्पना तक नहीं कर सकते। चूँकि आपकी कल्पना की सीमा है। गुरु असीम है। दशरथ जी आज तक किसी सद्गुरु के सान्निध्य में रहे ही नहीं। वे पुत्र मोह में पड़ जाते हैं। अभी सभी कुछ देने का वादा कर रहे थे। माँगने पर बहाना ढूँढते हुए अन्तर्भाव से कहते हैं “हे नाथ! मैं स्वयं उन राक्षसों से युद्ध नहीं कर सकता। वे महाबली अतिबली हैं। उनसे देवता, दानव, गन्धर्व कोई भी युद्ध नहीं कर सकता फिर भी मैं अपने सम्पूर्ण राज्य-सेना के साथ चलता हूँ।”

राम विश्वामित्र वार्ता

आदेशपाल वापस आकर कहता है “हे महाराज! जैसे भ्रमर रात को कमल में बन्द होकर उदास बैठा रहता है, उसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी भी अपने भवन में अनमने होकर बैठे हुए हैं। वे अज्ञात शून्य में ध्यानस्थ हैं।” यह सुन विश्वामित्र मुस्कुराते हुए कहते हैं

“अहं वेदितं महात्मानं रामं राजीव लोचनम्।”

मैं महात्मा राम को अच्छी तरह जानता हूँ। यह कोई सद्गुरु ही कह सकता है। आप लोग जाकर हमारे आने का सन्देश दो। वे स्वयं आ जायेंगे। वे विवेक

एवं वैराग्य से सम्पन्न हैं। अतः उन्हें मोह नहीं बोध ही प्राप्त हुआ है। जो महान् अभ्युदयकारक है। इस विचार मूलक मोह का युक्ति द्वारा निवारण कर देने पर राम हमारे भाँति ही परमपद में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। हमारे उपदेश से वास्तविक बोध का उदय हो जाने पर महात्मा राम अमृत पीये हुए पुरुष की भाँति सत्यता त्रिकाल बाधिता, ब्रह्मरूपता, भुविता (परमानन्द स्वरूपता) यज्ञ (अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता) को प्राप्त होकर विश्रान्ति सुख से सम्पन्न, संताप शून्य, शरीर में हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्ति से युक्त हो जायेंगे। वे निर्गुण परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान से सम्पन्न हो जायेंगे। राजा यह सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए। राम विश्वमित्र का संवाद सुन शीघ्र ही सभा में उपस्थित हो गये। मानो जन्मों से उन्हें सद्गुरु की खोज हो। वे दौड़कर पकड़ लेते हैं गुरुदेव के पैर। अब वे शान्त चित्त गुरुदेव के आदेश की प्रतीक्षा करने लगे। सभी सभासद् को ज्ञात हो रहा है जैसे राम उन्हीं के इन्तजार में बैठे हों। सच्चा शिष्य अपने गुरु के चरणों में बैठ कर समाधि का अनुभव करता है।

महर्षि विश्वमित्र जी ने कहा महात्मा राम! तुम्हारे मोह का, भ्रम का क्या कारण है? तुम्हारे मन में जो अभिलाषा हो उसे शीघ्र बताओ। तुम्हें वह सब मनोरथ प्राप्त होंगे जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हें कष्ट नहीं पहुँचायेंगी। राम ने कहा हे गुरुवर! तीर्थ करके लौटने पर मेरा मन विवेक से पूर्ण हो गया। बुद्धि भोगों से विरक्त हो गयी। मुझे राज्य से क्या लेना है? भोगों से क्या प्रयोजन है? मैं कौन हूँ? यह दृश्य प्रपंच क्या है? ये प्रश्न मेरे मन में सदा घूमते रहते हैं। शरीर बाल्यावस्था, युवावस्था में अनेक दोषों से भरा रहता है। वृद्धावस्था पश्चाताप में बीतती है। इस तरह राम धन, सम्पत्ति, आयु की निस्सारता, अहंकार एवं चित्त का दोष, तृष्णा की निन्दा, स्त्री शरीर की मोहकता एवं रमणीयता का निराकरण जो रक्त माँस से भरा है, जिन्हें विभिन्न प्रकार से सजाया गया है। मूर्ख पुरुष काम में आसक्त हो, आकृष्ट हो जाते हैं। उसी देह को गिद्ध-सियार नोंचते एवं घसीटते हैं। सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता एवं क्षणभंगुरता, जागतिक पदार्थों की परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरता का विशद वर्णन करते हुए विश्वमित्र से निवारण चाहते हैं। राम की उक्ति सुनकर वहाँ बैठे हुए ऋषिगण यथा वशिष्ठ, वामदेव, राजमंत्रीगण, नारद, व्यास, मरीचि, दुर्वासा, अगिरा और उनके पुत्र आगिरस, क्रतु, पुलस्त्य, पुहल, शरलाभ, वात्स्यायन, भारद्वाज, वाल्मीकि, उदूलक, ऋचीक सभी अर्चभित रह गये। सभी विश्वमित्र की तरफ मुखातिब हुए। अब क्या उत्तर देंगे महर्षि। कैसे राम की शंका को निर्मूल करेंगे?

विश्वमित्र बोले “हे ज्ञानश्रेष्ठ राम! तुम अपनी सूक्ष्म बुद्धि से सब जान गये हो। बस जरूरत है उसे निष्काम कर्मयोग में परिणत करने की। तुम्हारी ही तरह

शुकदेव जी ने प्रश्न किये थे अपने पिता व्यास जी से। तुम्हारे पिता के काल से तपस्वी व्यास जी बैठे हैं। उन्होंने नाना प्रकार से उत्तर दिए, परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए। अन्त में व्यास जी ने शुकदेव जी को उपयुक्त गुरु जनक के यहाँ भेज दिया। जनक जी राज्य करते हुए विदेह थे। वे शुकदेव की शंका का समाधान करते हुए बोले इस ब्रह्माण्ड में एक अखण्ड चिन्मय परमपुरुष परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसे विवेक द्वारा जाना जा सकता है। तब कुछ पाना, जानना, शेष नहीं रह जाता है, सारे भ्रम अपने आप गिर जाते हैं। इस प्रकार जनक शुकदेव जी को निष्काम योग में दीक्षित कर देते हैं। शुकदेव दीक्षित होते ही उस परमशून्य में ध्यानस्थ हो जाते हैं। उनके भय, शोक सभी नष्ट हो जाते हैं। उनकी निर्विकल्प समाधि लग जाती है। हे राम तुमने भी ज्ञानतत्व को जान लिया है। भोगों से तुम्हारी रुचि हट गयी है।

“भोगभावनया याति बन्धो दाढर्चमकस्तुजः।

तमोपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम्॥”

भोगों के चिन्तन से अज्ञान जनित बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। भोग-वासना के शान्त हो जाने पर संसार बन्धन क्षीण हो जाता है। अब तुम्हारी बुद्धि को केवल अद्वितीय सच्चिदानन्द परमात्म तत्व में विश्राम की अपेक्षा है। हे महात्मा राम उस परमात्म तत्व में स्थिर रहकर जगत काम भी निष्काम भाव से प्रतिपादित करो। मुझे भी ऐसे ही शिष्य की खोज है। अब तुम विलम्ब न करो। शीघ्र हमारे साथ पिता का आदेश लेकर चलो। तुम से ज्यादा आतुरता हम में है। शिष्य को जरूरत है अपने में पात्रता लाने की। सद्गुरु तो खोजते-खोजते पहुँच ही जाते हैं। क्षणभर में गागर में सागर भर देते हैं। अन्यथा शिष्य को तैयार करने में, संस्कारों को पूर्ण करने में बहुत समय निकल जाता है।

विश्वमित्र के साथ राम का जाना

दशरथ जी अत्यन्त प्रसन्न थे। मानो राम का भविष्य ही साकार रूप में उनके सामने खड़ा हो, उसे संवारने-निर्माण करने के लिए तत्पर हो। दशरथ जी के कहने पर कुल पुरोहित वशिष्ठ जी ने मंत्र अभिमंत्रित मंगलाचार किये। पूरे राज्य में खुशी छा गयी। जगह-जगह शंख, नगाड़े बजने लगे। ध्वज फहराने लगे। विश्वमित्र जी राम-लक्ष्मण को लेकर चल पड़ते हैं। नगरवासी पुष्पों की वर्षा करने लगे। विश्वमित्र प्रसन्न थे। वे सोच रहे थे शीघ्र ही राम को सारी विद्यायें हस्तान्तरित कर दूँ। इसे देव संस्कृति से किसी तरह निकाला गया है। इस पर वशिष्ठ का प्रभाव नहीं के बराबर है। जो था भी वह तीर्थ यात्रा, साधु महात्माओं के सत्संग से धुल गया। यह सोचते हुए अयोध्या से 6 कोस दूर चले गये। सरजू

के नज़दीक सुन्दर सिद्ध स्थल देख विश्वमित्र बोले हे राम तुम शीघ्र स्नान कर पवित्र हो लो। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा तथा तंत्र विद्या को तुम्हें बताऊँगा। राम-लक्ष्मण स्नान कर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम करते हैं। गुरुदेव उन्हें दीक्षा प्रदान कर बला एवं अतिबला नामक तंत्र देते हैं। बला यानी लम्बिका अति बाला यानी खेचरी। महा कठिन खेचरी मुद्रा योगी जन की मातरी। इससे शरीर की कान्ति बढ़ती है। भूख प्यास नहीं लगती है। शरीर नि-रोग हो जाता है। शरीर के एक-एक सैल्स का पोषण होता है। इसी से योगी जन की माँ कही गयी है। विश्वमित्र राम-लक्ष्मण को लेकर आगे चल देते हैं। रास्ता भी तय करते हैं। साथ ही कथा-कहानी के माध्यम से उन्हें तंत्र विद्या का ज्ञान भी देते जाते हैं। राम ऐसे सत्पात्र हैं जो हर समय गुरु-मुख देख रहे हैं जो भी उनके मुँह से निकल रहा है वेद-वाणी समझकर आत्मसात् करते जाते हैं। विश्वमित्र के जीवन में भी इस तरह का शिष्य सम्भवतः प्रथम बार मिला है। जो समग्ररूप से समग्रता को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो।

विश्वमित्र जी राम को लेकर गंगा पार कर ताड़िका बन पहुँच गये। ताड़िका सुन्दर यक्ष कन्या थी। जो सुकेतु नामक तपस्वी यक्ष की पुत्री थी। जिसका विवाह जम्भ-पुत्र सुन्द के साथ हुआ। वे पति-पत्नी नियमधर्म में रहते थे। विश्वमित्र के यज्ञ में मददगार थे। परन्तु देवर्षि अगस्त्य से यह देखा नहीं गया एवं छल से सुन्द को मार डाला। जब ताड़िका, जो स्वयं अत्यन्त शक्तिशालिनी थी। अगस्त्य को परिवार समेत मारने को उद्यत हुई तो अगस्त्य किसी तरह यह समझाने में सफल हो गये कि ताड़िका तुम्हारे पति का हत्यारा हम नहीं विश्वमित्र हैं। अब ताड़िका विश्वमित्र एवं उनके आश्रम की दुश्मन हो गयी। इसको एक पुत्र भी था। जिसका नाम मारीच था। अब ताड़िका अगस्त्य एवं इन्द्र के नज़दीक आकर माँसाहारी, शराबी हो गयी। विश्वमित्र राम से बोले- कामरूपिणी ताड़िका आश्रम को बर्बाद कर रही है साथ ही आस-पास की मानव संस्कृति के गाँवों को बर्बाद कर रही है। अतएव हे राम तुम इसका वध करो। इसके बाद आगे आश्रम चलेंगे। इतना कह ही रहे थे कि ताड़िका चीत्कार करती हुई राम को ही पकड़ने ज़ोर से आगे बढ़ी। तब श्रीराम ने गुरु आज्ञा पाकर कामरूपिणी ताड़िका को मार दिया।

गुरुदेव विश्वमित्र ने रात्रि विश्राम के पश्चात् सुबह ताड़िका वन में ही स्नानादि के पश्चात् राम को सर्व अस्त्र प्रदान किये जिससे राम सुर, असुर, नाग, गन्धर्व आदि को अपने वश में कर उन्हें जीत सकें। उन अस्त्रों को प्रयोग करके उन्हें लौटाने की विधि भी बताई। तत्पश्चात् वे सिद्धाश्रम पहुँचे। राम के द्वारा जिज्ञासा हुई इस पवित्र आश्रम के सम्बन्ध में। विश्वमित्र ने कहा हे राम पहले

वामन जी ने यहीं तप किया था जिससे यह सिद्ध होकर सिद्धाश्रम कहलाया। कश्यप जी ने अपनी पत्नी अदिति के साथ यहीं तप किया था। गाधि ऋषि ने भी यहीं तप किया था। हे राम रात्रि विश्राम यहीं करना है अतएव तुम स्नान कर शीघ्र पवित्र हो लो जिससे तुम्हें गायत्री रूपी महाशक्ति दे सकूँ। इस तरह उन्हें गायत्री प्रदान की।

यज्ञ की रक्षा

राम को यात्रा में चार दिन लगे। उसमें ही उन्हें बहुत सारी विद्याएँ विश्वमित्र द्वारा प्रदान कर दी गयीं। अब सिद्धाश्रम में गुरुदेव ने मौनधारण कर लिया छह दिन का अनुष्ठान करने के लिए। सारे विद्यार्थियों ने प्रसन्न होकर अपना-अपना अनुष्ठान शुरू कर दिया। शिक्षकगण भी अपने शोधकार्य में लग गये। विद्यालय में नव-जीवन का संचार हो गया। राम-लक्ष्मण भी पठन-पाठन में लग गये। साथ ही निष्काम योग प्रवीण राम, रक्षा के ख्याल से हर समय चौकन्ना रहते थे। किसी भी अनहोनी घटना से निपटने के लिए तत्पर थे। राम के जागने से पहले लक्ष्मण जाग जाते एवं गुरु विश्वमित्र के जागने के पहले ही राम। राम जहाँ स्नान करते थे वही राम रेखाघाट कहलाया। जहाँ राम को दिव्य शक्तियाँ दी गयीं। वही राम चौतरा कहलाया। वे स्नान ध्यान कर गुरु के पैर दबाकर उठाते एवं स्नान कराते, उनकी पूजा अर्चना करते। उनके ज्ञान यज्ञ को मौनता से ग्रहण करते। योगी ही योगी की मौन वार्ता को समझ सकता है। छह दिन का यही था “मौन ज्ञान यज्ञ।” यह यज्ञ अत्यन्त विलक्षण था।

एक तरफ मौनता, दूसरी तरफ सेवा, तीसरी तरफ मौनता से गहन ज्ञान को आत्मसात करना, चौथी तरफ बाह्य-अन्तर स्थित राक्षसों के उपद्रव से लड़ना। जब वह साधक मौन होता है तो मन उपद्रव कर उठता है। काम, क्रोध, अहंकार रूपी ताड़िका मारीच, सुबाहू, आक्रमण कर ही देते हैं। परन्तु चतुर साधक उन्हें गुरु से प्रदत्त मंत्र रूपी अस्त्र से धराशायी कर देता है। अन्त में वह निर्विघ्न हो स्वरूप को प्राप्त कर परमानन्द में स्थित हो जाता है। छह दिन में ही अष्ट चक्रों का भेदन कर सहस्रार में पहुँच जाता है। हो जाता है “महान ज्ञान यज्ञ” पूरा। काम को साधक गुरु कृपा से पहले ही मार गिराता है। उससे लड़कर मारीच रूपी क्रोध को सद्बुद्धि रूपी पुष्प बाण से समाप्त कर दिया जाता है। सुबाहू रूपी अहंकार को ज्ञान रूपी अग्नेयास्त्र से मार गिराया जाता है। यदि गुरु का सान्निध्य है तो यह यज्ञ साधक पूरा कर ही लेता है। राम ने इस यज्ञ को छह दिन में शरीर रूपी यज्ञ स्थल पर आत्मा रूपी अग्नि में वृत्तियाँ रूपी धूप से दीक्षा रूपी मंत्र से हवन कर पूरा कर लिया। महर्षि विश्वमित्र दसों दिशा रूपी कर्म

एवं ज्ञान इन्द्रियों को उपद्रव रहित देख राम पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। राम को आशीर्वाद दे आगे की योजना बनाई।

विश्वमित्र की दक्षिणा

सन्ध्या-वन्दना के पश्चात् विश्वमित्र ने राम को समझाया कि हे राम तुमने इस यज्ञ को पूरा कर लिया। तुम्हें हमने सब अस्त्र-शस्त्र, योग-ध्यान दे दिया? मेरा काम पूरा हो गया। तुम्हारा काम प्रारम्भ हुआ। रावण या कोई देव गन्धर्व मेरे भय से तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अब तो तुम स्वयं समर्थ हो चुके हो। परन्तु तुम्हारा एक काम और करा देता हूँ। वह है तुम्हारी शादी। चूँकि वशिष्ठ श्रवण कुमार के मारने से तुम्हारे पिता को श्रापित करा चुका है जिससे तुम चारों भाइयों से शादी कोई नहीं करोगे। यह किसी तरह तुम्हारा खानदान समाप्त करने पर तुला है। राजा जनक की लड़की जानकी का स्वयंवर है। जिसमें ऋषि, महर्षि, देव, नाग, राक्षस सभी को निमन्त्रण प्राप्त हुआ है। तुम्हारे पिता जी को नहीं मिला है। हमें मिला है। शिष्य ही गुरु की सारी मानसिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। शिष्य ही गुरु परम्परा को आगे बढ़ाता एवं उसके उपदेश को कार्यरूप में बदलकर जीवनोपयोगी बनाता है। अतएव राम हम तुम्हें जनकपुर ले जाकर तुम्हारी शादी जानकी से करायेगें एवं वहीं से तुम हमारे कार्य में लग जाना। इसे गुरुकार्य समझकर ही करना जिससे तुम्हारी कार्य की क्षमता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी। विघ्न-बाधा से घबराना नहीं है और हम हर समय हर क्षण सूक्ष्म रूप से तुम्हारे साथ होंगे। विजय भी तुम्हारे साथ है। देखो देव-दानव संस्कृति दोनों मिल गये। जिसका मुख्यालय लंका हो गया है। इससे मानव संस्कृति खतरे में पड़ गयी है। अतएव हे राम तुम्हें लंका तक पहुँचना है बताये गये धर्म ज्ञान को पूरी पृथ्वी पर फैलाना है तभी मानवता बच सकती है जो उपेक्षित हैं, दीन-हीन हैं, अकिंचन हैं, जंगली हैं, आदिवासी हैं, उन्हें प्रेम की आवश्यकता है। शिक्षा की जरूरत है। उनमें संगठन लाना ही होगा। उनका भविष्य दाँव पर लग चुका है अब तुम्हें अपने निष्काम योग से भोगवादी व्यवस्था, तथाकथित ऊँच-नीचवादी व्यवस्था को ध्वस्त करना ही होगा। भले ही सर्वमंगल में तुम्हें कष्ट होगा। उठाना ही, होगा। यही होगी हमारी गुरु-दक्षिणा। राम गुरुदेव के पैर पकड़कर कह उठते हैं “गुरुवर आपका आशीर्वाद हमारे साथ है तो काल भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। कर तो रहे हैं आप, करेंगे आप। मैं तो आपका माध्यम हूँ। मैं वादा करता हूँ कि सदैव माध्यम बना रहूँगा। अब मानवता का चीरहरण नहीं होगा। बहुत हो चुका। मेरी पूरी जिन्दगी

अर्पित है मानवता की सेवा के लिए, आपके आदर्शों को पूरा करने के लिए। मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि इस पृथ्वी पर मानव संस्कृति, गुरु तत्व को स्थापित करके ही रहूँगा।”

गुरु शिष्य का जनकपुर पहुँचना एवं स्वयंवर

सद्गुरु विश्वमित्र अत्यन्त प्रसन्न हैं। जनकपुर के लिए प्रातः ही राम-लक्ष्मण के साथ प्रस्थान कर देते हैं। कुछ ही दूर जाने पर गौतम ऋषि का आश्रम दिखाई पड़ता है जिसे अहिल्या के रहने से अहिल्या वली कहा गया बाद में अहिरौली कहलाया। अहिल्या भी देवराज इन्द्र की कामपिपासा की शिकार हो चुकी है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण अहिल्या को गौतम ने त्याग दिया है। वह अछूत की तरह पाषाणवत अपना जीवन व्यतीत कर रही है। हे राम यह भी मानवता के नाम पर कलंक है। इसे सम्मान दो जिससे इसका उद्धार हो सके। अहिल्या जब सुनती है कि विश्वमित्र, राम-लक्ष्मण को लेकर आये हैं। वह अतिथि-सत्कार करती है उनकी पूजा-अर्चना कर अपने को धन्य समझती है परित्याग होने के बाद पहले-पहल उसे सम्मान देने कोई आया। इस तरह राम अहिल्या को भी माँ तुल्य सम्मान देते हैं। गौतम ऋषि को समझा-बुझाकर उन्हें सौंप देते हैं। इस तरह विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण करते हुए जनकपुर पहुँचते हैं। जहाँ अहिल्या पुत्र शतानन्द जी एवं राजा जनक विश्वमित्र का यथोचित आदर-सत्कार करते हैं। रात्रि विश्राम के पश्चात् नित्य क्रिया से निवृत्त हो विश्वमित्र की आज्ञा से राजा जनक द्वारा राम-लक्ष्मण को धनुष दिखाया गया। राम ने गुरु को प्रणाम कर धनुष भंग कर दिया। विश्वमित्र के आदेश पर दशरथ को बुलाया गया एवं चारों भाइयों की शादी जनक की लड़की एवं उनके भाई जो सांकाश्य नामक पुरी के राजा थे की लड़कियों, के साथ सम्पन्न कराई गयी। विश्वमित्र शादी कराने एवं विदाई के बाद दोनों राजाओं को आशीर्वाद दे स्वयं हिमालय की तरफ चल दिए। (ज्यादा जानकारी मेरी पुस्तक ‘मेरे राम’ से लें)

राम परशुराम वार्ता

मिथलेश राजा जनक दशरथ जी को कुछ दूर तक विदा कर स्वराज्य को लौट आए। दशरथ जी अभी कुछ ही दूर गये थे कि भृगुवंशीय परशुराम अपनी पूरी सेना के साथ आ धमके। मानो शंकर वृत्तासुर से युद्ध करने हेतु आये हैं। वशिष्ठ वगैरह द्वारा ऋषि को समझाते हुए न देखकर स्वयं दशरथ अनुनय-विनय करते हैं एवं प्राण रक्षा की भीख माँगते हैं। परन्तु परशुराम राम की तरफ धनुषबाण लिए आगे बढ़ते हैं। राम को युद्ध के लिए ललकारते हैं। राम उनके शिव तंत्र

हाथ का ही वैष्ण धनुष लेकर बाण चढ़ाते हैं एवं टंकार करते हैं। जिसकी टंकार को सुनकर सभी स्तंभित हो जाते हैं। सब की आँखें बन्द हो जाती हैं। परशुराम क्षमा-याचना करने लगते हैं। परन्तु राम कुछ न कुछ दण्ड भी देना चाहते हैं। चूँकि राम कहते हैं आप अत्यन्त अहंकारी हैं। निर्दोष लोगों की आप हत्या किये हैं। इस धनुष पर बाण चढ़ गया है तो इसे छोड़ना ही होगा। आप ही बोलें, क्या किया जाये परशुराम? अपनी जान की भीख माँगते हुए बोले- हे राम! आप मेरा तप नष्ट कर दीजिये, मुझे छोड़ दीजिए। जिससे मैं महेन्द्राचल पर जाकर आपका ही ध्यान-तप कर सकूँ। करुणावश राम शरणागत जान बाण छोड़ देते हैं। उनका पूर्व का अहंकार रूपी तप नष्ट कर गुरु विश्वमित्र द्वारा बताये गये सत्तुर्धर्म का उपदेश देकर कहते हैं- हे परशुराम! निष्काम होकर, सत्चित होकर, मेरे द्वारा उपदेश ग्रहण कर, महेन्द्राचल पर जाकर तप स्वाध्याय करें। अब बहुत हो चुका अत्याचार। अब मानवता के लिए सत्कार्य में लग जाइये। महान से महान व्यक्ति समय के सद्गुरु को नहीं पहचानता, वह अपने अमरत्व एवं अहंकार में अपना अस्तित्व ही दांव पर लगा देता है।

राम एवं उनका परिवार

राम अयोध्या आते हैं। अपने परिवारजन के साथ हँसी-खुशी, आमोद-प्रमोद में समय व्यतीत करते हैं। सभी प्रसन्न हैं। चूँकि सभी तंत्र के ज्ञाता हैं। सभी अपना कर्तव्य समझते हैं। सभी निष्काम योग में प्रवृत्त हैं। तभी तो वाल्मीकीय रामायण में राम को बार-बार महात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है। जो भी व्यक्ति अपने आप को जान लेता है, वह महात्मा हो जाता है। जहाँ वह रहता है, वहीं हो जाती है अयोध्या। जहाँ युद्ध नहीं हो। जब मन शान्त हो जाता है। वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। आत्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है, तो कैसे होगा युद्ध। तभी तो इनके पिता, दशरथ हो सकते हैं। दशरथ यानी जो पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का मालिक हो जाये। ये दसों घोड़े हैं, जो शरीर रूपी रथ में जुड़े हैं। ये सभी अपने आप में गुमानी हैं। **“कोई काहू का कहा न माने, आप-आप में गुमारी।”** तब मनुष्य का मन अशान्त हो जाता है। विवेक का अपहरण हो जाता है। अन्तर्द्वंद्व शुरू हो जाता है। अब साधक के अन्दर प्रारम्भ हो चुके इस युद्ध में कैसे हो साधना, कैसे होगा आगमन ज्ञान रूपी राम का। दसों इन्द्रियों रूपी घोड़ों को एक साथ एक दिशा में गमन कराने वाले का नाम है दशरथ। इनकी तीन रानियाँ हैं पहली कौशल्या। जो श्रद्धा की प्रतिमूर्ति थीं। जब पूर्ण श्रद्धा होती है तब ही इसके गर्भ से राम रूपी ज्ञान का जन्म होता है। दूसरी

पत्नी थी सुमित्रा। सुमति, अच्छी मति, बुद्धि। **जहाँ सुमति तहं सम्पत्ति नाना।** जहाँ सुमति हो वहाँ सभी सम्पत्ति अपने आप आ जाती है। सुमति के गर्भ से पैदा होते हैं लक्ष्मण। ये वैराग्य के प्रतीक हैं। इनका पूरा जीवन ज्ञान के साथ बीता। चूँकि वैराग्य अकेला रह ही नहीं सकता। इसी से ज्ञान एवं वैराग्य साथ-साथ रहे। जब दोनों साथ होंगे तो कोई विघ्न आ ही नहीं सकता। यदि आ भी जायेगा तो वह टिका नहीं रह सकता। परन्तु ज्यों ही दोनों का साथ छूटता है त्यों ही दोनों आफत में फँस जाते हैं। इस वैराग्य का छोटा भाई है शत्रुघ्न। ये विवेक के प्रतीक हैं। वैराग्य का विवेक ही अनुगामी होता है।

तीसरी पत्नी है कैकयी। यदि दशरथ के साथ है, उनकी अनुगामिनी है तो वह दुर्गा है। अत्यन्त शक्ति सम्पन्न। भक्ति सम्पन्न, अजेय है। तभी तो देवासुर संग्राम में भी अजेय रही। दशरथ के सान्निध्य में भक्ति रूपी धारा अपने आप निःसरित होती है तभी तो इससे जन्म होता है भरत का। जो शक्ति के प्रतीक हैं। शक्ति कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होती। हर समय युवा रहती, सुन्दर रहती है। दशरथ को भी अपने वश में रखती है। चूँकि भक्ति के वश में कौन नहीं हो जाता। जब वह योग युक्त है, तो तरुण है, मनोरम है, मनोहर है। सबकी प्रिय है, तब उससे भक्ति रूपी भरत अपने आप निःसरित होता है, परन्तु ज्योंहि देव संयोग से उसका सम्बन्ध मंथरा रूपी माया से हो जाता है। कैकयी किसी भी तरह उसके विचार में आ जाती है। अपनी स्थिरता अपनी धर्मता को खो देती है। बार-बार के संसर्ग से उसका नियन्त्रण, उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है तो वह भी हो जाती है कुबुद्धि। कुबुद्धि आने पर अयोध्या भी युद्धस्थल हो जाता है। सद्गुरु कहते हैं

माया मोह मोहित कीन्हा।

ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा।

कुबुद्धि रूपी ज्वाला में सभी जलकर भस्म हो जाता है। दशरथ भी असहाय कमजोर हो जाते हैं। ज्ञान-वैराग्य को भी अयोध्या छोड़कर भागने के सिवाय कोई रास्ता नहीं। चूँकि शक्ति तो वही है दुर्गा की। जो पहले कल्याण मूलक थी। शान्ति मूलक थी अब विध्वंसमूलक। अग्नि वही है चाहे आप भोजन बनाकर शरीर का पोषण करो। विश्व को उसके प्रकाश से प्रकाशित करो या विश्व की नयी संरचना कर डालो। उसी ऊर्जा को आप विश्व कल्याण में लगाकर मानवता में प्रेम का सन्देश भर दो या पूरे विश्व को ही हिरोशिमा, नागासाकी बना दो। ऊर्जा वही है, निर्भर करती है प्रयोग करने वाले पर। व्यक्ति यदि साधु महात्मा के संसर्ग में रहता है तो स्व-कल्याण के साथ जगत् का कल्याण करता है। यदि

वह दुर्जन के साथ हो गया उसका प्रभाव पड़ गया तो अपने नाश के साथ-साथ जगत् का भी नाश कर देता है। जो स्व का हित नहीं कर सकता वह जगत् का हित कैसे करेगा। अस्त्र वही है, ऊर्जा वही है। प्रश्न उठता है हाथ किसका है? साधक का, सन्यासी का, राम का, कृष्ण का, बुद्ध का, महावीर का या असाधक का, असंयमी का। चंगेज़ खां का, हिटलर का या खुश्चेव का। यही स्थिति होती है कैकयी की। मंथरा रूपी माया के बार-बार संसर्ग से वह विस्फोट कर उठती है जिस विस्फोट में स्वयं भी झुलस ही जाती है। अपंग हो ही जाती है। कुपात्र के हाथ में जाकर ऐसा विस्फोट होता है कि फिर कभी विस्फोट करने लायक वह रह ही नहीं जाती। उसका स्वयं का चेहरा भी अत्यन्त कुरूप हो जाता है, असहाय हो जाती है। अकिंचन हो जाती है।

दशरथ के आठ मंत्री

दशरथ के आठ जन-प्रतिनिधि मंत्री थे जो सभी तत्त्वदर्शी थे। जैसे

- (1) जयन्त जो मंत्रणा कुशल थे। सत्पथ का दिग्-दर्शन कराते रहते थे।
- (2) धृष्टि नीति न्यायक थे। जो नीतिगत मामलों में दृष्टि का काम करते थे।
- (3) विजय मंगलसूचक थे। वही कार्य करने को कहते जो शास्त्र-सम्मत हो। विजय निश्चित हो। धर्मयुक्त हो।
- (4) सुराष्ट्र राष्ट्र कैसे खुशहाल रहेगा? श्री सम्पन्न रहेगा? सभी के सुख-सुविधा का ख्याल करना इनका परम कर्तव्य था।
- (5) राष्ट्रवर्द्धन राष्ट्र के सियासत में किसी भी तरह कमी नहीं हो। अन्दर हर व्यक्ति की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि हो।
- (6) अकोप राज्य किसी भी प्रकार के प्रकोप से बचा रहे। चाहे वह दैहिक, दैविक, भौतिक प्रकोप ही क्यों न हो। किसी भी प्रकार राष्ट्र प्रकोप का भाजन नहीं हो।
- (7) धर्मपाल धर्म का पालन ठीक ढंग से हो। धर्म में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं हो।
- (8) सुमन्त अच्छा मन्त्र देने वाला। सलाह देने वाला। नेक विचार से सुरक्षित रखने वाला।

आठ ऋषि मंत्री

जिस तरह शरीर रूपी राष्ट्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए वृत्तियाँ रूपी जन प्रतिनिधि की आवश्यकता है। उसी प्रकार परमात्मा रूपी ब्रह्माण्ड में रमण करते रहने के लिए आध्यात्मिक ऋषियों की आवश्यकता है जिससे आध्यात्मिक

विकास भी सम्यक रूप से हो सके। यदि उसमें आठ मंत्री हैं तो इसमें नव चूँकि इसकी महत्ता उससे ज्यादा हो जाती है। नव सबसे बड़ी संख्या भी है। यदि आध्यात्मिक सलाहकार मन्त्री ठीक-ठाक सबल, समदर्शी हैं तो साधक को पूर्णत्व को उपलब्ध करा ही देगा। यदि इसमें से कोई भी कमजोर या गलत दिशा-निर्देशन वाला मिल गया तब समझिये एक ही खतरा सम्भव है। कहीं भी ठीक समय पर ही दशरथी रूपी शरीर में ज्ञान रूपी राम की राज्यारोहण रूपी समाधि छिन सकती है। ज्ञान-वैराग्य को बाहर निकाला जा सकता है एवं साधक बीच में ही योग भ्रष्ट हो शरीर छोड़ने के लिए बाध्य हो सकता है। चतुर साधक इन सब सलाहकारों से अलग होकर एक सद्गुरु की शरण में जाकर, अपना सब कुछ उसके चरणों में समर्पित कर निश्चिन्त हो जाता है। अब सद्गुरु निर्विघ्न यात्रा पूरी कराता है। या बाधा रूपी आग से उसे पकाकर ठीक कर लेता है। जिस तरह सोना आग से तप कर निकलने के बाद और अधिक चमकने लगता है उसी तरह साधक आफत, बाधा, विपत्ति में तपने के बाद मुस्कुराते हुए, परमात्मा का धन्यवाद देते हुए सद्गुरु की अनुकंपा समझ अपने निष्काम योग में आगे बढ़ जाता है। दशरथ के ऋषि मन्त्री निम्न थे।

- (1) वशिष्ठ—ये ही मुख्य सलाहकार थे। ये एक तरह से मुख्य सचिव भी थे। पुशत-दर-पुशत ये और इनके लड़के इसी पद पर आसीन होते रहे। जिससे यह खानदान बार-बार अधोगति को प्राप्त होता रहा। जिसका अवलोकन आप पुराणों में कर सकते हैं। इनके चलते कभी भी कोई भी राजा विपत्ति में फँसता अवश्य रहा। ये कहलाते हैं त्रिकालदर्शी, लेकिन एक घण्टे बाद क्या होगा वह भी नहीं बता सके। न ही आगाह कर सके राजा को या पुर को भावी संकट से सावधान होने हेतु। चूँकि ये पुरोहित भी थे। पुर का हित सोचना एवं कराना भी इन्हीं पर था। यदि राम को सद्गुरु विश्वमित्र बलात् अपने साथ नहीं ले जाते तो सम्भव होता कि राम के बाद इनका खानदान ही समाप्त हो जाता। इनका नाम लेने वाला नहीं होता। चूँकि दशरथ जो श्रवण कुमार के पिता के द्वारा श्रापित थे। कुष्ठ रोग से ग्रसित थे ही, जिससे किसी तरह मुक्त हुए। जैसे ही इससे मुक्त हुए वैसे ही वशिष्ठ जी ने सभी देवर्षि से मंत्रणा कर इन्हें कुजाति छोटकर समाज विरोधी रूपी दण्ड दिलवा दिया जिससे इन्हें कभी भी मुक्त नहीं किया। यही वजह थी कि राजा जनक ने अपनी पुत्री के स्वयंवर का निमन्त्रण दशरथ को नहीं दिया था। जबकि राक्षस, गन्धर्व, नाग, ऋषि, मानव सभी संस्कृति के प्रधान को दिया था। गुरु विश्वमित्र इस स्थिति को भी भाँप गये थे एवं

स्वयंवर से मात्र पन्द्रह दिन पहले राम-लक्ष्मण को लाये। सारा ज्ञान देने एवं स्वयंवर की प्रक्रिया पूरी करने के बाद ही अयोध्या सन्देश दिया। एक कारण यह भी था कि परशुराम राम-लक्ष्मण को मारने के लिए उतावले हो उठे। क्या उन्हें नहीं मालूम था कि स्वयंवर में धनुष टूटने जा रहा है? क्या उन्हें या उनके शिष्यों को निमन्त्रण नहीं मिला था। अन्त में परीक्षा के नाम पर परशुराम को बचाया गया। किसी भी विघ्न में, बाधा में वशिष्ठ कुल पुरोहित होकर भी मौन स्वीकृति प्रदान कर देते हैं, जिसे राम ठीक से समझ गये थे। जिस बात को वशिष्ठ भी जान गये थे। यही वजह है कि वशिष्ठ राम के राज्यारोहण होने के बाद वाल्मीकि को राम के द्वारा ब्रह्मर्षि की पदवी प्रदान करने के बाद कहते हैं कि हे राम मैं जानता हूँ कि पुरोहिती कर्म अत्यन्त नीच है। इसके बावजूद भी मैं यह कर्म करते आ रहा हूँ। चूँकि मुझे ज्ञात हो गया था कि तुम्हारा अवतरण होने जा रहा है। तुम्हारे दर्शन से मेरा भी कल्याण हो जायेगा। इस तरह फूल-माला अर्पित कर राम की पूजा करते हैं एवं स्वयं राम से उपदेश ग्रहण करते हैं। चूँकि राम अपने बच्चों की शिक्षा का भार वाल्मीकि को सौंप चुके थे। प्रजा भी वाल्मीकि एवं विश्वामित्र की तरफ ही उन्मुख थी।

- (2) **वामदेव**—ये कर्मकाण्डी थे। वेदज्ञ थे। वशिष्ठ के निर्देश पर ही कर्मकाण्ड करते थे।
- (3) **सुयज्ञ**—यज्ञ का विधि-विधान देना एवं कराना। अच्छे यज्ञ जो राजा-प्रजा को सुफल दें, कराने में सक्षम थे।
- (4) **जाबाल**—ये विद्वान एवं तार्किक थे। न्याय शास्त्र के विद्वान थे। मीमांसक के भी ज्ञाता एवं दिग्दर्शक थे।
- (5) **कश्यप**—ये तपस्वी, धीर-गम्भीर एवं ज्यादा मौन रहने वाले थे। जब कभी कुछ पूछा जाये तब ही बोलते या सुझाव देते थे। नीति-निपुण एवं प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्हीं के पुत्र विभाण्डक थे। जो सदा जंगल में तप में रहते एवं इन्होंने अपने पुत्र ऋषिशृंग को भी बाल्यावस्था में ही तपस्वी तथा कर्मकाण्डी बना दिया। इन्होंने ही दशरथ जी के यहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ किया।
- (6) **गौतम**—ये तपस्वी के साथ-साथ न्यायिक एवं मीमांसक भी थे। इन्हीं के पुत्र शतानन्द जनक के मन्त्री थे।
- (7) **दीर्घायु**—ये तीक्ष्ण बुद्धि वाले योग दर्शन के ज्ञाता थे। इनकी नीति से व्यक्ति लम्बी आयु प्राप्त कर सकता था। इसी से इन्हें दीर्घायु कहा गया। ये समदर्शी एवं तत्ववेत्ता थे।

(8) **मार्कण्डेय**—ये अनन्य शिव भक्त एवं हर योग के ज्ञाता थे। अमरत्व ग्रहण करने की विद्या इन्हें ज्ञात थी।

(9) **कात्यायन**—इन्हीं से कात्यायन गोत्र भी चला है। ये तपस्वी, समदर्शी, योग दर्शन के ज्ञाता थे। ये आत्मज्ञान को उपलब्ध थे।

यही वजह थी कि ये आठ ऋषि राज-काज में कभी हस्तक्षेप नहीं करते। अपने निष्काम कर्म में लिप्त रहते। वशिष्ठ राज्य पर हर समय दबाव बनाये रहते एवं किसी भी तरह कूटनीति का पासा फेंककर राजा को दल-दल में फँसाये रहते। जिससे इनकी स्वार्थ-सिद्धि होती रहे।

राम का वन गमन [वनवास]

दशरथ जी का पूरा परिवार योग युक्त है। सभी आनन्दित हैं, प्रसन्न हैं। यदि किसी भी साधक में किसी भी प्रकार का दोष रह जाता है एवं समय रहते उसका निवारण सद्गुरु के सान्निध्य में नहीं कर लेता, तो वह दोष अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित हो पल्लवित-पुष्पित हो जाता है जिसमें विष फल आ ही जाता है एवं साधक को अधोगति में ला पटकता है। इसी से साधक को चाहिये कि अपने संस्कारों के बीज को हर हालत में साधना रूपी आग में भून डाले जिससे उनके अंकुरित होने की सम्भावना नहीं रहे। अन्यथा दशरथ की तरह यदि सलाहकार ऋषि वशिष्ठ एवं कैकयी की तरह सलाहकार मंथरा रहेगी तो राम का निष्कासन एक दिन अवश्य ही हो जायेगा। अयोध्या सूनी हो जायेगी। राम के निष्कासन में पूरी तरह देव संस्कृति ही सक्रिय थी। कैकयी, कैकय देश जो वर्तमान ताशकंद (रूस) है, की थी। यह शादी वशिष्ठ एवं इन्द्र के परामर्श से हुई थी। यही वजह थी कि दशरथ जी को देवासुर संग्राम में कैकयी के साथ जाना पड़ा था। मंथरा बहुत ही चतुर कूटनीति में निपुण देव कन्या थी। जो समय-समय पर देवनीति कैकयी को समझाया करती थी।

भरत हर समय देवराष्ट्र ही रहते हैं, जहाँ उन्हें नीति, धर्म, राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। राम को वनवास देने में कैकयी, मंथरा, सरस्वती, इन्द्र एवं वशिष्ठ की अहम भूमिका होती है। एक भी मानव ऋषि इस मन्त्रणा में सम्मिलित नहीं है। वे तो अनहोनी घटना को देखकर दंग रह जाते हैं। राम विपरीत परिस्थिति को देखते हुए गृह का परित्याग करते हैं। हालाँकि इसे दिखाने के लिए राक्षस वध का उद्देश्य दिखाया गया है। क्या राम राज्य करते हुए अपने सभी भाइयों एवं सेना के साथ राक्षस संस्कृति पर चढ़ाई नहीं कर सकते थे? ऋषियों का कल्याण तब और आसान था। युद्ध भी आसान हो सकता था। राम अकेले

कैसे जा सकते थे, चूँकि अकेले ज्ञान का भी कोई अस्तित्व नहीं होता। अतएव ज्ञान अपने साथ वैराग्य एवं निष्काम कर्म रूपी सीता एवं गुरु अनुकंपा रूपी धनुषबाण लेकर ही संन्यास ग्रहण करते हैं।

जब संन्यासी गृह से आस्था तोड़ता है। समझ जाता है कि गृह सत्य नहीं हो सकता तब प्रथम पड़ाव होता है जमना तट के पार। प्रथम बार ही वह (अहंकार के) तट को पार कर जाता है। प्रकाश में पहुँचकर ही विश्राम करता है जहाँ अपने सगे-सम्बन्धियों को भी छोड़ देता है। पहुँच जाता है गंगा तट पर। जब साधक को गंगाजल मिल जाता है। उस शीतल पावन जल का पान कर लेता है। साधक गुरु से सीखकर ही इसे पान कर सकता है। वह अमृत तुल्य जल मान सरोवर से निकल कर अमरनाथ पर टपू-टपू टपकते रहता है जिसे साधक पान कर दिव्य हो जाता है। अब उसे सुमति की भी जरूरत नहीं होती। चूँकि सुमति रहने पर कुमति के आने की सम्भावना रह जाती है, अतएव कुमति को पहले ही छोड़ आया है। अब यहाँ सुमति रूपी सुमंत को भी विदा कर देता है। अब दूसरी रात्रि निषाद राम रूपी मर्मज्ञ का कन्दमूल खाकर राम वट वृक्ष रूपी धर्म के नीचे विश्राम करते हैं तीसरी रात्रि पहुँच जाते हैं। प्रयाग राज। जहाँ त्रिवेणी संगम पर स्नान कर कृतार्थ हो जाता है। गंगा-जमुना-सरस्वती (इंगला-पिंगला-सुष्मना) का संगम। साधक यहाँ स्नान करते ही भर जाता है, प्रकाश पुंज से। जन्म-जन्म के संस्कार क्षय हो जाते हैं। दोबारा जन्म हो जाता है। वह हो जाता है द्विज। यही है प्रयागराज का भारद्वाज आश्रम। साधक यहीं निर्विघ्न साधना के लिए भारद्वाज एवं संगम तथा अक्षय तट जिसका क्षय नहीं हो, के समक्ष आशीर्वाद ग्रहण कर आगे की यात्रा प्रारम्भ करता है।

महात्मा राम भारद्वाज से आगे की यात्रा करने हेतु दिशा-निर्देश लेते हैं, पहुँच जाते हैं चित्रकूट। यहाँ की सुन्दरता देख राम कुछ काल यहीं रुक जाते हैं। यहाँ सबसे पहले मिलने जाते हैं महर्षि वाल्मीकि से। उस जंगल के सम्बन्ध में, आत्मतत्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं। कुछ काल के बाद मिलते हैं महर्षि अत्रि से, सीता मिलती है अत्रि पत्नी अनसुईया से। ये जानकारी देते हैं आगे आने वाले सम्भावित विघ्नों के सम्बन्ध में। कहते हैं हे राम! जो साधक अपने सद्गुरु का ध्यान कर इस पथ पर चलता है वह विघ्नों को पार कर एक न एक दिन अवश्य ही परमतत्व को प्राप्त कर लेता है। सद्गुरु हर स्थिति में, हर जगह अपने प्रिय शिष्य की रक्षा वैसे ही करता रहता है जैसे अबोध-शिषु को माँ आंचल में ढंके रहती है। आप यहाँ बहुत काल इस जगह रुक गये। साधक का ध्यान एक जगह ही रुक जाने पर माया का प्रपंच शुरू हो जाता

है। बाद में उसे वही अच्छा लगने लगता है। चूँकि ऋद्धि सिद्धि भी आ जाती है। अतएव साधक का इससे आगे बढ़ जाना ही श्रेयस्कर होता है। राम लक्ष्मण और सीता स्नान कर ध्यान कर चलने को उद्यत ही थे कि देवराज पुत्र जयन्त सीता के स्तन में चोंच मार देता है। यही है देव संस्कृति। ये सदा राम को प्रताड़ित करने का प्रयास करते हैं, जिससे जंगल में ही इसका प्राणान्त हो जाये। निर्गुण पार ब्रह्म परमात्मा का साधक देव देवी के चक्कर में नहीं पड़ता, हाँ सामने आने पर बांदगी अवश्य कर लेता है एवं अपने सद्गुरु के निर्देशन पर आगे बढ़ जाता है। राम कुमार गामी इन्द्र पुत्र (यथा पिता तथा पुत्र एवं प्रजा) जयन्त को दण्ड देते हैं। यहाँ दण्ड देना इसलिए उचित है कि अभी यात्रा लम्बी है या अभी तो प्रारम्भ ही हुई है। कहीं कमजोर जानकर ये विभिन्न रूपों में तंग न करें। ये देव संस्कृति या तथाकथित समाज के ठेकेदार आगे अवरोधक न बनें। इसलिए राम जंगल में भी निम्न जातीय ऋषि या दलित उपेक्षित जाति-वर्ग के लोगों से मिलते हैं। उन्हें प्रेम देते एवं प्रेम पाते हैं। चूँकि ये सीधे-सरल, परमात्म मार्ग के अनुगामी हैं। तथाकथित विद्वान एवं उच्च लोग कुतार्किक एवं कुमार्गगामी हैं। ये अपने तर्क शक्ति से केवल छिद्रान्वेषण करेंगे। मार्ग में बाधा बनेंगे। भारद्वाज एवं अत्रि भी चन्द्रवंश से आते हैं। वाल्मीकि भंगी थे तो निषाद शूद्र परन्तु ये सभी साधना के चरम शीर्ष पर पहुँचे थे। जहाँ देवर्षि या देवगण की पहुँच की कल्पना ही नहीं थी। राम ने सबसे पहले ऐसे ही ऋषि महर्षि से मिलकर अपना रास्ता प्रशस्त करना उचित समझा।

भरत का आगमन

भरत भक्ति के प्रतिरूप हैं तो शत्रुघ्न विवेक के। सन्देश मिलने पर अयोध्या आते हैं। यहाँ की स्थिति देखकर भयभीत हो जाते हैं। देव संस्कृति के प्रतिनिधि इन्हें राजा के रूप में देखना चाहते हैं। वशिष्ठ राज्य ग्रहण करने का विवेचन भी करते हैं। भरत भाई शत्रुघ्न की तरफ देखते हैं। शत्रुघ्न विवेक विचारवान जो ठहरे, तुरन्त बोल देते हैं नहीं यह असम्भव है राजा तो राम ही होंगे। यही कुल की परम्परा है। वशिष्ठ वगैरह लोग भाँप जाते हैं। अब गृहयुद्ध हो सकता है। चूँकि दशरथ जी राम, सीता, लक्ष्मण के वियोग में शरीर छोड़ चुके हैं। प्रबुद्ध नागरिक एवं मन्त्रीगण भी मृतवत हो गये हैं। कौशल्या एवं सुमित्रा की स्थिति भी दारुण है। अब स्थिति अति को भी पार कर सकती है। शत्रुघ्न विवेकवान हैं। अविवेकी कार्य कभी सहन नहीं करेगा। वह विद्रोह कर ही देगा। हम लोग अब कहीं के नहीं रहेंगे। अतएव अपनी विपरीत परिस्थिति देख सब मौन हो

जाते हैं। शत्रुधन मंथरा को बंदी बनाते हैं जो श्री राम के खिलाफ आवाज उठाने का दुःसाहस करती है उसे कारागार में डाल देते हैं। कह देते हैं जो भूलकर भी राम के खिलाफ सोचेगा, बोलेगा वह हमारा शत्रु है। शत्रु से कैसे निपटा जाता है। वह हम जानते हैं। हद हो गयी हमारे परिवार में दंड डालकर सारा परिवार ही नहीं अपितु राष्ट्र ही तहस-नहस कर दिया। अब आगे इस तरह की हरकत कदापि बर्दाश्त नहीं होगी। पुरोहित वशिष्ठ जी आप किस मुँह से भैया भरत का राज्याभिषेक करना चाहते हैं क्या यही है हमारे परिवार की परम्परा। क्या यही है अयोध्या की रीति-नीति? आप नीतिज्ञ कहे जाते हैं। काम करते हैं, अनीति का। जाइये राम को राज्य देने की तैयारी कीजिये। हम दोनों भाई जायेंगे वहाँ जहाँ राम हो। हम दोनों जंगल जायेंगे। वे ही दोनों भाई हमारे पूज्य हैं। राम ही अयोध्या में राज्य करेंगे। आप यहाँ के मुख्य सचिव भी हैं। भाई राम के वन गमन एवं पिता की मृत्यु के पहले हमें क्यों नहीं सूचना दी गयी। इस तरह की सूचना क्यों आपके द्वारा छिपाई गयी। क्यों नहीं माँ कैकयी एवं मंथरा को बंदी बनाया गया। देश में आपात काल की घोषणा क्यों नहीं की गयी? देखते हैं कौन विद्रोह करता है भाई राम के खिलाफ। शत्रुधन का विवेकपूर्ण वचन सुन एक तरफ अयोध्या की जनता में जीवन का संचार होता है तो दूसरी तरफ विरोध दब जाता है। भरतजी को शत्रुधन का सुझाव हितकर लगा। भक्ति बिना ज्ञान के कैसे रह सकती है वे बेचैन हो उठते हैं। पिता की भी मृत्यु हो गयी है। विपरीत परिस्थिति देख माँ कैकयी को भी कटु वचन बोलते हैं। भविष्य में माँ कहने से भी इन्कार कर देते हैं। स्वयं भी राम सा संन्यासी का जीवन व्यतीत करने की शपथ ले लेते हैं। चौदह वर्ष तक राम के प्रतीक खड़ाऊँ को रखकर भक्ति में लग जाते हैं। जो भी राम का प्रिय है उन्हें प्रिय लगता है। वे अपनी सुधि खो देते हैं। राम-राम कहते उनके ही ध्यान में, नन्दी ग्राम की पर्ण कुती में चौदह वर्ष व्यतीत कर देते हैं। राम का परित्याग कर भक्ति कैसे राज्या-रूढ़ हो सकती है। इस अवधि में शत्रुधन ही अपने विवेक द्वारा भरत का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पृथ्वी पर पहली बार राजमुकुट एवं राजसिंहासन चौदह वर्ष तक गंद बनकर रह गया। किसी ने ग्रहण तक नहीं किया। राम ने भरत के लिए परित्याग किया। भरत ने राम के लिए। यही होता है भगवान् एवं भक्त के बीच, दोनों के बीच कोई दरार डाल ही नहीं सकता। डालने वाले का ही मुँह काला हो जाता है। इसी अवधि में राम राज्य लागू किया गया है। इस राज्य का संविधान लिखने वाले हैं महर्षि वाल्मीकि। भक्त ही भगवान् का साम्राज्य स्थापित कर सकता है। शत्रुधन देव संस्कृति के ऋषिगणों को आदेश दे डालते हैं। अब आपको रहना

है तो हमारी सभ्यता संस्कृति के अनुरूप रहना होगा। राम को ही राजा मानना होगा अन्यथा आप लोग इस देश का परित्याग कर खुशी-खुशी देव राष्ट्र वापस जा सकते हैं। अब राम राज्य लागू होगा ही। भरत की मौन स्वीकृति है। उन्हें शत्रुधन के विवेक पर पूर्ण विश्वास है अतएव भरत जी राम राज्य की बागडोर शत्रुधन के हाथों में सौंप स्वयं नन्दीग्राम में भक्ति में लीन हो जाते हैं। जागते-सोते, खाते-पीते हर समय, हर क्षण राम ही उन्हें याद आते हैं। राम के सिवाय न कुछ देखना चाहते हैं न ही सुनना। भीतर-बाहर भरत राममय हो जाते हैं। यही है भरत की भक्ति। जिस भक्ति के पोषण हैं राम। सभी खुश हो जाते, आनन्दित हो जाते हैं। सबके प्यारे हो जाते हैं भरत। वशिष्ठ की बहुत सी राज्य द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ, शत्रुधन द्वारा छीन ली जाती हैं। भरत का संसर्ग है शत्रुधन रूपी विवेक से। विवेक का साम्राज्य है भक्ति से। फिर तो राम राज्य होगा ही एवं एक-न-एक दिन राम रूपी ज्ञान एवं लक्ष्मण रूपी वैराग्य को स्वयं आना ही होगा। हृदय से लगाना ही होगा।

राम का दंडकारण्य प्रवेश

राम अब ऐसे अरण्य में प्रवेश कर रहे हैं। जहाँ सब नहीं तो अधिकांशतः दण्ड के ही अधिकारी हैं। एक तरह यही वह स्थान है जहाँ देवता एवं राक्षस दोनों मिलकर मानवता को समाप्त करने के लिए नित्य नयी कूटनीति का सृजन करते थे। दोनों का सम्मिलित मुख्यालय था। जिसका संचालन स्वयं देवराज इन्द्र करते थे। इस अरण्य में ज्यादातर ब्रह्मा के ही वंशज होंगे। जिसे बाल्मीकि रामायण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है, जो उनके ही आशीर्वाद से पलते एवं बढ़ते थे। इसीलिए बाल्मीकि एवं महर्षि अत्रि ने राम को दण्डकारण्य भेजा। दण्डकारण्य की सुरक्षा का दायित्व विराध नामक यक्ष का था। राम का प्रवेश करते ही विराध से सामना होता है। विराध सीता को उठा ले जाता है। सीता रूपी आत्मा निष्काम कर्म के उठाने पर रामरूपी ज्ञान असहाय हो जाते हैं। उनके मुँह से स्वतः निकल जाता है, हे भाई लक्ष्मण! जितना कष्ट पिता के मरने का, कैकयी द्वारा भरत को राज्यगद्दी, हमें बनवास भेजने का नहीं हुआ था उससे अधिक कष्ट सीता को विराध के द्वारा उठाने पर हुआ है। कैकयी ने दूरगामी सोच के तहत ही हमें वन भेजा था। यहीं सीता का हरण एवं राम की मृत्यु हो जायेगी। जिससे भरत का राज्य अचल स्थिर हो जायेगा। फिर राम एवं लक्ष्मण के मिश्रित प्रयास से यक्ष विराध, घायल हो जाता है। जिससे विराध अपने एवं आगे के तथाकथित ऋषियों के सम्बन्ध में बता देता है जिससे राम सावधान हो जाते हैं।

सरभंग-सुतीक्ष्ण

राम सावधान होकर जैसे ही सरभंग जी के आश्रम पर जाते हैं। दूर से ही देखते हैं कि देवराज इन्द्र वहाँ पधारे हैं। यह देख उनकी शंका दृढ़ हो जाती है। ये छिपकर सरभंग एवं इन्द्र की वार्ता सुनते हैं। जिसे अपने शिष्य यानी गुप्तचर के माध्यम से सरभंग जान लेते हैं। राम के देखते ही देखते वे भयातुर हो इन्द्र के साथ ही ब्रह्मलोक भाग खड़े होते हैं। यानी राम रूपी ज्ञान के द्वारा जिस देवर्षि का सर भंग कर दिया गया, वही थे सरभंग। अब अन्य ऋषि निर्भीक हो राम से मिलते हैं एवं वहाँ के सुतीक्ष्ण और अगस्त्य के सम्बन्ध में विस्तार से बता देते हैं। वे कहते हैं राम इस वन में निवास करने वाला प्रस्थी महात्माओं का यह समूह है जिसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक है। (वा.) इस प्रकार वे ऋषिगण बातें करते हुए हड्डियों, अस्थि पिंजरों के ढेर को दिखाते हैं। यही शोचनीय है। इसी वन में हिंसक पशु भी हैं, राक्षस भी हैं, देव भी हैं, देवर्षि भी। इसका क्या कारण हो सकता है? अस्थि पिंजर भी यहीं है और किसी वन या ऋषि आश्रम के नज़दीक नहीं। साथ ही यहीं के ऋषि ब्रह्मलोक भी जाते हैं एवं स्वयं इन्द्र भी आते हैं एवं राम को देख चुपके से भाग जाते हैं। इन्द्र ने चित्रकूट अपने पुत्र जयन्त को भेजा एवं वहाँ वे स्वयं आये। क्या विराध की मृत्यु का सन्देश सुनकर घबराहट में आये? खैर राम आगे बढ़ जाते हैं। राम का यह कार्य दण्डकारण्य में देवलोक के लिए दुःखद समाचार था। तथाकथित देवर्षि अन्दर-अन्दर हिल गये थे। राम सोचते हैं ये लोग ही यज्ञ के नाम पर पशु यज्ञ, नरमेघ यज्ञ एवं इन्द्र देवर्षि की खुशी के लिए सोमयज्ञ किया करते हैं इसी से अस्थी पंजर यहां बहुत हैं। हिंसक पशु इनकी रक्षा में नियुक्त हैं। अतएव विशेष सावधानी की जरूरत इसी वन में है। ऐसा सोचते वे पहुँच जाते हैं सुतीक्ष्ण के आश्रम में।

सुतीक्ष्ण गौतम वंशीय हैं। वे पहले ही अपनी माँ अहिल्या का उद्धार राम के द्वारा सुन चुके हैं। यहाँ तक आने का सन्देश एवं घटना भी सुन चुके हैं। राम पहुँच जाते हैं सुतीक्ष्ण के सामने। राम स्वयं अपना परिचय देते हैं। यह देख सुतीक्ष्ण बार-बार चरण पकड़ते हैं।

“तब मुनि हृदय धीर धरि गहे पद बारहि।

निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा विविध प्रकारा॥”

सम्भवतः यह पहले ऋषि हैं जो बार-बार पैर पकड़ रहे हैं। यह भय का ही चिह्न इंगित करता है। इधर सीता राम से कहती है हे राम! दण्डक वन में मेरा मन व्याकुल हो रहा है। यहाँ आना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। सीता सरल

है। निष्कपट है। उन्हें यहाँ के देवर्षि राक्षस एवं देव का व्यवहार अच्छा नहीं लगता है। राम अगस्त्य के आश्रम जाने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो सीता भयभीत हो जाती है। खैर सुतीक्ष्ण स्वयं कहते हैं हे राम! वे हमारे गुरु हैं। हमें गये हुए भी बहुत दिन हो गये, मैं स्वयं आपके साथ उनके आश्रम पर चलता हूँ।

अगस्त्य

राम अगस्त्य जी के आश्रम पहुँचते हैं तथा उनसे मिलकर आश्रम घूमने का आग्रह करते हैं। सभी कक्ष में देखते हैं कि इन्द्र, ब्रह्मा, विवश्वान, चन्द्रभान, कुबेर, धाता, वायु, वरुण इत्यादि देवताओं के लिए स्थायी आसन भी बने हुए हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि कुछ समय पहले ही इन्द्र यहाँ से गये हैं। यहाँ का खर्च कुबेर स्वयं चलाते हैं। अगस्त्य के भाई विश्वकर्मा यह भी बताते हैं कि वातापि तथा इल्व नामक ब्राह्मण जो बकरे के भेष में थे। देवर्षि अगस्त्य खा गये। अस्त्रास्त से यह भी ज्ञात हुआ कि भ्राता वशिष्ठ के द्वारा राम के सम्बन्ध में सन्देश मिलता रहता था। राम स्थिति को समझ गये कि यही मुख्यालय है जहाँ से संचालित होती है देव संस्कृति पृथ्वी पर। भारतीय संन्यासी को बकरा कह कर ये अगस्त्य खा गये। यही वह केन्द्र है जहाँ से रक्ष संस्कृति के लोगों द्वारा मानव संस्कृति के ऋषियों एवं लोगों के खिलाफ षड्यन्त्र रचे जाते हैं। ये लोग ही किसी भी सद् विप्र को बकरा कह कर मारकर खा जाते हैं। पूरे मानव समाज की संरचना को तोड़मरोड़ कर रख दिए हैं, ये लोग। राक्षसों द्वारा दण्डकारण्य में ये रक्षित हैं। इन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं। अगस्त्य जी भी राम लक्ष्मण एवं सीता के ललाट देख एवं उनके सम्बन्ध में सुनकर भयभीत हो जाते हैं। किसी तरह अपना पिण्ड छुड़ाते हुए ये वहाँ जाने को कह देते हैं जहाँ राक्षसों का मुख्यालय है। दोनों का मुख्यालय करीब-करीब ही था, जिससे सन्देश एवं विचार का आदान-प्रदान शीघ्रता से हो सके। इधर राम को पंचवटी जाने तथा रहने का सुझाव देते हैं। उधर खरदूषण को भी सन्देश भेज देते हैं कि राम वहीं निवास करेंगे। आप लोग उन पर ध्यान रखें। किसी भी तरह यह सन्देश शीघ्र लंकापति रावण को दे दें। यह बहुत ही खतरनाक व्यक्ति हैं। अतएव इनका सामना कल-बल-छल से किया जाये। अगस्त्य ब्रह्मा के पुत्र हैं। रावण ब्रह्मा का प्रपौत्र है। इस तरह इनका रिश्ते में पौत्र ही रहा।

राम का पंचवटी आना तथा जटायु से संबंध होना

राम ने देवर्षि के मार्गदर्शन पर पंचवटी के लिए प्रस्थान कर दिया। रास्ते में ही गृध राज जटायु मिल जाते हैं। राम के पूछने पर अपना परिचय देते हुए

बोलते हैं हे राम! मैं आपका मित्र हूँ। आप को जानता हूँ। आपके पिता हमारे मित्र थे। निषाद राज के बाद ये दूसरे व्यक्ति हैं। वे आगे कहते हैं हे राम! यहाँ राक्षसों का प्रचण्ड प्रकोप है। राक्षस तथा देव संस्कृति में सन्धि है। दोनों एक ही बात बोलते एवं सोचते हैं। जिधर से आप आये उधर देवर्षियों का आश्रम के रूप में कार्यक्षेत्र था तो इधर राक्षसों का। पहले राक्षस संस्कृति बहुत ही पुनीत एवं पावन थी। तब मानव संस्कृति से इसकी सन्धि थी। परन्तु संसर्ग में आने पर गुण-दोष होता है। जैसे कैकयी के मंथरा के संसर्ग में आने पर हुआ तब आपकी अयोध्या की जो स्थिति हुई वही स्थिति हम लोगों की हो गयी है। निषाद राजा थे। उन्हें जंगली शूद्र कह दिया गया। अत्रि के आश्रम पर देवताओं की पहुँच नहीं हो सकी। चूँकि, अत्रि को तंग करने हेतु देवराज इन्द्र कई बार गये। परन्तु अत्रि एवं माँ अनसुइया के तप और तेज के सामने टिक नहीं सके। स्वयं देवेन्द्र, ब्रह्मा एवं विष्णु भी उन्हें भ्रष्ट करने पहुँच गये। परन्तु तप बल से माँ अनसुइया ने उन्हें बालक बनाकर पालने में रख दिया। इन देवों की पत्नियों की बहुत अनुनय-विनय पर इस शर्त पर अनसुइया ने इन्हें छोड़ा कि अब भविष्य में आप लोग इधर कभी नहीं फटकोगे। परन्तु ये देव कब अपनी प्रतिज्ञा पर रहते हैं। आपकी ही पत्नी पर चोट कर दी। देवराज पुत्र जयन्त ने। इन्द्र स्वयं भय से नहीं गया। न ही किसी देवता ने ही जाने की हिम्मत की। अन्त में अपने पुत्र को भेजने में इन्द्र सफल हुए। जिसे आपने दण्डित कर ही दिया। जिन राजाओं एवं प्रजा पर इनका कोई वश नहीं चल सका उन्हें सामाजिक रूप से निम्न वर्गीय कह कर उपेक्षित कर दिया। हम भी मानव ही हैं। हमारी आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक संरचना ही जर्जर कर दी गयी। हम लोग इनसे तंग आ गये हैं। अब दीन-हीन अकिंचन से किसी तरह समय व्यतीत कर रहे हैं। हम सब कश्यप जी की ही सन्तान हैं। शुकी से बिनता हुई, बिनता से दस पुत्रियाँ हुई- मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रभदा, मातंगी, शार्दूली, श्वेता, सुरभी, सुरक्षा, कटुका। ये सभी शुभ लक्षणों से युक्त थीं। इस प्रकार भृग से भृगी। मृगमन्दा से ऋष, हरी से सिंह, वानर व भद्रभदा से इरावती नामक कन्या उत्पन्न हुई। जिनका पुत्र लोक प्रसिद्ध लोकनाथ महागज एरावत हुआ। ऐसे ही शार्दूली से मर्कट, मातंगी से मतंग हुए। सुरक्षा से नाग, कन्द्र से गरुड़ एवं अरुण नामक पुत्र। अरुण से मैं (जटायु) उत्पन्न हुआ हूँ। सम्पाति मेरा अग्रज है। येनी मेरी माँ है।

इस तरह महाबली जटायु ने सविस्तार खानदान के सम्बन्ध में कह दिया। साथ ही बताया कि हे राम! इन लोगों ने नागवंशी को सर्प, ऋष को भालू, वानर को पशुवानर, एरावत को हाथी इत्यादि कह दिया जिससे सभी इन्हें पशुवत्

समझने लगे। ये पढ़े-लिखे, धूर्त, देवर्षि हैं। ये ही पुराणादि लिखकर हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को समाप्त करने पर तुले हैं। इन्होंने हम लोगों का वर्णन विभिन्न पशु के रूप में कर दिया परन्तु हमारी पत्नी एवं पुत्री को औरत के रूप में ही रहने दिया। चूँकि ये स्वेच्छाचारी आचरण विहीन हैं केवल हम पुरुष वर्ग से इनकी दुश्मनी है। हमारी औरत वर्ग को सुन्दर औरत के रूप में ही रहने दिया। केवल हमें ही पशु बनाया एवं व्यवहार भी इसी तरह करने लगे। हम लोग नेतृत्व विहीन हो गये हैं। हमारे भाई सम्पाति का राज्य देवताओं ने छीन लिया। उन्हें अपंग कर दिया। अगस्त्य जिस भू-भाग में रहता है वह हमारा ही राज्य था। अब मैं पेड़ पर जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो गया। इसी तरह नागवंशीय लोग कन्दरा और गुफाओं में रहने को विवश हुए। वानर वंशीय लोगों का एक राज बचा रह गया है वह भी इसलिए कि वानर राज बालि ने रावण से सन्धि स्थापित कर ली है। देव संस्कृति अपना ली है। जिसके विरोध में उन्हीं के भाई सुग्रीव ने हनुमान, जामवन्त के साथ मिलकर विद्रोह कर दिया है। बालि शक्तिशाली है। देव सामर्थ्य के साथ रावण द्वारा भी रक्षित है। इससे सुग्रीव भी हम लोगों की तरह अवसर की ताक में वृक्षों की छाया में, पर्वतों की गुफाओं में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। धीरे-धीरे सैन्य शक्ति भी मजबूत कर रहे हैं। जटायु से यह सुन राम अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं बार-बार गले लगाकर मित्रता का वादा किया। श्रेष्ठ जटायु विभिन्न स्थान दिखाते हुए गोदावरी के नजदीक जिधर कुछ नागवंशीय लोग थे, वहीं पाँच पेड़ों के मध्य में झोंपड़ी लगवाते हैं। शमी वृक्ष का पूजन कर उसी की लकड़ी से सुन्दर पर्ण कुटीर बनती है। जिसमें राम-लक्ष्मण सीता विराजमान हो जाते हैं। प्रति-दिन जटायु इधर आने का वादा करते हैं। एवं कहते हैं कि हे राम इधर काम, क्रोध, मोह, अहंकार का ही राज्य है। अतएव आप सावधानी से रहेंगे। सीता को कभी भी अकेले नहीं छोड़ेंगे। अन्यथा कभी भी दुर्घटना हो सकती है।

क्या अगस्त्य जी ने इसी पंचवटी में निवास करने को कहा था? राम सोचने लगते हैं क्या काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार रूपी विष वृक्ष की ही यह वाटिका तो नहीं। ये ऊपर से सुन्दर, पवित्र नजर आती है, अन्दर विष ही तो नहीं है? अतएव राम लक्ष्मण तथा सीता से सावधान रहने को कहते हैं। इधर नागवंशी, गरुड़, अरुण, वंशी लोग रहते हैं। उन्हीं से सम्बन्ध स्थापित कर कथा-कीर्तन करते हुए राम ने चतुर्मास व्यतीत कर दिया। हेमन्त ऋतु आ गयी। साधक को, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से भूलकर भी हँसी, मजाक नहीं करनी चाहिये। भूलकर भी उनसे दोस्ती नहीं करनी चाहिये। अन्यथा ये उस आग की तरह हैं

जिसमें क्षण भर में ही पर्णकुटी जलकर भस्म हो जायेगी। रहने वाले भी जान से जा सकते हैं। आहत हो सकते हैं, वही होता है। एक दिन सुबह राम गोदावरी में स्नान कर सन्ध्या कर पर्णकुटी में सीता के साथ विराजमान होते हैं। आ पहुँचती है स्वर्णरिखा। जो माँस-मदिरा पीकर साक्षात् काम का रूप हो चुकी है। राम से काम की याचना करती है। राम हँसी में लक्ष्मण के नजदीक भेज देते हैं। कहते हैं वे बालब्रह्मचारी हैं, सुन्दर हैं। तुम जाओ वे तुम्हारी कामना पूरी करेंगे। लक्ष्मण के यहाँ जाने पर वे विनोद भरी बात कर राम के यहाँ भेजते हैं। इस तरह का विनोद करना साधक के लिए खतरे का आमन्त्रण करना है। वह सीता पर आक्रमण कर देती है, जिससे विनोद युद्ध में बदल जाता है। कान प्रिय सुनने का आदी है तो आंख सुन्दरता देखने का। काम के लिए यही तो प्रिय होते हैं। वैराग्य के लिए ये दोनों ही अप्रिय हैं। काम ऐसे प्रिय की अपनी इच्छा पूरी नहीं होने पर अपने पीछे क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार एक-एक कर सबको ले आता है। शक्ति प्रदर्शित करता है। साधक यदि सजग है, उसके साथ निष्काम योग, ज्ञान और वैराग्य के पंख हैं तब उसका काम कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। कामरूपिणी स्वर्णरिखा की मदद में क्रोधरूपी खर-दूषण अपनी सेना लेकर राम पर चढ़ाई कर देते हैं। राम योग युक्त होकर लक्ष्मण के साथ सीता के सान्निध्य में घोर संग्राम करते हैं एवं विजयी होते हैं।

मोह एवं लोभ का आक्रमण

अकम्पन के द्वारा लोभ (अहंकार) को सन्देश दिया गया कि आपकी बहन (काम) का ज्ञान-वैराग्य के द्वारा कान-नाक काट लिया गया। क्रोध को सेना समेत मार गिराया गया। दण्डकारण्य जनपद से देवर्षि तथा राक्षस भाग रहे हैं। नागवंशी, अरुणवंशी (जटायु के वंश), ऋषवंशी, मानव निर्भीक हो रहे हैं। मानव सभ्यता, संस्कृति का प्रचार बढ़ चला है। ज्ञान-वैराग्य, भक्ति, विवेक तथा आत्मचिन्तन से ये एक सूत्र में बँधते जा रहे हैं। अकम्पन रूपी विक्षिप्त चित्त-वृत्ति, लोभ तथा अहंकार की प्रतिमूर्ति रावण से कहता है कि हे राजन! यदि आप किसी तरह उसकी परम तपस्वी तथा सुन्दर सीता का हरण कर लेते हैं तो वे दोनों तापस कुमार अपने आप मृत्यु को उपलब्ध हो जायेंगे। जिस व्यक्ति का जैसा संस्कार होता है वैसी ही चित्त वृत्तियाँ होती हैं। उसी के अनुरूप सोचता और सलाह भी देता है। अतएव सजग साधक हर समय सद्गुरु के सान्निध्य में रहकर ही उचित दिशा-निर्देश प्राप्त करता है। भूलकर भी मोह के चक्कर में पड़ा कि उसके निष्काम रूपी योग या आत्मा का हरण होना निश्चित है, जैसे रावण को सीता प्राप्ति का लोभ हो जाता है। वह मोह रूपी मारीच के यहाँ पहुँच जाता

है। मारीच रूपी मोह लोभ को समझाता है। साधक के नजदीक जाना उचित नहीं है। चूँकि हरि कृपा गुरु अनुग्रह प्राप्त हरिजन भस्म कर देता है। हे राजन आप अपने नगर को जायें तथा सुख-सुविधा का भोग करें। दण्डकारण्य का परित्याग करें। रावण को भी उचित लगा और किसी साधक से छेड़-छाड़ करना उचित नहीं समझा। लंका में आराम से रहने लगा। इधर काम पूरी तरह घायल है। नाना रूप अपना कर आक्रमण करना चाहता है। चतुर साधक को काम पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। अन्यथा मौका पाकर काम चढ़ाई कर ही देता है। जैसे शंकर जी ने एक बार काम को भस्म किया परन्तु मौका पाकर जैसे ही काम ने शंकर पर चढ़ाई की, वे काम के वशीभूत हो गये। चराचर सृष्टि ही उन्हें काम स्वरूप दिखाई देने लगी। वे अपना लिंग बढ़ाकर चराचर से भोग करने को उद्यत हो गये जिसे विष्णु ने अपने चक्र से बारह भाग में काट दिया। अब शंकर बारह शरीर से भोग करने लगे। अपना पराया, बड़ा-छोटा, नाता-रिश्ता काम के यहाँ नहीं होता। यही हुआ शंकर के साथ। तब विष्णु ने बारह पार्वती भग का निर्माण कर बारहों लिंगों को स्थापित किया। जो द्वादश ज्योतिर्लिंग हैं। अतएव चतुर साधक का परम कर्तव्य है कि काम का रूपान्तरण करे। जैसे ही काम का साधक रूपान्तरण करता है, साधना एवं प्रेम में फल लगता है सुन्दर सुगन्धित ब्रह्मचर्य का।

स्वर्णरिखा (काम) घायल है। चोट से। वह रावण के अहं पर चोट करती है। वह भी घायल सर्प की तरह फुँफकार उठता है। पुनः मारीच को बाध्य करता है। मारीच माया रूपी मृग बनता है। अयोध्या में माया रूपी मंथरा का आगमन था। दण्डकारण्य में माया रूपी मारीच का आगमन होता है। वह मनोहर रूप पकड़ कर सीता को मोहित करने में सफल हो जाता है। मोह देखने सुनने में सुन्दर एवं विश्वसनीय लगता है, लेकिन प्राणघातक होता है। साधक का सर्वस्व नाश कर देता है। जब साधक तथाकथित कर्मकाण्ड के चक्कर में पड़ता है तब अहंकार एवं मोह दोनों ही तो उसे घेर लेते हैं। रावण भी अद्वितीय कर्मकाण्डी तथा तपस्वी था। यज्ञ में अपने सिर तक का हवन करता था जिससे वह सिद्धियों का स्वामी तो बन गया परन्तु आत्मदर्शन नहीं कर सका। पूर्ण शान्ति को उपलब्ध नहीं हो सका। अहंकार, काम, क्रोध, लोभ को अवश्य ही उपलब्ध हो गया। आप गौर से देखेंगे कहीं भी पुरोहित तथा यजमान शान्तचित्त नज़र नहीं आयेंगे। आपस में उलझे हैं दक्षिणा के लिए। यजमान की चित्तवृत्तियाँ यज्ञ करते-करते अर्थ पर टिक जाती हैं। यज्ञ की समाप्ति पर कुछ-न-कुछ अनर्थ हो ही जाता है। साधक अपनी आत्मा रूपी अग्नि में ज्ञान-वैराग्य से सारी चित्तवृत्तियों को,

संस्कारों को हवन कर देता है। फिर वह हो जाता है आनन्दित। पा लेता है, वह सब कुछ जो उसे अप्राप्य था। सीता वाटिका में पुष्प तोड़ रही थीं। किसी कर्मकाण्ड हेतु। माया मृग जिस तरह का उसका रूप था। वैसा आज तक न उसने देखा, न सुना था। वह मोह के चंगुल में फँस गयी। बार-बार राम से निवेदन करती है, उसे पकड़ने या मारने हेतु। वैराग्य रूपी लक्ष्मण समझाता भी है वह माया मृग है। वह मारीच है। अनर्थकारी है। परन्तु सीता नहीं मानती। राम भी सीता के कहने में आकर मृग का पीछा करते हैं। सीता इतना मोह से आसक्त है कि भले-बुरे का बोध खो देती है। लक्ष्मण को भी अनीति पूर्ण बातों से आघात पहुँचाती है। वैराग्य नहीं चाहते हुए, सीता को छोड़कर जाने को बाध्य होते हैं। इस तरह भी वैराग्य ज्ञान का ही अनुगामी है चूँकि वैराग्य शब्द के अन्त में ज्ञ है एवं ज्ञान वहीं से शुरू होता है। लोभ रूपी रावण भी सीता पर मोहित है। अब हो जाता है सीता का अपहरण। अब शुरू हो जाता है कष्ट और दुःखों का दौर। अब राम लक्ष्मण अलग, भरत शत्रुघ्न अलग तथा सीता रावण रूपी लोभ अहंकार के चंगुल में फँसकर विलाप कर रही हैं। अतएव साधक को मोह रूपी माया के प्रति अत्यन्त सजगता की जरूरत है। इसी से सद्गुरु कहते हैं

**“माया महाठगिनी हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै॥
बौले मधुरी बानी।”**

रावण भी त्रिगुण फाँस लेकर ही आया। संन्यासी का रूप ही सतोगुणी फाँस है जहाँ जीव आसानी से विश्वास कर फँस जाता है। इसके बाद रजोगुणी फाँस से सीता का मान करता है। उनकी सुन्दरता की बढ़ाई गुणों की बढ़ाई करता है जिससे साधक दल-दल में फँस ही जाता है तब रावण तमोगुणी फाँस लेकर सीता का हरण कर लेता है। परन्तु साधारण साधक काल फाँस को नहीं पहचान पाता और उसी की तरफ मोहित होता चला जाता है।

**“काल फाँस नर मुगुध न चैते।
कनक कामिनी लागी॥”**

रावण और जटायु

माया मृग की सुन्दरता पर सीता मुग्ध हो जाती है। उसे पाने की कामना कर राम को भेज देती है। जब मृग मारा जाता है तब फिर माया मृग चीत्कार कर ‘हे सीते, हे लक्ष्मण’ कह उठता है। उसकी चीत्कार से पूरा जनपद काँप उठता है। वह राम की ही वाणी बोलता है अपने ऊपर से ओढ़े हुए मृग खाल को फेंक

देता है। अपने वास्तविक शरीर में आ जाता है। अक्सर तथाकथित गुरु भी राम की ही वाणी बोलते हैं। ऊपर से मृगखाल रूपी लाल वस्त्र पहन लेते हैं। मोहित करते हैं जंगल को। सीता का आश्रम खाली हो जाता है। चूँकि पहले आँख का भ्रम हुआ तो राम को भेजा। अब कान का भ्रम हो गया और लक्ष्मण को बरबस भेज दिया। आँख के भ्रम में ही कीट अग्नि में कूद कर प्राण दे बैठता है। कान के वशीभूत हो मृग को प्राण खोना पड़ता है। सीता को दोनों का भ्रम होता है। आश्रम सूना है। रावण अनायास ही साधु वेश में खाली आश्रम में प्रवेश कर जाता है। उसने भी साधु का वेश धारण कर लिया है। लम्बा टीका है। मधुर वाणी है। लाल चोला है। सीता पुनः आँख एवं कान के वशीभूत हो विवेक, वैराग्य, ज्ञान शून्य हो रावण रूपी कपटी साधु के द्वारा अपहरण की शिकार हो जाती है। इसी से साधक के लिए इन्द्रिय निग्रह अत्यावश्यक है। सीता विलाप करती है। रोती है। छटपटाती है परन्तु उसके इर्द-गिर्द के सारे सहायक भाग जाते हैं। देवगण तो इस घटना में शामिल ही हैं। चूँकि साधक जैसे ही ज्ञान-वैराग्य, विवेक रहित हो जाता है। उसकी मदद करने वाला कोई नहीं होता है। हाँ, कहीं कुछ उसका चिर-संचित पुण्य कुछ मददगार अवश्य हो जाता है। उसी क्रम में सीता को विलाप करते, रावण को उसे अपने मजबूत भुजा में कस कर, रथारूढ़ हो जाते हुए वृद्ध जटायु देखते हैं। वृद्ध जटायु ही चिर-संचित पुण्य के प्रतीक हैं। सीता भी इन्हें आर्यपुत्र जटायु राज कह कर चिल्लाती हैं। बचाने के लिए याचना करती हैं ये पक्षी नहीं अपितु मानव ही थे। रावण भी इनसे पूर्व परिचित थे। आर्य जटायु के शरीर में भी आर्यावर्त का संस्कार था। वे आकाशगामी रावण को रोकते हैं। धर्म के संरक्षक रावण को धर्म का उपदेश देते हैं। पर नारी हरण के दोष समझाते हैं। कहते हैं हे रावण! यह ऐसी अग्नि है जिसमें तू और तुम्हारा समस्त खानदान जल कर भस्म हो जायेगा। तू इस तरह का अनर्थ मत कर। रावण के शरीर में देव खून एवं संस्कार व्याप्त था। अतएव इस धर्म-अधर्म को मानने पर तैयार नहीं होता। वह तो मात्र भोग ही मानता है। अतएव जटायु रावण से युद्ध करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

रावण जटायु में घोर संग्राम होता है। जटायु रावण को दो-दो बार मारकर, धराशायी कर देते हैं। सीता को मुक्त कर देते हैं। रावण को होश आता है। क्रोधावेग में जटायु से भीषण युद्ध करता है उसी क्रम में जटायु की दोनों बाँह काट देता है। जटायु बिना हाथ, पैर से युद्ध करते हैं। पैर से ऐसे मारते हैं कि रावण रथविहीन हो जाता है। मुँह में खून आ जाता है। अब रावण अत्यन्त क्रोधित हो चन्द्रहास तलवार से जटायु के दोनों पैर भी काट देता है। जटायु

जमीन पर गिर जाते हैं। रावण सीता को फिर पकड़ लेता है। आकाश मार्ग से उड़ जाता है। धर्म के चार पैर होते हैं दान, पुण्य, योग, जाप। इन चारों पैरों को काट देता है चिरसंचित पुण्य रूपी धर्म धराशायी हो जाते हैं। जटायु राम का चिन्तन करते हुए ध्यान के द्वारा अपना प्राण रोक लेते हैं। जिससे राम को सन्देश दिया जा सके। इधर राम भी भयभीत हो जाते हैं। कुछ ही दूर आने पर लक्ष्मण से मिलते हैं। उन्हें देख उनका भय और प्रबल हो जाता है।

राम-लक्ष्मण आश्रम पर लौटते हैं। सीता को नहीं देख राम भी विलाप करने लगते हैं। रोने लगते हैं। यत्र-तत्र सीता को खोजते हैं। खाने का परित्याग कर देते हैं। हे सीते, हे सीते कहते हुए प्राण त्याग देने को कहते हैं। लक्ष्मण उन्हें बार-बार आश्वासन देकर समझाते हैं। किसी तरह राम को लक्ष्मण सान्त्वना देकर पर्णकुटी का परित्याग कर देते हैं। जिधर सीता गयी है उधर ही राम-लक्ष्मण चल देते हैं। राम जटायु का यथोचित दाह संस्कार कर सीता की खोज में आगे बढ़ जाते हैं। जटायु रूपी चिरसंचित पुण्य राम के आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर देता है। वे स्पष्ट जान गये कि सीता किन के हाथों में फँसी है और अब हमें क्या करना है?

यही है भटक गये साधक के लिए दिशा-निर्देश। राम अपने चिरसंचित पुण्य के सहारे अब आगे की यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। चूँकि शरीर छोड़ते समय जटायु कहते हैं कि हे राम! तुम्हें घबराना नहीं चाहिये, क्योंकि सीता देवी आपको अवश्य ही मिल जायेगी। साथ ही उस दुष्ट रावण का इस पाप कर्म से नाश भी उसी प्रकार होगा जिस प्रकार वंशी का माँस ग्रहण करने से मच्छायी का नाश हो जाता है।

राम का कबन्ध और शबरी से मिलन

राम पत्नी वियोग से पीड़ित हैं। रास्ते में सर्वत्र पत्नी के लिए ही विलाप करते आगे बढ़ रहे हैं। लक्ष्मण उन्हें समझा रहे हैं। मातंग ऋषि के आश्रम के नजदीक एक अन्धकार से पूर्ण गुफा में अयोमुखी नामक राक्षस कन्या लक्ष्मण को पकड़ लेती है। लक्ष्मण से शादी का प्रस्ताव रखती है। घोर अन्धकार में ही काम का निवास होता है। काम असावधान व वैराग्य विहीन साधक को अपना ग्रास बना ही लेता है। लक्ष्मण सावधान, पूर्ण वैराग्य की प्रतिमूर्ति हैं। अतएव उसका भी वही हाल करते हैं। जो स्वर्णरेखा का किया था। राम के साथ आगे बढ़ जाते हैं। रास्ते में ही कबन्ध से भेंट हो जाती है। जब साधक अपने साध्य के प्रति निरन्तर सावधान होकर एकाग्रचित्त आगे बढ़ता है तब रास्ते में पड़ने

वाली बाधा भी अपने आप सहायक हो जाती है। कबन्ध देवपुत्र ही हैं। ऋषिगणों को अपने स्वभाववश डराते, भयभीत करते रहते थे। एक बार मानव ऋषि स्थूलशिरा का भी कपट रूप से उपहास किया। ऋषि ने उस दमुपुत्र कबन्ध को इसी रूप में रहने का श्राप दे दिया। उसका सुन्दर रूप जाता रहा। अब उसने मातंग ऋषि के आश्रम के नजदीक ही अपना आश्रम बना लिया। अयोमुखी के साथ रहने लगा। अपने स्वभाववश माँस, मदिरा का सेवन करता था। अयोमुखी को दण्डित देख कबन्ध राम-लक्ष्मण को पकड़ लेता है दोनों को अपने मजबूत हाथों से दबाकर जान से मारने का प्रयत्न करता है परन्तु लक्ष्मण के द्वारा कबन्ध का हाथ काट दिया जाता है।

राम-लक्ष्मण कबन्ध के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं एवं कबन्ध भी श्राप से मुक्त हो जाता है। वही शबरी के आश्रम पर विश्राम करने को बताता है। कबन्ध कहते हैं हे राम! आप पत्नी के वियोग से तड़प रहे हैं। अत्यन्त आतुर हैं। आप धैर्य रखें। आपको सीता से मिलने की नीति कहता हूँ। राजा लोग अपने कार्य की सिद्धि के लिए सन्धि, विग्रहमान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय छह प्रकार की नीति बरतते हैं। इसके बिना कार्यसिद्धि कदापि नहीं हो सकती। आप विपत्ति में फँस गये हैं। महान कष्ट भोग रहे हैं। यह भाग्य-चक्र का फेरा है। सीता-हरण-भी भाग्य-चक्र का ही कार्य है। इस समय आपको यथाशीघ्र कोई उत्तम मित्र प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि बिना मित्र के कार्य की सिद्धि नहीं होगी। मैं आपको एक विश्वासपात्र मित्र बताता हूँ। उसको मित्र बनाकर आप अवश्य ही अपने कार्य में सफल होंगे। वह है वानर राज सुग्रीव। आप समस्त चिन्ताओं को त्याग कर सुग्रीव को अपना मित्र बनाइये। देवी सीता की प्राप्ति में वह पूरी सहायता करेगा। मित्रता अग्नि को साक्षी देकर कीजिये। जिससे कभी छूटे नहीं। उसको भी अच्छे मित्र की अभी अत्यन्त आवश्यकता है। सीता का पता लगाना उसके लिए दिन-भर का खेल है। सुग्रीव आपकी सीता को चाहे वह जहाँ भी होगी, अवश्य ही खोज लायेगा। इस प्रकार कबन्ध राम को सलाह दे अपने गन्तव्य स्थल को प्रस्थान कर जाता है। राम प्रसन्न हो शीघ्र प्रस्थान करने को कहते हैं। रास्ते में ही शबरी का आश्रम मिलता है।

शबरी

राम-लक्ष्मण शबरी के आश्रम में पहुँचते हैं। शबरी उनका परिचय जान आदर सत्कार करती है। कंद-मूल, फल-फूल से यथोचित सेवा करती हैं। अपनी गुरु भक्ति का वर्णन करती हैं। गुरु मातंग का तपस्थल दिखाती हैं। नवधा भक्ति का सत्संग होता है। चूँकि अत्रि और बाल्मीकि के बाद राम को सत्संग सुलभ

नहीं हुआ था। शबरी निर्गुण निराकार ब्रह्म को उपलब्ध हो गयी हैं। अब उसे दूसरा दिखाई भी नहीं पड़ता है। वह राममय हो गयी हैं। पात-पात में साईं रमत हैं। अब तो वह साईं ही सर्वत्र हैं। फिर भी नवधा भक्ति का रस अनायास आने लगता है।

प्रथम चरण-संतो संग जब साधक के मन में ज्ञान-वैराग्य की विचारधाराएँ उठेंगी तो उसकी प्रबल इच्छा होगी सन्तों का सामीप्य। विभिन्न पंथ सम्प्रदाय के साधु-महात्मा का सामीप्य। जिससे साधक के अन्दर उठ रही शंकाओं का समाधान हो सके। संत चाहे जिस पंथ सम्प्रदाय का हो, वह तो शान्त हो ही जाता है। वह सामने वाले के उठने वाले मानसिक उपद्रव को शान्त तो कर ही देता है। जब साधक सन्तों के संग का सुख जान जायेगा। तब वह बिना संत के सान्निध्य के रह ही नहीं सकता, वो अनायास ही वह आचरण अपना लेता है। संत सा उसका चेहरा प्रसन्न रहने लगता है चित्तवृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं।

दूसरा चरण-कथा प्रसंग जब साधक संत के सामीप्य का सुख जान जाता है तो वह दूसरी कक्षा में अपने आप आ जाता है। चूँकि संत जहाँ मिलेंगे उनकी वार्ता हरि कथा प्रसंग ही होगा। हरि जन और कर ही क्या सकता है? जहाँ भी बैठता है हरि-चर्चा छेड़ देता है। साधक को हरि चर्चा में सुखानुभूति होती है। हरि के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ बढ़ने लगती हैं। वह एक अतृप्त प्यासे के सदृश हो जाता है, जो कितना ही शीतल जल पी ले किन्तु प्यास मिटती नहीं। हरि चर्चा यदि एक दिन नहीं सुने, तो बेचैन-सा होने लगता है। अब वह खाना, घर का परित्याग कर सकता है परन्तु हरि कथा का नहीं। कहते हैं भक्त हनुमान अभी नित्य हरिकथा में किसी-न-किसी रूप में उपस्थित होते हैं। इसीलिए कि साधक भगवान को व भगवान भक्त को ही चुनता है। भगवान धन ऐश्वर्य प्रदान कर देगा जिससे साधारण साधक उसी में भटक जाता है। हरि जन हरि को ही सौंपता है। हरि से कम में समझौता नहीं करता। हरि कथा प्रसंग साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रसंग रूपी निर्झर में मन की मलिनता रूपी शंकायें निर्मूल होती रहती हैं। साधक अपने गन्तव्य स्थल तक अबाध गति से बढ़ जाता है। सत्संग वह साबुन है जिससे मन रूपी कपड़े को साफ किया जाता है।

तीसरा चरण-गुरु पद पंकज सेवा साधक संतों के संग से सत्संग में आ गया। अब सत्संग कर अपनी शंका निर्मूल कर गुरु की खोज भी कर लेता है। साधक के लिए गुरु की खोज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि सद्गुरु मिला तो वह हरि से मिला देगा। यदि प्रपंची मिला तो वह अरि से मिला देगा। अरि यानी शत्रु अर्थात् काल से। यही प्रपंची गुरु कालनेमि है। अतएव साधक को गुरु के

चुनाव में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। गुरु की परख उसकी वेश-भूषा से नहीं हो सकती, न ही उसकी विद्वत्ता से। यह संग से ही ज्ञात होगा। संग से उसके गुण, दोष, आचरण का पता लग जायेगा। जो बचा है वह सत्संग से। यदि साधक ने गुरु का चुनाव कर लिया तब सभी शंकाओं को निकालकर निष्काम मन से उनके कमलवत् चरणों की सेवा करे। सेवा में किसी भी प्रकार का खोट नहीं रखे। अब शंका की गुंजाईश नहीं रह गयी। अब साधक निश्चिन्त होकर सर्व समर्पण कर गुरु पद की सेवा करे। उसको जो भी देना होगा वह दे ही देगा। परन्तु साधक को अत्यन्त सावधान रहकर सेवा भी करनी है। उस सेवा के बदले कभी कामना नहीं करनी है अन्यथा आप चूक जायेंगे। माँग लोगे खोटे सिक्के, माँग लोगे वही जो क्षणभंगुर है जिसका अस्तित्व नहीं है जो दो कौड़ी का है। आप अपनी सेवा को बेच देंगे, दो कौड़ी के दाम पर। अतएव माँगो ही मत। बस सेवा करो, निष्काम। संग करो, सत्संग को उपलब्ध हो जाओ। सेवा ही तुम्हारा उद्देश्य हो।

चौथा चरण-कपट छोड़कर हरि गुण-गान साधक कपट का परित्याग कर दे, यह अत्यन्त कठिन है। किसी-न-किसी रूप में गुरु से आप अपनी बात छिपाओगे। जो बुराई है उसे छिपाना चाहोगे कि गुरु न जाने। अन्यथा हमारी प्रतिष्ठा का क्या होगा? कोई-न-कोई रोना रोते रहोगे जिससे गुरु प्रसन्न हो, आशीर्वाद दे दे। हम अर्थ, पद, प्रतिष्ठा को उपलब्ध हो जायें। या गुरु की ही किसी सांसारिक, मानसिक सम्पदा पर आँख लगी हो जिससे गुरुदेव शीघ्र प्रसन्न हो, हमें वह प्रदान कर दें। मेरे एक मित्र हैं, कलकत्ता में, बड़े महात्मा हैं। बहुत नाम है। उनका एक शिष्य नौकरी करता था। साधारण सरकारी कर्मचारी था। उस महात्मा जी के यहाँ बड़े-बड़े नेता, अधिकारी आते थे। ऐशो-आराम के बहुत-से सामान भी थे। कलकत्ता में उनकी कोठियाँ भी थी। उस शिष्य ने अपनी नौकरी छोड़ दी। गुरु जी की सेवा करने लगा। उनका गुणगान भी करने लगा। सोचा गुरु जी वृद्ध हैं दो-चार वर्ष में शरीर छोड़ देंगे। परन्तु हृद हो गयी। चार-पाँच वर्ष बीत गये। गुरु जी मरे ही नहीं आखिर कब तक सेवा करे। कब तक गुणगान करे। उसकी भी सीमा होती है। वह सोच रहा था अब तक हम क्लर्क से इन्सपेक्टर बन गये होते। वैसे भी कमाई होती। यहाँ तो अभी शिष्य ही हैं। गुरु जी भी खुश थे परन्तु इस खुशी से क्या होगा? वह शिष्य निराश हो गया। मालूम नहीं महात्मा जी कब मरेंगे? पाँच वर्ष में अधीर हो गया। अन्त में उसके भाग्य ने साथ दिया। उन्हें सर्दी हो गयी। वह सर्दी का सुनकर अत्यन्त खुश हुआ। सोचा अब भगवान ने सुन ली है। यह मौका हाथ से नहीं जाने देना

है। उसने सीरप दवा में विष मिलाकर पिला दिया। रात्रि में उनके शयन कक्ष का दरवाजा बन्द कर दिया। बोला गुरु देव इस दवा से आपको अच्छी नींद आयेगी। विश्वासी शिष्य था। पीकर सो गये। रात्रि में पीड़ा हुई एक-दो बार चिल्लाये। मगर सुनता कौन? सुनने वाला तो वही था। दम तोड़ दिए। सुबह किवाड़ खोले तो गुरु देव को मरा देख अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अतएव बाहर रोते हुए मुँह बनाकर कहा गुरुदेव परमपद को प्रस्थान कर गये। हमसे कहा था कि रात्रि में किवाड़ नहीं खोलना। अब तू आश्रम सँभाल लेना। मैं चलूँगा। अब मैं क्या करूँ? मैं तो नौकरी छोड़कर गुरुदेव की सेवा एवं हरिभजन के निमित्त आया परन्तु अब तो उनके आदेश का पालन करना ही पड़ेगा। सब शिष्यों ने भी सोचा कि ठीक ही कह रहा है। बहुत सेवा की है इसने। गुरुदेव के सबसे नजदीक सान्निध्य में यही था। अब उसे ही पंथ प्रमुख गुरुदेव का उत्तराधिकारी बना दिया गया। अभी भी है। यही है कपट सेवा। इस कपट से यहाँ कुछ सम्भव है परन्तु वहाँ के लिए अत्यन्त खतरा है। सेवा तो करनी है परन्तु निष्कपट होकर। तब अनायास मुँह से जो भी निकलेगा वह हरि गुण होगा। अन्यथा अवगुण ही है। अब हरि गुण में आनन्द है। उत्सव है। खुशी है।

पाँचवा चरण-दृढ़ विश्वास से मन्त्र का जाप पाँचवें चरण में गुरु शिष्य पर विश्वास करता है। सद्गुरु सहज ही मन्त्र नहीं देता। पुरोहित लोग कान फूँक देते हैं। शिष्य के लिए झगड़ा भी करते हैं। उनके यहाँ शिष्यों का बँटवारा वैसे ही होता है। जैसे खेत का या सम्पत्ति का। शिष्य भी उनकी सम्पत्ति ही है। परन्तु सद्गुरु पाँचवें चरण में दीक्षा देते हैं। दीक्षा के माध्यम से मन्त्र देते हैं। साधक का परम कर्तव्य है कि दृढ़ विश्वास से जाप करे। यदि किसी भी तरह का सन्देह हुआ कि श्रद्धा खत्म हुई। श्रद्धाहीन को कुछ भी नहीं मिलता है। अतएव श्रद्धावत् हो दृढ़ विश्वास कर गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र का जाप करे। यही वेद पुराण भी कहता है। यही समस्त सन्त मत है। श्रद्धा से ही दृढ़, अटल, विश्वास होता है। तब उस जाप से मन्त्र फलीभूत होता है। उस मन्त्र जाप से फल लगता है शील का, धर्म का। अब धर्म से निर्झर निकलेगा वह होगा प्रेम का। बाल्मीकि अनपढ़ गँवार थे। राम भी ठीक से नहीं कह सकते थे। परन्तु गुरु पर दृढ़ विश्वास था। आस्था थी, गलत ढंग से ही जाप करके ब्रह्म को उपलब्ध हो गये। अनपढ़ गँवार, ज्यादा उपलब्ध हुए हैं। परमात्मा को बनिस्वत विद्वानों से, पढ़े-लिखे लोगों से। ये तो कुतार्किक हो जाते हैं। अश्रद्धावत् हो जाते हैं। इनके पास पुराणों का तर्क है। शास्त्रों का अस्त्र है ये वार करेंगे ही। कबीर, नानक, रविदास, मीरा शूर, दादू, पलटू, मुहम्मद, ईशा ये सबके सब शास्त्र से, पाण्डित्य से अनभिज्ञ थे। भिन्न

था तो मात्र परम पुरुष से, प्रेम। मैंने सुना है एक अनपढ़ को गुरु द्वारा दीक्षित कर मन्त्र दिया गया था। वह मन्त्र का उच्चारण ठीक ढंग से नहीं कर सकता था। सुरति-निरत का नियम समझ गया था। उसी में तल्लीन था। मग्न था। गंगा के किनारे झोपड़ी थी। उसी लय में, तल्लीनता में, गंगा में भी घूम आता था जैसे जमीन पर चल रहा हो। उसे पता नहीं होता था मैं पानी पर चल रहा हूँ या जमीन पर। उसकी ख्याति फैल गयी। दूर-दूर से लोग दर्शन को आने लगे। आशीर्वाद हेतु आने लगे। लोग कुछ करने, जानने नहीं आते बल्कि कुछ सांसारिक चीज़ को ही पाने आते हैं। एक दिन एक विद्वान पण्डित उस रास्ते जा रहा था। देखा वह साधु मन्त्र का उच्चारण शास्त्र के अनुकूल नहीं कर रहा था। गलत उच्चारण कर रहा था। उस विद्वान व्यक्ति ने साधु के नजदीक आकर उसे डाँटा क्या कर रहे हो गँवार की तरह? मन्त्र का उच्चारण तो ठीक ढंग से करो। उसे उच्चारण करना सिखाया। साथ ही अपने अहंकार में कहा, कहाँ-कहाँ से अनपढ़, गँवार लोग भी साधु बनकर मन्त्रों का सत्यानाश कर देते हैं। देखो इसकी ख्याति भी बढ़ गयी है। खैर साधु ने धन्यवाद दिया एवं अब सावधानीपूर्वक जाप करने लगा। देख रहा था, सोच रहा था, अब गलत न हो। संयम हो गया। चित्तवृत्तियाँ विपरीत हो गईं। अब वह गंगा पर टहलने लगा तो डूब गया। वह उदास हो गया। सोचा कहाँ से विद्वान व्यक्ति के चक्कर में पड़ गया। उसने अपने गुरु का ध्यान किया। गुरु ने आदेश दिया, पूर्ववत् ध्यान जाप करो। विद्वानों की बात सुन लो, करो मत। खतरा ही खतरा है। वह साधु पूर्ववत् ध्यान में लग गया, वैसे ही मस्त हो गया। वैसी ही घटनाएं घटने लगीं। वह पूर्ववत् आनन्द में डूब गया। उधर विद्वान पण्डित गंगा में नाव पर जा रहा था। उसे आज अहंकार था। उस तथाकथित साधु को मन्त्र बताया है। वह मूर्ख हैं जो उसे पूजते हैं। जब नाव बीच में पहुँची तो डूबने को हुई। नाविक बोला पण्डित जी आप तैरना जानते हैं। वे बोले मैं तो शास्त्र जानता हूँ। वेद जानता हूँ। तैरना तो जानता ही नहीं। नाविक बोला अब नाव डूबने जा रही है। आप शास्त्र से बचो। मैं तो छलांग लगाता हूँ। तैर कर पार हो जाऊँगा। उस पण्डित की सारी विद्वता ध्वस्त हो गयी। वह साधु जी को दुहाई देने लगा इस बीच नाव डूब गयी। नाविक तैर कर निकल गया। पण्डित डूब रहा था। महात्मा जी का बार-बार स्मरण कर रहा था। हे साधु बाबा हमें बचा लो। मैंने तेरा अपमान किया। देखता है कि वह साधु बाबा पानी पर चलते हुए उसे पार कर आ गए और उसे बचा लिया। अब वह पण्डित शास्त्र भूल गया। हो गया उनका शिष्य।

जब साधक अटल, दृढ़ विश्वासपूर्ण जाप करता है तो उपलब्ध हो ही जाता है उस परमपुरुष को।

छठा चरण-दम सील विरत बहुत करमा जब साधक दृढ़ निश्चय से मन्त्र जाप करता है तो इन्द्रिय विग्रह अपने आप होने लगता है संयम अपने आप आने लगता है। वाणी संयमित हो जाती है इन्द्रिय विग्रह प्रारम्भ हो जाता है। चूँकि इन्द्रियां अब तक बहिर्मुख थीं। अब प्रथम बार अन्तर्मुख हो रही हैं। ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होगा त्यों-त्यों बहु कर्मों से विरत होने लगेगा। बहु कर्म क्या है? विभिन्न दिशा में चित्तवृत्तियों का दौड़ना और उस पूर्ति के लिए विभिन्न देवी-देवता, पत्थर-पानी की पूजा करना। विभिन्न मन्दिर, गुरुद्वारों का चक्कर लगाना। विक्षिप्त हो जाना। कभी तप का नाटक करना, कभी यज्ञ का नाटक करना, कभी कीर्तन का नाटक। यही है विभिन्न कर्म, बहु कर्म। साधक इन सबसे विरत हो गुरु पर दृढ़ विश्वास कर उनके बताये मार्ग का ही अनुकरण करता है। तब साधक शील, गम्भीर, स्वच्छ आचरण, प्रतिभा-सम्पन्न हो जाता है। निरन्तर साधुओं सा धर्म में विरत हो जाता है। सुरत को निरत तक ले जाता है। सदैव इसी अजपा में लग जाता है। जो सज्जन सन्तपुरुषों का धर्म है। संत पुरुष निरन्तर स्व-स्वरूप, में ही लगे रहते हैं। स्वरूप में पहुँचा साधक सत्पुरुष स्वतः ही हो जाता है। उसका आचरण अपने-आप सज्जन का आचरण हो जाता है। उसमें बनावटीपन नहीं होता है। वह पूर्ण वैराग्य की स्थिति में पहुँच जाता है।

सातवाँ चरण-सम मोहि मय जग देखा अब साधक सर्वत्र अपने स्वरूप का ही दर्शन करता है। सर्वत्र परमात्मा को ही देखता है। आदमी में ही नहीं। पात-पात में साईं रमत है। पत्ते-पत्ते में उसी साईं को देखता है अब चाह कर भी दूसरा कैसे देखेगा। अब उससे विचित्र मित्रता हो जाती है।

“मनुआं मीत मितईओ न छोड़े।

कमऊ गांठि नांहि हो खोले॥”

अब ऐसी मित्रता की गाँठ पड़ गयी है कि कभी खुल भी नहीं सकती। कोई भी गाँठ खुल जाती है परन्तु यह नहीं। यानी ये दोनों एक ही हो गये। आगे सद्गुरु कहते हैं

“कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ वैसा।”

जब मन मिट जाता है तो आप पाओगे कि फूल में परमात्मा फूल, पत्थर में पत्थर, वृक्ष में वृक्ष, सरिता में सरिता, सागर में सागर। अब परमात्मा हाथ में धनुष-बाण लिए कैसे खड़ा होगा? हाथ में मुरली लिए, मोर मुकुट बाँधे कैसे खड़ा रहेगा। अब कोई सजा-सजाया परमात्मा कैसे सामने मिलेगा? यदि कहीं मिल जाये तो सावधान। आप धोखे में हो। जब मन गिर जाता है तो मन के राम, कृष्ण कैसे रहेंगे। परमात्मा तो है ही। सब रूपों में छिपा अरूप। जहाँ भी

आप देखो वहीं मौजूद है। कृष्णमूर्ति से भी लोगों ने पूछा सत्य क्या है? वे कहते हैं जहाँ जैसा तहाँ तैसा। कुछ भी नया नहीं हो सकता। वही चारों तरफ मौजूद है। अब कृष्ण भी वही। गोपियाँ भी वही। राम भी वही। बाँसुरी भी वही। गायें भी वही। सर्वत्र कृष्ण ही तो है। परमात्मा तो अस्तित्व ही है। **“लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।”** अब कैसे जायेंगे मन्दिर। अब हरि ही तो सर्वत्र है।

आठवाँ चरण-जया लाभ संतोषा, सपनेहूँ नहिं देखई पर दोषा अब अहंकार मिट गया। यही अन्तिम घातक है। यही तो रावण का प्रतीक है। जो कोई भी अहंकार करता है। मैं यह कर लूँगा। वह व्यर्थ ही मर जाता है। वह भ्रम में जीता है। परमात्मा जो करता है वही होता है। चाहे लाभ हो या हानि। अब तो सन्तोष हो ही जाता है क्योंकि अब ख्याल आ गया कि परमात्मा ही सब तरफ है। वही सब कुछ है। मेरे किये क्या होगा? मैं तो एक छोटी लहर हूँ। मैं तो सागर के साथ ही हो गयी। अब तो वही मुझ से साँस ले रहा है। जी रहा है। उसी ने जन्म लिया है, वही मृत्यु भी लेगा। मैं तो उसका ही हूँ, यात्रा का भ्रम मिट गया। सद्गुरु कहते हैं

“भूले भरमि भरे जिन कोई, राजा राम करै सो होई।”

वह जो करता है वही होगा। अब परितोष बरस जाता है। सब तरफ से फूल बरस जाते हैं। जैसे शबरी के आश्रम में बरस गये। अब जीवन से असन्तोष विदा ही हो जाता है। मन तो असन्तोष है। आत्मा परम सन्तोष, परम तुष्टि, जहाँ कोई रेखा ही नहीं बचती अभाव की। चाहे पुण्य हो, चाहे पाप हो, चाहे सांसारिक हो, चाहे आर्थिक। अब दोनों नष्ट हो गये। अब तो समष्टि चल रही है। हम उसके अंग हैं। करने का बोझ भी मिट गया। मुक्त हो गये। परितुष्ट हो गये। अब हृदय में गूँज उठा है परितोष का वही परमानन्द। वही सच्चिदानन्द। अब कैसे आयेगा असन्तोष। कैसे देखेगा दूसरे को। कहाँ बचा है अब दोष। आप मुक्त हो गये गुण-दोष से। सपने में भी नहीं आयेगा या अब सपना कैसे आयेगा।

नवम चरण सरल सब सर छाय हीना, मम् भरोस हिय कृष न दीना अब साधक के पास छल बचा कहाँ? वह गुण-दोष से तो मुक्त हो गया। कौन दूसरा, कहाँ छल? कहाँ कपट? अब तो वही ही है। भरोसा कैसे होगा दूसरे का। वह तो हर समय अपने प्रियतम को, हर रूप में, हर क्षण में देखता है। कैसे होगा दीन? अब दीनता तो समाप्त हो ही गयी। अब बूँद समाना समुद्र में। अब कैसे होगा अलग? अब दीनता का, छल का प्रश्न ही नहीं उठता। अब लहर भी उसी की। बूँद भी उसी की। अब तो सब रूपों में उसे ही देखकर हर्षित हो जाता है। शबरी हर्षित है। वह गुण पूर्ण है। वह परिपक्व है। जिसमें एक

भी गुण रहता है। वह प्रिय हो जाता है। शबरी तो नवों गुणों से परिपूर्ण है। अब अधूरी कैसे रह सकेगी। वह तो पूर्णता को उपलब्ध है। तभी तो राम को बेर का प्रसाद देती है तो राम सहर्ष पा लेते हैं। प्रसाद पाया जाता है। ग्रहण किया जाता है। भोजन खाया जाता है। शबरी का प्रसाद राम को मिला। यह धन्य भाग है। सप्रेम ग्रहण कर लेते हैं। अतएव उन्हें सम्बल मिल गया सीता विरह से बचने का। डूबते सागर में सहारा मिल गया जिसके सहारे पार करना सम्भव है। वही बताती है हे राम! आगे पम्पासर आप जायें। वहीं सुग्रीव से मित्रता करें। आपका कार्य सिद्ध हो जायेगा। परन्तु लक्ष्मण उसके बेर को प्रसाद नहीं समझते जूठन समझते हैं। अतएव अपमान कर फेंक देते हैं। संत का अपमान होता है। वहाँ ऊँच-नीच का भाव है। दूसरा भाव है लक्ष्मण का। वही कारण है कि बार-बार अहंकार के साथ युद्ध में मूर्छित होते हैं। वही बेर रूपी संजीवनी दी जाती है। वही शबरी का प्रसाद दिया जाता है। तब लक्ष्मण की मूर्छा छूटती है। अतः साधक को सन्त का प्रसाद प्रभु का प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिये। शबरी राम को सुग्रीव से मिलने का दिशा-निर्देश करके स्वधाम को प्रस्थान कर जाती है। जहाँ उसके गुरु रहते हैं। गुरु सेवा को प्रस्थान कर जाती है। यही है शबरी की नवधा भक्ति। जिसके दर्शन एवं सुग्रीव से अटूट मित्रता के कारण राम में रावण रूपी अहंकार से लड़ने की क्षमता आ जाती है। यही माहात्म्य है सन्त दर्शन एवं उसका प्रसाद पाने का।

राम हनुमान परिचय

राम महात्मा शबरी का आशीर्वाद ग्रहण कर आगे बढ़ जाते हैं। हालाँकि पत्नी वियोग में अत्यन्त चिन्तित हैं। सर्वत्र पशु-पक्षी, लता वृक्ष सब में उन्हें काम ही काम नज़र आता है। वाल्मीकीय रामायण में तो काम से आसक्त हो गये हैं। तुलसी दास जी इसे रामचरितमानस में समझाते हुए कहते हैं कि मृगी भी उपहास कर रही है कि ये तुम्हें नहीं मारेंगे, ये तो सोने का मृग खोज रहे हैं।

“हमहि देखि मृग निकर पहरी। मृगी कहहि तुम्ह कहं भय नाहि।

तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए॥”

इतना ही नहीं राम नारी पर ही अविश्वास कर उठते हैं। कहीं सीता स्वयं भागकर तो नहीं चली गयी। चंचल मन कुछ भी सोच सकता है

“सखिअ नारि जदपि उर माही। जुवती शास्त्र नृपति बस।

देखहू तात बसंत सुहावा। प्रिया, हीन मोहि भय उपजावा॥”

इसे यों समझा जा सकता है जब साधक का भक्ति, विवेक, निष्कामरूपी, योगात्मा साथ छोड़ देती है तो केवल ज्ञान-वैराग्य से भी काम नहीं चलता। ज्ञान

विक्षिप्त हो जाता है। मोह ग्रस्त हो जाता है। साधक काम का रूपान्तरण नहीं करके दमन करता है तो वह भी विस्फोट कर उठता है एवं सर्वत्र काम ही काम नज़र आता है। योग जाप भूल जाता है, अब इससे बचने के लिए वैराग्य मात्र उपदेश या ढाँढस दे सकता है। समझा सकता है। ज्ञान को वापस अपने स्वरूप में आने के लिए सत्संग अत्यन्त जरूरी है। जिसमें अपूर्व धैर्य हो, साहस हो, बल हो, ज्ञान वैराग्य भक्ति एवं निष्काम योग की प्रतिमूर्ति हो। यदि साधक का उचित समय पर इस तरह के साधक, साधु संन्यासी से मित्रता, सम्बन्ध हो जाता है तब तो आप कल्याण समझो। अन्यथा अधोगति गमन तो निश्चित ही है। शबरी दर्शन एवं प्रसाद पाने का फल तुरन्त मिल जाता है। राम पम्पासर जाते हैं। हनुमान संन्यासी के रूप में आते हैं। रूप में क्या आते, वे तो साक्षात् साधु संन्यासी थे ही। राम से सम्बन्ध होता है। उसी क्षण कह देते हैं-हे राम! अब आप विकल न हों। मैं सुग्रीव का मन्त्री हूँ। आपका कार्य निश्चित ही हो जायेगा। सीता की खोज हम लोग 24 घण्टे में कर लेंगे। राम तुरन्त कह उठते हैं हे हनुमान! हम दोनों भाई वानर राज सुग्रीव की शरण में ही आये हैं। उनसे हमारी मित्रता करायें। हनुमान कहते हैं, हे राम! आपकी एवं सुग्रीव की समस्या एक है। दोनों में मित्रता भी स्वाभाविक है। खैर हनुमान सुग्रीव-राम मित्रता अग्नि की साक्षी में करा देते हैं। दोनों एक दूसरे का कार्य पूरा कराने का वादा करते हैं। तब हनुमान- **“उभय दिसि की सब कथा सुनाई। पातक साखी देव करि जोरी प्रीति दृढ़ाई।”** यहाँ यह समझ लेना उचित है कि हनुमान, बालि, सुग्रीव बन्दर नहीं थे। ये लोग चन्द्रवंशीय थे। पीत वर्ण के थे। तथाकथित इतिहास वेत्ता, पुराणवेत्ताओं ने द्वेष से इन्हें वानर बना दिया, पूँछ लगा दी। परन्तु इनकी औरत तारा वगैरह को नारी रूप में छोड़ दिया। इनके राज-काज, शासन, कर मनोवांछित ही छोड़ दिए। इसी तरह जामवंत भी आदिवासी थे। काले थे। इन्हें भालू बना दिया। ये अत्यन्त शक्तिशाली थे। इनकी लड़की जाम्बवती से कृष्ण की शादी भी हुई है। क्या भालू की लड़की भालूनी से कृष्ण ने शादी की। इसी तरह नल-नील भी चन्द्रवंश के थे। ये अभियंता के गुण से परिपूर्ण थे। यह भी सम्भव हो विश्वमित्र चन्द्रवंशीय गुरु थे अतएव राम अपने गुरु के ही खानदान के ऋषि, मानव से सम्पर्क करते हों। यह भी राजनीतिक कूटनीति हो सकती है।

विपत्ति काल में धर्म, मित्र और नारी की परीक्षा होती है परन्तु जिसके पास वे चारों रहें तब न मदद या परीक्षा की बात होगी। हनुमान राम के साथ स्वयं जुड़ जाते हैं जो धर्म की प्रतिमूर्ति हैं। वे कभी भी अधीर नहीं हुए। सीता का

शिव तंत्र ● 253

252 ● शिव तंत्र

पता भी धीर, गम्भीर स्थिति में करते हैं एवं लंका दहन भी। शत्रु के गढ़ में जाकर भी। युद्ध में मेघनाद द्वारा राम-लक्ष्मण दोनों को दो-दो बार शक्तिबाण लगता है। मूर्छित होते हैं। जामवंत विभीषण से घायलावस्था में पूछते हैं। सभी घायल हैं, मूर्छित हैं। हनुमान जी कहाँ हैं? वे स्वस्थ तो हैं। विभीषण पूछते हैं। हे जामवंत जी! आप मूर्छा से उठते ही राम-लक्ष्मण को नहीं पूछते हनुमान को ही क्यों पूछते हैं? जामवंत कहते हैं यदि हनुमान जिन्दा रहेंगे तो सभी को जिन्दा कर लेंगे। इनमें अपूर्व धर्म है, क्षमता है। इसी से मैंने इन्हीं का कुशल-मंगल पूछा। इन्हें मैं नज़दीक से जानता हूँ। हनुमान तुरन्त कह उठते हैं। “जी हाँ मैं हाज़िर हूँ।” हनुमान शत्रु के घर से सुखेन वैद्य को लाते हैं। कालनेमि के मुँह से निकल कर भरत का बाण खाकर भी संजीवनी बूटी लाते हैं और राम-लक्ष्मण को होश दिलाते हैं। राम को नागपाश में बाँधा जाता है और हनुमान के द्वारा बिना किसी से परामर्श लिए गरुड़ के माध्यम से फाँस काटा जाता है। राम-लक्ष्मण को अहिरावण के द्वारा पाताल ले जाकर देवी को बलि दिया जा रहा है उचित समय पर अकेले जाकर अहिरावण का वध कर दोनों भाई को सम्मान के साथ वापस लाते हैं। हनुमान जी जिस के साथ रहते हैं उसकी धर्म के साथ निष्काम सेवा करते हैं। ये कमजोर का ही पक्ष पकड़ते, उसे मजबूत सशक्त बना देते। सुग्रीव बालि से कमजोर थे। उनकी अन्तिम अभिलाषा थी राज्य एवं पत्नी प्राप्ति। उनकी मनोकामना पूर्ण कर देते हैं। अब सोचते हैं हमारी जरूरत यहाँ नहीं है। निष्काम योगी, सेवक, कभी हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठता। दूसरों की सेवा में ही अपने को अर्पित कर देता है। राम से मिलते हैं। उनकी सीता को वापस कराते हैं। साथ ही सीता खोज के रास्ते में विभीषण मिल जाते हैं। उन्हें भी दीक्षा देते एवं श्री राम के सान्निध्य में ला खड़ा कर देते हैं। उनकी इच्छा थी लंकापति बनने की। यह भी पूरा करा देते हैं परन्तु अहं का बोध छू तक नहीं रहा है। उन्हें बदले में कुछ चाहिये ही नहीं। राम का राज्यारोहण होता है। राम अब उन्हें छोड़ते ही नहीं। राम ने हनुमान को पहचान लिया, सोचा बिना हनुमान के मेरा भी अस्तित्व खतरे में है। हनुमान ने भी राम को पहचान लिया, सोचा इन्हीं के माध्यम से वृहद सेवा सम्भव है। अतएव अयोध्या में निवास करने लगे। राम के राज्य के बाद वे हिमालय जाकर तप में लग गये। जहाँ आज भी तप में रत हैं।

राम का मित्र धर्म से संबंध

आपने देख लिया कि राम का सम्बन्ध धर्म रूपी हनुमान से बिना किसी अग्नि साक्षी के हो जाता है। इस सम्बन्ध में किसी बिचौलिए की जरूरत नहीं

पड़ती। यह सम्बन्ध किसी नीति के तहत, किसी विधि विधान के तहत नहीं होता है। स्वेच्छा से एक-दूसरे से अभिन्न हो जाते हैं। धर्म-साधक की साधना पर निर्भर करता है। मित्र रूपी मदद सुग्रीव होते हैं।

“मित्रता बड़ा अनमोल रत्न है।

कब तौल सकता इसे धन है॥”

यह अत्यन्त ही कीमती है। यह धन-सम्पत्ति से खरीदा नहीं जा सकता। यह सम्बन्ध परिस्थिति पर निर्भर करता है। चतुर साधक मित्र का पूरा पता कर हाथ बढ़ाते हैं। अन्यथा मित्रता में जान भी देनी पड़ सकती है, धन-प्रतिष्ठा भी दाँव पर लग सकती है। वह मित्र-मित्र नहीं रह जाता। वह संघतिया हो जाता है। वह साथ-साथ रहेगा, खायेगा। साथ-साथ सोयेगा। साथ रहकर ही अवसर पाते ही घात कर देता है। इन्हीं की संख्या सदा से ज्यादा रही है। ऐसे दोस्तों से इतिहास सड़ रहा है। अतएव मित्रता भी जान-समझकर करना श्रेयस्कर है। राम शबरी के द्वारा, कबन्ध के द्वारा, हनुमान के द्वारा जान गये हैं। जटायु से भी उचित निर्देशन प्राप्त कर चुके हैं। तब हाथ बढ़ाते हैं मित्रता का। दोनों में मित्रता होती है अग्नि को साक्षी रखकर। अग्नि यानी प्रकाश, तेज, सत्य को साक्षी रखकर मित्रता होती है अटूट।

आप देखते हैं जितनी पार्टनरशिप, हिस्सेदारी लिखा-पढ़ी से होती हैं वे कितने दिन चलती हैं। जितनी शादियाँ कोर्ट-कचहरी में लिखा-पढ़ी कानूनी परामर्श से होती हैं, कितने दिन चलती हैं। कानून से शुरू होकर कानूनी दौड़ में ही समाप्त हो जाती हैं। वहाँ समर्पण नहीं होता, चालाकी होती है। जो शादियाँ अग्नि, गुरु की साक्षी में होती हैं, वहाँ दोनों जीवनभर एक-दूसरे से अलग होने का नाम नहीं लेते बल्कि भला हो या बुरा दूसरे जन्म में भी साथ-साथ रहने का वादा करते हैं। चूँकि सत्य में समर्पण होता है, श्रद्धा होती है, सुख-दुख दोनों का साझा होता है। एक दूसरे को अब अलग करना उतना ही दुष्कर है जैसे एक सिक्के के दोनों पहलू को। दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे लगते हैं। जैसे राम, सीता के बिना। राम-सुग्रीव में मित्रता हो जाती है। साथ होते हैं धर्म, धर्मज्ञ, वैराग्य तथा अन्य वानर रूप समूह सलाहकार।

मित्रता की सन्धि होते ही सुग्रीव कहते हैं

“कह सुग्रीव नयन भरि वारी। मिलिहि नाथ मिथिलेश कुमारी॥”

सुग्रीव अब मित्र रूपी राम का दुःख अपना दुःख समझ आँख में आँसू भर कर कहते हैं, अवश्य ही जानकी मिलेगी। इतना ही नहीं तुरन्त इसका सबूत पेश करते हैं

**“राम-राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पटडारी।
मांगा राम तुरन्त तेहि दीन्हा। पट उर लायी सोच अति कीन्हा॥”**

जिसे देखकर राम चिन्तित हो जाते हैं। उन सामानों को एक वियोगी की तरह हृदय से लगाकर अति सोच में पड़ जाते हैं। विलाप करने लगते हैं। तब सुग्रीव जी कहते हैं

**हे राम कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।
तजहूँ सोच मन आनहू धीरा॥**

सोच, चिन्ता का परित्याग करें। चिन्ता और चिन्ता दोनों समान हैं। मन में धर्म लायें। आप को बुद्धिहीनता का काम शोभा नहीं देता। मुझे भी पत्नी का विरह हुआ है। मैं तो साधारण वानर जाति हूँ, सो मैं अपनी स्त्री को याद नहीं करता हूँ और न ही धर्म को ही छोड़ता हूँ। आप तो मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। यह आँसू जो बिना रुके बह रहे हैं। धैर्यपूर्वक रोकेँ। वेदों में कहा है कष्ट, दीनता, भय, संकट में अपने धैर्य को न खोने से मनुष्य दुःखी नहीं होता, मूर्ख के समान व्याकुल न होइए। शोक में पड़कर अपना जीवन नष्ट न कीजिये। मैं मित्रता की दृष्टि से कहता हूँ। मेरी बात को ग्रहण कीजिये। सुग्रीव के इस प्रकार समझाने पर राम ने ठण्डी साँस ली। सुग्रीव का आलिंगन किया।

रामचन्द्र का विलाप जब बन्द होता है तो सुग्रीव अपनी दुर्दशा सुनाते हैं। उनकी भी पत्नी का हरण हुआ है। अतएव राम इस दुःख को भली-भाँति समझते हैं। **“दुखियों के दुःख दुखिया जाने, और न जाने कोय।”** राम-सुग्रीव का दुःख दूर करने का वादा करते एवं उसे कार्यरूप में परिणत भी करते हैं। बालि को छिपकर मारते हैं। अब तारा विलाप करती है। विलाप का सिलसिला जारी रहता है। कभी पत्नी के लिए तो कभी पति के लिए। एक-दूसरे को समझाते भी रहते हैं। राम का ज्ञान अब झरने लगता है

**“छिति जल पावक गगन समीरा। पंच तत्व रचित अधम शरीरा।
प्रगट सो तनु तब आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥”**

पाँच तत्व का बना यह अधम शरीर है। यह तुम्हारे आगे है। जीव तो नित्य है वह तो मरता ही नहीं। तुम क्यों रोती हो। क्या यह उपदेश अपने पर नहीं उतारा जा सकता? क्या यह दूसरे को उपदेश देने मात्र के लिए है। खैर राम अपनी कूटनीति से मित्रता को पूरा करते हैं। सोचते हैं कि इस राज्य की प्रजा को भी ठीक रखना होगा क्योंकि मेरे साथ सभी को जाना ही होगा युद्ध में। यह सोच हनुमान जामवंत से परामर्श ले सुग्रीव को राजा, अंगद को युवराज तथा तारा को पटरानी बना देते हैं। सभी अपना पूर्व का दुःख भूल जाते हैं एवं खुश हो राज्य सुख भोगने लगते हैं।

राम-लक्ष्मण के साथ प्रवर्षण पर्वत पर निवास करने लगते हैं। वर्षाऋतु आती है जो राम के लिए कष्टकारक है। सोचते हैं सुग्रीव अपनी पत्नी के साथ राज्य सुख भोग रहा है। मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। लक्ष्मण समझाते हैं। हनुमान सात्वता देते हैं। हे भाई! वर्षा बीत जाने दो परन्तु राम का पत्नी वियोग विलाप में बदल जाता है।

“धन-घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।।” राम बादल से भी भयभीत हैं। पशु से भी, वृक्ष से भी। एक दिन उन्हें एक वर्ष सा प्रतीत होता है। अतएव विकल हो कहते हैं।

“सुग्रीवहुं सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।।”

सुग्रीव हम को भूल गया है। अब वह राज, खजाना एवं पत्नी प्राप्त कर चुका है। हमें याद नहीं करता। अत्यन्त क्रोध में विक्षिप्त होकर कहते हैं।

**“जेहि साधन मारा मैं बालि। तेहि सर हनौ मूढ़ कहुं काली।
जासु कृपा छूटहि मदमोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुं कोहा॥”**

जिस बाण से बालि को मारा उसी से सुग्रीव की हत्या कर दूँगा। खैर जो हो राम का क्रोधित होना स्वाभाविक है। सुग्रीव समय के इन्तजार में हैं वर्षाऋतु समाप्त होते ही मित्र के काम में जुट जाते हैं। वे कहते हैं

**“सुनहू नील, अंगद, हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना।
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहूँ। सीता सुधि पूंछेहु सब काहू।
मन क्रम वचन सो जतन विचारेहु। रामचन्द्र का काज संवारेहु।
भानु पीठि सेइअउर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल लागी॥”**

धर्म यानी जामवंत

जामवंत जी जिसे भालू बना दिया गया। केवल शरीर के आधार पर चूँकि उन का शरीर काला था। आदिवासियों के राजा थे। सुग्रीव से मैत्री सम्बन्ध था। ये कम बोलते थे। परन्तु समय पर उचित दिशा-निर्देश देते थे। इसी से सुग्रीव ने इन्हें मतिधी एवं सुजान शब्द से विभूषित किया। ये कभी किसी भी विषम परिस्थिति में भी घबराते नहीं थे। धीर-गम्भीर रहते थे। अच्छी सम्मति देते जिससे सफलता मिले। एवं नीति युक्त भी हो। समुद्र के नज़दीक सभी लोग मुश्किल में पड़ जाते हैं कि लंका कैसे जायें। सीता कहाँ होगी। जटायु रूपी पूर्व संचित पुण्य ने सीता हरण के समय मदद की एवं वही पूर्व रचित पुण्य जटायु के बड़े भाई सम्पाती के रूप में फिर मिल जाता है। स्पष्ट देखकर कह देता है हे वीर वानरों, देखो सीता लंका की अशोकवाटिका में सोच मग्न है।

“मैं देखऊं तुम्ह नहीं गीधहि दृष्टि अपार।”

मैं देख रहा हूँ। अब तुम लोग लंका जाने की तैयारी करो। विजय तुम्हारे साथ है। यही करता है पूर्व संचित पुण्य। परन्तु कौन जाये, कौन नहीं। अनिर्णय की स्थिति हो जाती है तब जामवंत कहते हैं

“कहई रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना।।

पवन तनय बल पवन समाना। बुद्धि विवेक विज्ञान निधाना।।

कवन सो काज कठिन जग माही। जो नहि होई तात तुम्ह पाही।।”

हनुमान को पूर्णरूपेण मात्र जामवंत ही जानते एवं समझते थे। कहते हैं तुम पवन के समान गति कर सकते हो। बुद्धि, बल, विवेक, विज्ञान (ज्ञान) का खजाना हो। इस संसार में कोई भी कार्य तुम्हारे लिए कठिन नहीं है जो तुम नहीं कर सकते हो। धैर्य उचित समय पर, उचित स्थान पर, उचित निर्देशन देता है तभी तो हनुमान जी कह उठते हैं

“सिंहनाद करि बारहि बारा। लीलहि नाथऊ जलनिध खारा।।

सहित सहाय रावनहिमारी। आनऊं इहां त्रिकूट उपारी।।”

मैं इस खारे समुद्र को खेल में ही लांघ सकता हूँ। रावण को उसके सहायकों के साथ मार सकता हूँ। त्रिकूट पर्वत को उखाड़ कर ला सकता हूँ। हे जामवंत जी! हमें उचित निर्देश दें मुझे क्या करना है। ये निर्देश देते हैं

“एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आयी।।”

इस तरह धर्म रूपी जामवन्त युद्ध भूमि में भी समय-समय पर राम को उचित सलाह तथा निर्देशन देते हैं। जिससे राम विजय को प्राप्त होते हैं। वे राम के राज्यारोहण में भी सम्मिलित हो नीतिगत बातों का सुझाव देते हैं। परन्तु पुराण तथा रामायण, वे तो इस धर्मविद् महात्मा को भालू तक बनाने में नहीं हिचके।

साधक की स्थिति

जब साधक का संयोग धर्म, विवेक, निष्काम कर्मरूपी आत्मा श्रद्धा से छूट जाता है तब उसे विलाप ही हाथ लगता है, दुर्भाग्य आ घेरता है। अतएव सावधान हो साधक, इन सबका परित्याग किसी भी परिस्थिति में नहीं करें। राम का साथ वैराग्य ने कभी नहीं छोड़ा यही कारण है कि कठिनाई के बावजूद भी हनुमान रूपी धर्म निष्काम योग मिल गये। धर्म रूपी जामवन्त, विवेक रूपी मित्र सुग्रीव मिल गये। जब ये सब के सब मिल ही गये तब साधक रूपी ज्ञान का काम आसान हो जायेगा। सम्भव है श्रद्धा, भक्ति रूपी विभीषण भी मिल जाये। विभीषण के मिलते ही राम का कार्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। अन्यथा राम कहीं विलाप कर रहे हैं तो भरत रूपी भक्ति बिना ज्ञान-वैराग्य के कहीं बिलख रहे हैं। विवेक रूपी शत्रुधन कहीं शत्रुओं से घिरे पड़े हैं तो निष्काम रूपी आत्मा (सीता) कहीं और विरह-वेदना में तड़प रही है। सभी अलग-अलग हैं। सीता की

विरह वेदना भी अन्तिम शीर्ष पर है। तो भरत की कम कैसे? राम को तो आप ने देखा ही। सभी तड़प रहे हैं। सभी अधूरे हैं। ज्ञान को वैराग्य सँभाल रहा है तो भक्ति को विवेक। परन्तु निष्काम योग रावण के चंगुल में पड़ा अशोक वाटिका में भी शोक संतप्त है। चारों न खाते, न ही पीते, न ही सोते हैं। सभी की विरह-वेदना चरमशीर्ष पर है। परन्तु साधक स्थिर बुद्धि, शान्त मन से काम लेता है तब वह इन चारों को उपलब्ध हो स्वराज्य (आत्मपद) को उपलब्ध हो सकता है। इन परिस्थितियों में बुद्धि स्थिर कैसे रहेगी? मन कैसे शान्त होगा? सन्त दर्शन, सत्संग से बुद्धि साफ हो जाया करती है। जैसे दर्पण पर धूल कण भी गिर जाते हैं, दर्पण गन्दा हो जाता है, वह दर्पण उसे ही अपना स्वभाव जान बैठे यही भारी भूल होगी। जैसे ही दर्पण से धूल झड़ जाती है वह स्वच्छ हो जाता है। जो चाहे अपना चेहरा देख सकता है। उसी तरह गुरु जन सत्संग से, अपनी अनुकम्पा से बुद्धि स्थिर कर मन को शान्त कर देते हैं। जिसके परिणामस्वरूप साधक कालान्तर में अयोध्या (जहाँ युद्ध नहीं होता हो निरन्तर शान्ति हो आनन्द हो) को उपलब्ध हो जाता है। चूँकि यह साधक का स्वभाव ही है। हाँ गुरु पर अटूट श्रद्धा प्रेम रहे तब ही काम बन सकता है। अन्यथा विक्षिप्त होना विलाप करना तो पड़ ही सकता है साधक को किसी भी परिस्थिति में इन चारों का साथ नहीं छोड़ना चाहिये। तभी तो हनुमान चालीसा भी यहीं से प्रारम्भ होती है

“श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि।

बरनऊं रघुबर बिमल जसु जो दायक फल चारि।।”

गुरु के चरण कमल रूपी रज से मन रूपी दर्पण को धो लो, पोंछ लो, तब रघु के वर का (जिवालाक) वरण हो सकता है जो चारों फलों को स्वतः प्रदान कर देता है। वही चार फल हैं, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, विवेक।

हनुमान का लंका जाना

हनुमान, अंगद, जामवंत अपने सहायकों के साथ सीता का पता लगाने दक्षिण दिशा को प्रस्थान करते हैं। चूँकि धर्म, मित्र ही राम पत्नी सीता की खोज कर सकते हैं। इनके नहीं रहने पर ही हरण सम्भव है। इन लोगों को सम्पाती के द्वारा यह स्पष्ट पता चल जाता है कि सीता लंका की अशोक वाटिका में त्रिजटा के द्वारा सेवित सोच में है। अब प्रश्न उठता है लंका कौन जाये? कैसे पहुँचा जाये। सभी समुद्र के किनारे आसन पर बैठ जाते हैं। कोई रास्ता नहीं देख अपनी मृत्यु निश्चित समझते हैं। सभी सोच में हैं। तब जामवंत अपनी सूझ-बूझ से धर्म का परिचय देते हैं, हनुमान मौन थे। मित्र-प्रतिनिधि अंगद

उतावले थे लंका पहुँचने को। जामवंत बताते हैं “हे हनुमान! आप सिद्ध साधक, सर्वगुण सम्पन्न हैं। आप के सिवाय और कोई रास्ता नजर नहीं आता। आप शीघ्र लंका के लिए प्रस्थान कर अपनी सूझ-बूझ का परिचय दें।” हनुमान उचित मार्ग-निर्देशन प्राप्त कर रूप बदल कर प्रस्थान कर जाते हैं। समुद्र तटीय राजा जो समुद्र राज के नाम से विख्यात था। जैसे हिमाचल राजा की लड़की पार्वती थी। जैसे भारत-सुन्दरी यानी भारत में जो सर्वश्रेष्ठ सुन्दर लड़की हो। उसी तरह समुद्र राजा थे। जो महाराज रावण के ही अधीनस्थ थे। समुद्र तटीय भाग से लंका की सुरक्षा का भी दायित्व इन पर ही था। किसी को किसी भी परिस्थिति में लंकापति के किसी आदेश के बिना नहीं जाने देते थे। लंकेश के द्वारा समुद्र पर पुल बना हुआ था। जिसके अग्र भाग की रखवाली समुद्र राज करते थे। मध्य भाग में सुरसा थी। लंका के पुल के मुख्य द्वार पर लंकीनी थी। इस तरह सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध था। हनुमान रूप बदलकर उधर से पुल पर पहुँचे गये। मध्य भाग में सुरसा से पकड़ लिए गये परन्तु अपना परिचय विभीषण के मित्र के रूप में देकर आगे बढ़ गये। ज्यों ही लंका के मुख्य द्वार पर पहुँचते हैं जहाँ से लंका का परकोट शुरू होता था। लंकिनी रूपी राडार की पकड़ में आ जाते हैं। वह स्वचालित यंत्र था, जो पकड़कर मुख्यालय को सूचित कर देता था। हनुमान की बुद्धि ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण थी। वे उसके स्विच को दबाकर बन्द कर देते हैं जिससे वह काम करना बन्द कर देता है। हनुमान लंका में प्रवेश कर जाते हैं।

हनुमान द्वारा विभीषण को मंत्र देना

हनुमान को यह पूर्व में ही सम्पाती के द्वारा ज्ञात हो गया है कि सीता अशोक वाटिका में है। जो लंका का अति महत्वपूर्ण व्यक्तियों के लिए अतिथिगृह था। उसकी सुन्दरता, शोभा और सुरक्षा का वर्णन भी अतुलनीय था। वहाँ सीता ध्यान, धारणा, पूजा में निर्विघ्न रहती। जिसकी सेवा में औरतें ही रहती थीं। त्रिजटा मशहूर विद्वान नीतिज्ञ, धर्म परायण महिला थी। जो हर समय सीता की देखभाल पुत्रीवत् करती थी। परन्तु सीता दुःखी थी चूँकि उसके ज्ञान, वैराग्य, विवेक, भक्ति का हरण हो चुका था। त्रिजटा स्वयं वैराग्य, विवेक एवं भक्ति की मूर्ति थी, जो सीता को सम्बल देती थी। फिर भी ज्ञान रूपी राम के अभाव में बेचैन रहना स्वाभाविक ही है। हनुमान को यह सब ज्ञात हो गया था। अतएव वे ऐसे व्यक्ति की खोज करते हैं जो उनके कार्य में सहायक हो सके। जिसके माध्यम से वे लंका में निडर, निःसंकोच घूम सकें। जो राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्वाकाँक्षी हो। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्रद्धावान हो। ऐसे व्यक्तियों में

विभीषण का नाम लंकावासी के द्वारा सुझाया गया। वे सीधे विभीषण के गृह पहुँचते हैं। उनको अपना परिचय दे, मन्त्रणा करते हैं। विभीषण तुरन्त तैयार हो जाते हैं। मानो पहले से ही मन बना कर बैठे हों। अवसर की खोज में हों।

“तुम्हरो मन्त्र विभीषण माना।

लंकेश्वर भये सब जग जाना॥”

विभीषण हनुमान को लंका में निर्भीक घूमने का आदेश दे देते हैं। साथ ही आयुध भण्डार के प्रमुख स्थानों का मानचित्र भी मुहैया करते हैं। विभीषण लंकापति के बाद दूसरे स्थान पर थे। उनके अधीन गृह, शिक्षा, धर्म, विज्ञान, संचार इत्यादि प्रमुख मंत्रालय था। रावण के अतिविश्वासी थे तथा वे भी रावण को बाह्य हाव-भाव से पिता तुल्य आदर देते थे। मंदोदरी को माता तुल्य। कोई किसी को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखता था। सभी प्रसन्न अपने-अपने व्यवस्थित काम में लगे रहते थे। हनुमान के एक झटके एवं प्रलोभन से विभीषण ने हथियार डाल दिए। इसी क्षण हनुमान से राम मिलन, राज्यारोहण का मन्त्र ग्रहण कर लेते हैं।

हनुमान द्वारा लंका को जलाना

हनुमान लंका का परिभ्रमण करते हैं। शस्त्रागार देखते हैं। युद्ध की कला, रक्षा की व्यवस्था से परिचित होते हैं। जब सब देख सुन सन्तुष्ट हो जाते हैं तब सीता से मिल अपना सन्देश देते हैं। सीता भी रावण की सुरक्षा-व्यवस्था देख, विधि-व्यवस्था देख कहती हैं- हे हनुमान! ये लोग अत्यन्त शक्तिशाली, धर्म निपुण, कर्तव्यपरायण हैं। इनसे युद्ध करना आसान नहीं। हनुमान भी चिन्तित हैं। अतएव सोचते हैं जाते-जाते क्यों न आयुध भण्डार को जला दिया जाये। सुरक्षा-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया जाये। विभीषण की सहायता प्राप्त कर जगह-जगह आयुध भण्डारों में आग लगा देते हैं। पूरी सुरक्षा-व्यवस्था चरमरा जाती है। कोई गुप्तचर सूचना तक नहीं देते-महाराज रावण को। वे विभीषण के उत्तरदायित्व पर सन्देह करते हैं। अपने पुत्र मेघनाथ, जो प्रतिरक्षा मन्त्री था, को भेज हनुमान को बन्दी बनाते हैं। उनसे परिचय पूछने के बाद उनका लंका आने, अग्निकाण्ड का उद्देश्य पूछते हैं। इस बीच रावण के प्रमुख राष्ट्र नागरिकगण, मन्त्रीगण हनुमान को मृत्यु दण्ड देने को कहते हैं। विभीषण उस समय सभा के मध्य में पहुँच इसे अनीति कहते हुए हनुमान को बन्धन मुक्त कराते हैं। इससे लंका में असन्तोष फैल जाता है। विभीषण को राष्ट्रद्रोही, देशद्रोही मानकर वहाँ की जनता विभीषण के खिलाफ हो जाती है। रावण बाध्य होकर विभीषण को मन्त्रिमण्डल से बर्खास्त कर देते हैं। उनके पुत्र सत्यकेतु को यही पदभार दे दिया जाता है। विभीषण पुत्र सत्यकेतु भी पिता के इस धिनौने

कार्य से खिन्न था। वह प्रथमतः उन्हें बन्दी बनाने के लिए अपने सचिव से मन्त्रणा करता है। किसी तरह विभीषण को पता चल जाता है, उन्हें अपने ही पुत्र के बदले व्यवहार से चिन्ता हो जाती है। अतएव रात्रिपहर ही अपने विमान से उड़कर लंका से बाहर आ जाते हैं।

हनुमान का संदेश एवं युद्ध तैयारी

हनुमान लंका से लौटकर अपने जामवन्त, अंगद इत्यादि व्यक्तियों से मिल सन्देश देते हैं। सभी खुशी-खुशी राम सुग्रीव के पास आकर हनुमान का वृत्तान्त सुनाते हैं। हनुमान के दिशा-निर्देशन पर पूरी वानर सेना, ऋक्ष सेना कूच कर जाती है। समुद्र के नजदीक जा डेरा डालती है। समुद्र पार जाने एवं युद्ध करने की मन्त्रणा होती है। इसी बीच विभीषण, लंका के लिए राष्ट्रद्रोही, राम के लिए श्रद्धा के प्रतिरूप आकर शरणागत होते हैं। हनुमान जी पूर्व में सब कुछ राम को बता ही चुके थे। इससे चतुर राम हनुमान की सलाह पर, बिना पाये लंका का राजतिलक दे देते हैं। जिससे विभीषण की महत्वाकांक्षा सातवें आसमान पर चली जाती है। विभीषण हर हालत में बिना किसी नुकसान के लंका पर विजय का आश्वासन देते हैं। राम अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं चूँकि अब इन्हें वैराग्य, धर्म, मित्र, श्रद्धा सभी कुछ एक साथ उपलब्ध हो जाता है। अब वे लंका रूपी स्वर्ण माया नगरी पर आक्रमण करने में समर्थ हो जाते हैं। विभीषण का भाग जाना जैसे ही उनके पुत्र को पता चलता है वह अपना जासूस भेजकर सत्यता को प्रमाणित करता है। लंका के चारों तरफ सुरक्षा की व्यवस्था मजबूत करता है। समुद्र राज को आदेश देता है किसी भी हालत में राम को रास्ता न दें। आपकी चूक के कारण हनुमान प्रवेश कर गया था। आप चौकन्ना रहें। समुद्र राज के द्वारा आश्वासन मिलता है, आप निश्चिन्त रहें। उधर सीता की सुरक्षा की व्यवस्था भी कड़ी कर दी गयी।

समुद्र से रास्ता माँगना

राम अपने सलाहकारों समेत समुद्र राजा के यहाँ गये। उनसे अनुनय-विनयपूर्वक रास्ता माँगने लगे। राम बोले “हे राजन! आप बहादुर, दृढ़ तथा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति हैं। आप हमें लंका जाने का द्वार छोड़ दें।” समुद्र राज स्पष्ट शब्दों में कहते हैं “हे राम! यह समुद्रीय मार्ग महाराज रावण के द्वारा निर्मित है। जिससे मानव संस्कृति का सम्बन्ध जुड़ा है। महाराज रावण का मुख्यालय लंका है। उनका कार्य क्षेत्र पूरी मानवता ही है। तभी तो उन्होंने यहाँ से मिथला तक राज पथ का निर्माण किया है। रास्ते में राजपथ पर ही मानव ऋषियों को बसाया एवं

विश्वविद्यालय खोले। इन्हीं के कार्यक्षेत्र में शबरी, अत्रि, भारद्वाज, विश्वामित्र, जनक हैं। जो जगह-जगह शिक्षण संस्थान चलाते हैं। सभी को समान अधिकार दिए हैं। सृष्टि में प्रथम बार औरतों को समान अधिकार दिया गया। चाहे शासन व्यवस्था हो, चाहे शिक्षण। औरतों को छूने तक की हिम्मत किसी नागरिक में नहीं है। वे कहीं भी, किसी भी समय निर्भीक भ्रमण कर सकती हैं। महाराज रावण की अन्तिम इच्छा स्वर्ग पर सीढ़ी बनाने की है। वह अब मिथला से त्रिविष्टप तक ही बनानी है। पहाड़ी रास्ता है फिर भी देव अभियंता ने पाँच वर्ष का समय मांगा है। धन कुबेर के द्वारा उपलब्ध कराया जायेगा। वह भी अब चंद दिनों में पूरा कर लिया जायेगा। हे राम! आपके यहाँ बहुपत्नी व्यवस्था है। औरतों से आप लोग गुलाम की तरह पेश आते हैं। आपसे इतना बड़ा राजपथ बनाना भी सम्भव नहीं है। आप तो अपने यहाँ सरयू तथा गंगा पर पुल नहीं बना सके। महाराज रावण के यहाँ सभी धर्मपरायण हैं। एक पत्नीव्रत धर्म का पालन करते हैं। अपने उसूल-नियम से पीछे नहीं रहते। सुनते हैं कि आप धोखे से मारते हो, छिप कर मारते हो। दो व्यक्ति युद्ध में हैं तो तीसरे पर आक्रमण कर देते हो। रात्रि में युद्ध करना, औरतों पर हथियार उठाना, युद्ध से विमुख व्यक्ति पर हथियार उठाना, यहाँ मनाही है। अतिथि को अपने प्राण से भी ज्यादा प्यार करते हैं। आप हमारे अतिथि हैं। अतएव आप सभी लोग सम्मान के साथ भोजन ग्रहण करें। हमें इस दुष्कर्म के लिए मत बाध्य करें। हे राम, यह भी सुना है कि आपने विभीषण को अपनी तरफ राज्य का लोभ देकर मिला लिया है। क्या यह उचित है? क्या यह नीतिगत है? एक तरफ तो आप बड़े पुत्र हैं अतएव अयोध्या के राज्य के आप अधिकारी अपने को बताते हैं। दूसरी तरफ धोखे से बड़े भाई को मारकर छोटे को राज्य देते चलते हैं। क्या यही मर्यादा है। यह भी सुना है कि माता तुल्य तारा को सुग्रीव की पटरानी बना दिया। क्या यही दुष्प्रवृत्ति यहाँ भी लायेंगे?

राम कहते हैं- हे राजन! क्या आपने नहीं सुना है कि सीता का हरण रावण के द्वारा किया गया है? क्या यह नीतिगत बात है? कई बार सन्देश भेजने पर भी वह उसे नहीं लौटाता। क्या यह उसकी कुदृष्टि का परिचायक नहीं है। समुद्र राज कहते हैं हे राम! यह बात सत्य है कि देव संस्कृति से सम्बन्ध कर रावण ने उचित नहीं किया। देव संस्कृति के लोग ही उनके नाम को बदनाम करते तथा उनके सलाहकार बन उन्हें पथभ्रष्ट करते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि सीता पर उनकी कुदृष्टि नहीं हो सकती, सीता तो उनके पुत्र के पुत्रवधू यानी नतनी के उग्र की भी नहीं है। महाराज रावण वृद्ध हो चुके हैं। शरीर थक गया है।

अब आप ही सोचें कि मसान पर जाता व्यक्ति कहीं किसी औरत पर कुदृष्टि डाल सकता है। जो महाराज रावण जवानी में देवकन्या, देव अप्सरा से सम्बन्ध नहीं किये। क्या मृत्यु के मुख में जाते रावण ऐसा कर सकते हैं। ऐसा न कहो? आपको भी दोष लगेगा। सीता उनकी पुत्री तुल्य है। उन्हें सम्माननीय ढंग से रखे हैं। आपने उनकी बहन का कान, नाक काटकर बदसूरत कर दिया। उनकी बहुत सारी सेना का नाश कर दिया। क्या रावण आपको दण्ड देने, सबक सिखाने हेतु यह भी नहीं कर सकते। आपके पास जंगल में है क्या? औरत ही है जिसकी आप घर-सम्पत्ति की तरह रखवाली करते हैं। उसी पर ज्यादा आप आसक्त हैं। यही सोच महाराज आपकी पत्नी को उठा लाये। क्या आप से वहीं युद्ध नहीं कर सकते थे। क्या आपकी अयोध्या पर नहीं चढ़ाई कर सकते थे परन्तु महाराज अहिंसक हैं। ऋषभ देव के शिष्य हैं। उनकी पत्नी सतसुकृति की शिष्या है। वे हिंसा नहीं करना चाहते। इसी से आपको मानसिक प्रताड़ना देने के लिए ऐसा किये हैं। यदि आप नम्र भाव से उनसे अपनी सीता की माँग करें, तो सम्मान के साथ वापस कर देंगे।

हे राम! आप उन्हें कलंकित न करें। उनके बुढ़ापे का ज़रा ख्याल रखें। यदि कुदृष्टि से ही सीता को लेकर जाते, तो कुकर्म में कितना समय लगता? सुकर्म में समय लगता है। वे इस तरह भी अब अपने बड़े पुत्र इन्द्रजीत को राज्य सौंप शरीर छोड़ना चाहते हैं। विभीषण इससे भी उद्विग्न हैं। वे राज्य लोभी तथा चरित्रहीन हैं। पद, अर्थ, कामपूर्ति हेतु विभीषण कुछ भी कर सकते हैं। अतएव हे राम आप ओछेपन से सम्पर्क न करें। वे अपनी तरह ही पूरे दुनिया को देखते हैं। अभी भी महाराज रावण आपसे युद्ध नहीं चाहते। वे मानवता के पुजारी हैं। अन्यथा मैं स्वयं आपसे उनके पक्ष में युद्ध शुरू कर देता। उनका आदेश है राम को समझा-बुझा दो। आपके सम्मान में कोई कमी नहीं करने का भी उन्हीं का आदेश है। आप अकेले नम्रतापूर्वक उनसे मिलें। सीता उनकी पुत्री से भी बढ़कर हैं। एक बार आप उनको आमन्त्रित कर देख लें। सदाशिव भी उन्हें तंत्र सिखाते हैं। आप उन्हीं के माध्यम से जरा आमन्त्रण देकर तो देख लें।

राम समुद्र राज की बात सुन दूसरे दिन शिव पूजन का अनुष्ठान कर देते हैं। रावण को निमन्त्रण ही नहीं भेजते, उन्हें ही पूजा कराने की सूचना भेजते हैं। महाराज रावण पुष्य नक्षत्र में सीता को लेकर आते हैं। शिवलिंग की स्थापना रामेश्वरम् नाम से कराते हैं। बिना दक्षिणा लिए राम को आशीर्वाद देते हैं- हे राम! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। तुम्हारी विजय हो। क्या पुत्री सीता मेरे साथ वापस लंका जायेगी या तुम्हारे साथ? सीता कुछ दिन और अशोक वाटिका में

रहने की इच्छा व्यक्त करती है। अतएव महाराज रावण अपने साथ लेकर चले जाते हैं। यह देख राम चिन्तित हो जाते हैं। विभीषण तथा ब्रह्मा उन्हें युद्ध के लिए उद्वेलित कर देते हैं। धर्मराज भी समझाते हैं कि हे राम! रावण शरीर छोड़ना चाहते हैं परन्तु आप माध्यम तो बनें। इधर राज्याकांक्षी विभीषण उद्वेलित हो उठते हैं राम को किसी भी तरह प्रातःकाल तक तैयार कर लेते हैं। राम पुनः समुद्र से रास्ता माँगने जाते हैं। इस क्रम में तीन दिन बीत जाते हैं। अन्त में विभीषण परामर्श देते हैं। रात्रि में ही समुद्र राजा को बन्दी बना लिया जाये। उनका राजकोष भी ले लिया जाये तथा रास्ता भी अपने आप मिल जायेगा। यही होता है। बात करते-करते रात्रि हो जाती है। उधर उनकी प्रजा पूरी बन्दर मण्डली के भोजन तथा रात्रि विश्राम की व्यवस्था में लगी रहती है। इधर राम-लक्ष्मण, विभीषण राजा पर अत्यन्त क्रोधित हो बाण तान लेते हैं। निहत्थे राजा को बन्दी बना लेते हैं। पूरे कोष पर अधिकार कर लेते हैं तथा पुल का दरवाजा खोल दिया जाता है। रातों-रात सारी सेना लंका में उतार दी जाती है।

राम-रावण युद्ध

राम लंका में सुरक्षित पहुँच जाते हैं। उनके साथ धर्म, निष्काम योग रूपी हनुमान हैं। मित्र सुग्रीव तो, धर्म की धुरी जामवंत, निर्माण रूपी कर्तव्यपरायण नल-नील, श्रद्धासमर्पण रूपी विभीषण हैं। सभी को साथ ले लंका के सुबेल पर्वत पर राम पहुँच जाते हैं। वहीं डेरा डाल राम सभी का समुचित आदर कर मन्त्रणा करते हैं। उधर लंकेश अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से व्यर्थ युद्ध नहीं करने का आदेश देते हैं। आयी हुई सेना का भी खाने-पीने, ठहरने की उचित व्यवस्था का प्रबन्ध किया जाता है। राम एवं वानर गण सुन्दर लंका को देखकर मोहित हो जाते हैं। ऐसी निर्माण कला, महल, सड़क, पार्क, बगीचा, वन, उपवन, सरिता, तालाब, पशु-पक्षी सभी का निर्माण मानो प्रकृति ने स्वयं किया हो। ऐसा नगर त्रिलोक में कहीं भी नहीं था। इससे भी सिद्ध होता है कि हनुमान के द्वारा केवल आयुध-शस्त्रागार के ठिकानों पर ही आग लगाई गयी थी। लोहा तथा सोना, हीरा, मोती से निर्मित लंका का जलना भी स्वाभाविक नहीं है। खैर जो हो यह हरि लीला है। लीला में दोनों तरफ के पात्र सामने स्टेज पर भयंकर लड़ाई लड़ते हैं। एक-दूसरे की जान के प्यासे होते हैं परन्तु परदे के पीछे दोनों प्रसन्नचित्त साथ-साथ रहते हैं। इसी से इसे लीला कहते हैं। करने वाले पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। देखने वाले इसे ही सत्य समझ कर आँसू बहाते हैं। करने वाले आँसू बहाने वाले पर सोचते हैं। बन्दर सेना लंका पर आक्रमण कर देती है। युद्ध शुरू

हो जाता है। दोनों पात्र अपना-अपना पाठ शुरू कर देते हैं। मेघनाद राम-लक्ष्मण को दो-दो बार नागफाँस में बाँध देता है, लक्ष्मण को मूर्छित भी कर देता है। गरुड़ से हनुमान नागफाँस कटवाते हैं तो कभी लक्ष्मण की मूर्छा, शबरी के फेंके गये प्रसाद को जो संजीवनी बूटी के रूप में पैदा हो जाता है, को देकर दूर की जाती है। हनुमान द्वारा धूम्राक्ष का वध किया गया। इस तरह वज्रदन्त, अकम्पन, प्रहस्त भी युद्ध में मारे जाते हैं। अहिरावण राम-लक्ष्मण को उठाकर ले जाता है, जिन्हें हनुमान के द्वारा छुड़ाया गया। नरान्तक, त्रिशिरा, अतिकाय, सत्यकेतु भी मारे जाते हैं। पुनः मेघनाद वानरी सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। कुम्भकरण रूपी निद्रा से युद्ध होता है तो इन्द्रजीत माया की सीता का वध कर राम के सामने फेंक देता है। राम विकल हो क्रन्दन करने लगते हैं। विभीषण के द्वारा सान्त्वना दी जाती है। चूँकि वे जानते थे कि किसी भी परिस्थिति में सीता को कोई हाथ नहीं लगायेगा। भले ही पूरी लंका बर्बाद हो जाये। रावण नीतिज्ञ थे। राम को विश्वास हो जाता है। पुनः युद्ध करने लगते हैं। मेघनाथ को पूजा, ध्यान यज्ञ करते हुए ही विभीषण की मदद से लक्ष्मण मार देते हैं। जबकि वह स्थान और समय दोनों उचित नहीं था। मकराक्ष कुम्भ भी मारे जाते हैं। इस तरह युद्ध में दोनों तरफ के पात्र कभी हँसते तो कभी विलाप करते हैं।

अन्त में युद्ध में आते हैं महाराज रावण। भयंकर युद्ध होता है। लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं। हनुमान जामवंत होश दिलाते हैं। रावण युद्ध में सभी को त्रस्त कर देते हैं। उन पर बाण काम ही नहीं करता। सिर कटता, भुजा कटती, किन्तु पुनः आ जाता। यह तप का प्रभाव था। अन्त में विभीषण की मदद से राम रावण को मारने में सफल हो जाते हैं। रावण घायल अवस्था में भी राम पर अपशब्द का प्रयोग नहीं करते बल्कि राम के पूछे जाने पर नीति शास्त्र ही सिखाते हैं।

रावण की नाभि में अमृत था। यानी खेचरी सिद्ध व्यक्ति थे। वे मरते नहीं। शरीर का परित्याग करते हैं।

“नाभि कुण्ड पिपुष बस याके। नाथ जिअत रावनु बल ताके॥”

जब रावण का शरीर घायल हो गया। अहंकार गिर गया तब सुना कि राम प्रचार कर रहे हैं कि मैंने रावण को मार दिया। तब वह कहता है कि कौन किसको मारता, कहाँ मरता, ज्ञानीजन आत्मपद में स्थित हो शरीर बदल लेते हैं।

“कहाँ रामु रन हतौं पचारी।”

अतएवं रावण आत्म में स्थित हो, रामाकार हो शरीर छोड़ते हैं। रावण तपनिष्ठ विद्वान्, धर्मपरायण होते हुए अहंकारी हो गये थे। विभीषण श्रद्धा के पात्र होते हुए भी महत्वाकाँक्षी एवं राज्य के लोलुप थे। कुम्भकरण निष्काम कर्म होते हुए भी निद्रा तथा भूख के वशीभूत थे। नरान्तक शरीर अहिरावण सर्वसम्पन्न

होते हुए भी लक्ष्मी (धन) के भूखे तथा कर्मकाण्डी थे। मेघनाद अप्रतिम योद्धा, तपस्वी होते हुए भी पितृ मोह में फँसा था। खरदूषण वगैरह क्रोध, असन्तोष के प्रतीक थे। जिन्हें ज्ञान रूपी साधक को अपने सहयोगियों के साथ उन्हीं के घर पर जाकर मारना पड़ता है। तब उन्हें मिलती है अपनी खोयी हुई सीता।

राम का अयोध्या आना

सीता के उपलब्ध होते ही साधक ज्ञान वैराग्य के पंख रूपी पुष्पक विमान से धर्म, मित्र, श्रद्धा, ऋद्धि-सिद्धि के साथ अयोध्या आ जाते हैं। जहाँ अब युद्ध की सम्भावना नहीं है। साधक शान्त हो जाता है जिससे भक्ति रूपी भरत स्वागत करता है तो विवेक रूपी शत्रुधन डोलाता है। अब अंग-प्रत्यंग आनन्द से प्रफुल्लित हो उठता है। हनुमान रूपी धर्म भी नाच उठता है। धर्म भी मूकदर्शक हो जाता है। मित्र सुग्रीव, श्रद्धा विभीषण भी उपहार प्रदान करता है। अब होती जय जयकार राम की। हो जाता है निर्विघ्न राज्यारोहण। सभी प्रजा रूपी साधक का रोम-रोम आनन्द से नाच उठता है। पूरा ब्रह्माण्ड ही मानो साधना में उतर आया हो। मानो अब वही सृष्टि का नियंता हो। सभी प्रफुल्लित आनन्दित हो उठते हैं। अब हो जाता है स्वतः ही राम राज्य।

वह साधक क्षणमात्र में पूरी सृष्टि से मिल लेता है या सभी को अपने में ही देखता है। यह रहस्य अन्य कोई कैसे जान सकता है।

“छन माहि सबहि मिले भगवाना।

उमा मरम यह काहू न जाना॥”

अब साधक के शरीर रूपी अयोध्या में नित नये मंगलोत्सव होने लगते हैं। सभी हर्षित हो उठते हैं।

“नित नव मंगल कौशल पुरी।

हर्षित रहहिं लोग सब कुरी॥”

अब साधक का ईश्वर तथा जीव का अद्वैत भाव भी समाप्त हो जाता है।

“जो सब के रह ग्यान एकरस।

ईश्वर जीवहि भेद कहहू कस॥”

साधक सोऽहमस्मि यानी यह जो अखण्ड वृत्ति है वही परम प्रचण्ड दीपशिखा है। इस प्रकार जब आत्मानुभव के सुख का अन्दर प्रकाश फैलता है तब संसार के मूल, भेद रूपी भ्रम का नाश हो जाता है। यथा

“सोऽहयस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोई परम प्रचण्डा।

आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। तब भव भूल भेद भ्रम नासा॥”

यदि साधक रामायण के पात्रों को अपने अन्दर ही समझने का कष्ट करे तो वास्तविक परिवर्तन सम्भव है। रामायण का अर्थ भी राम का घर, राम का मन्दिर ही होता है। हम मात्र रामायण का पाठ कर या रामायण की पूजा कर इतिश्री समझ लेते हैं। जो बहुत धार्मिक है वह रामलीला का गठन कर पूरी तरह बहिर्मुख होने का उपक्रम कर लेता है। बहिर्मुख व्यक्तियों से बहुत ही नुकसान हुआ है इस जगत् को। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर राम-रावण युद्ध हो रहा है। जो भी व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, अहंकार पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके अन्दर रामत्व की विजय होती है। जो भी व्यक्ति इनसे हार जाता है उसके अन्दर रावणत्व विजयी हो जाता है। अभी इस पृथ्वी पर इन्हीं की संख्या अधिकतम है। हम ऊपर-ऊपर से धार्मिक हैं, नीतिज्ञ हैं, निष्पक्ष हैं। निष्काम योगी हैं। अवसर आते ही सभी भाग खड़े होते हैं। सामने होते हैं काम, क्रोध, अहंकार, लोभ फिर जनमानस में, स्टेज पर प्रवचन देंगे इनके विरोध में। अन्तः मन काम करता है इनके पक्ष में। यही है अधिकतम जनमानस की स्थिति। रामत्व को उपलब्ध हुआ जा सकता है। उपलब्ध होना ही तंत्र है। जीवन जीने की कला है। रामत्व उपलब्ध व्यक्ति ही समाज सेवा में भी सार्थक भूमिका निभा सकता है। आप अपने में रामत्व को उतारने हेतु तंत्र की कला को पहचानें अन्यथा राम-राम कहते जीवन चला जायेगा। चले थे कुछ पाने परन्तु गँवाना ही पड़ता है। राम के रामत्व को ठीक से समझने के लिए उचित गुरु-निर्देश में तंत्र में, उतरना ही श्रेयस्कर है।

राम दरबार

राम दरबार में सभी लोग प्रसन्न हैं। सानन्द हैं। भगवान राम अपने सभी भाइयों एवं उनकी पत्नियों से पूछते हैं कि आपको क्या चाहिए? एक-एक कर क्रमशः सभी भाई से पूछते हैं। सभी प्रसन्नता से सिर हिलाकर उत्तर देते हैं। हमारे पास सभी कुछ है। आप हैं बस यह काफी है। तत्क्षण माण्डवी कहती है हे भगवन, मैं कुछ माँगना चाहती हूँ, आप वादा करें कि देंगे ही। भगवान कहते हैं, तुम मेरी पुत्री तुल्य हो। निस्संकोच माँगों मैं तत्क्षण प्रदान करूँगा।

माण्डवी कहती है कि हे प्रभु! आप अपना वल्कल हमें प्रदान करें। यह मैं सूर्य वंश की परम्परा आज तक नहीं समझ सकी कि जो वृद्ध पिताश्री वल्कल वस्त्र पहनना चाहते हैं। वे संन्यासी का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। उन्होंने मृत्यु को स्वीकार किया। जिन्हें राज मुकुट दिया जाना था, राजसी वस्त्र पहनना था, वे वल्कल वस्त्र धारण कर जंगल के लिए प्रस्थान कर गए। अतएव मैं वही

वल्कल वस्त्र लेना चाहती हूँ जिससे भावी सूर्य वंश उसे न धारण कर सके। भगवान राम के आँखों में आँसू आ गये। अपने पुत्री तुल्य माण्डवी की माँग पूरी नहीं कर सके।

इस बात को मोड़ते हुए भरत जी भाई लक्ष्मण से बोले-कि अपनी यात्रा का कोई ऐसा दृष्टान्त बताएँ जो आपकी यात्रा में स्मरणीय है। चूँकि आपने भगवान के साथ चौदह वर्ष तक यात्रा ही की।

लक्ष्मण सोच समझ कर बोले कि एक दिन मेघनाद ने मुझ पर शक्ति बाण चलाया था। मैं बेहोश था। भक्त हनुमान जी ने मुझे गोद में उठा कर भगवान राम के गोद में रख दिया। यह यात्रा मैंने नहीं की परन्तु यात्रा पूरी हुई। मेरी यही यात्रा स्मरणीय है। सभी भाव से भर गये। सभी की आँखें नम हो गयीं। हाँ यही यात्रा वास्तविक है।

शत्रुघ्न जी ने हनुमान जी से पूछा कि आप अपना संस्मरण बताने की कृपा करें। हनुमान जी ने कहा कि भाई लक्ष्मण को शक्ति बाण लग गया था। मैं संजीवनी बूटी लाने के लिए हिमालय पर आ गया था। अर्द्ध रात्रि को प्रभु विलाप कर रहे थे। मैं उस समय पर्वत लेकर अयोध्या के ऊपर से उड़ रहा था। मेरे मन में अहंकार का जन्म हो गया कि यदि मैं नहीं रहता तो लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती। प्रभु के प्रत्येक कार्य में मैं ही मददगार हुआ। मेरे मन में अहंकार का उदय होना था कि भरत भाई का बाण मेरे हृदय में लगा। मैं घायल मूर्छित होकर अयोध्या के धरती पर गिर गया। मैंने सुना था कि भगवान अपने प्रिय भक्त के मन में अहंकार उदय होते ही उसे साफ कर देते हैं।

मुझे होश आया। भरत जी ने अपना परिचय दिया। मैंने अपने कार्य एवं लक्ष्मण जी के शक्ति बाण के सम्बन्ध में बताया। अब भरत जी भाई के वियोग में विलाप करने लगे। मैं अभागा हूँ। पापी हूँ। भगवान के हर कार्य में बाधा उत्पन्न करता हूँ। हे हनुमान जी! शीघ्र ही आप मेरे बाण पर बैठें। मैं आपको लंका में भेज दूँ। मैंने कहा आप धैर्य रखें। भगवान ही सभी कुछ करते हैं। मेरा नाम होता है। साथ ही मेरे अहंकार को भी धोते हैं। सामने श्वेत वस्त्र में; अश्रुपूरित नेत्रों वाली महिला कौन है? भाई यही है कलकिनी कैकयी। जिसके कारण सम्पूर्ण अयोध्या वीरान हो गई। हम लोगों की स्थिति यह बन गयी। मैंने जाकर माता कैकयी का पैर स्पर्श किया-पूछा माता जी राम जी को कुछ संदेश देना है।

हाँ पुत्र हूँ। मैं ही अभागिन हूँ। परन्तु मेरे ज्येष्ठ पुत्र राम से कह देना कि मेरी पुत्री जानकी एवं पुत्र लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौटे। मैं उसे राज तिलक

करना चाहती हूँ। यदि वह युद्ध से थक गया है, तो मुझे संदेश देना। मैं क्षत्राणी हूँ। युद्ध करना जानती हूँ। महाराज के साथ देवासुर-संग्राम में गयी हूँ। देवताओं को भी विजयी कराया है। मैं युद्ध भूमि में उतर जाऊँगी। रावण के साथ सारी सेना पर भारी पड़ूँगी। मैं मति मंद हूँ। भाग्य की मारी हूँ। परन्तु पुत्र राम, लक्ष्मण, पुत्र वधू जानकी मुझे प्राणों से प्यारे हैं। यदि इन्हें कुछ हो गया तो मैं काल से भी युद्ध करूँगी।

हनुमान जी आगे बढ़े-श्वेत वस्त्र में गौर वर्ण वाली श्वेत केशी महिला के पास जाकर खड़े हुए। भरत जी ने कहा यही माँ सुमित्रा है। लक्ष्मण की माता श्री। मैंने उनका भी पैर स्पर्श कर प्रणाम किया। उनसे पूछा माता श्री आपको कुछ संदेश देना है। हाँ पुत्र! आज मैं प्रसन्न हूँ। मेरा पुत्र बड़े पुत्र राम की रक्षा में घायल हुआ है। यदि राम घायल हो जाते तब मैं कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहती। लक्ष्मण से कह देना कि मेरे दूध की लाज रखना। सीता-राम की आन-शान पर किसी तरह की आँच न आवे। उन्हें मैं अपने आँखों से राजगद्दी पर बैठा देखना चाहती हूँ। यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है। इसे पूरा करा दें।

हनुमान जी आगे बढ़े। भरत जी ने कहा यही है-राज माता कौशल्या। परम तपस्वनी। भरत की भी माता। मैंने उन्हें भी पैर छूकर प्रणाम किया। पूछा माता श्री आपको कुछ संदेश देना है। हाँ पुत्र! राम से कह देना कि हमारे दूध की लाज रखेगा। उसे अयोध्या आना है तो मेरे प्यारे पुत्र लक्ष्मण एवं पुत्र वधू जानकी के साथ आये अन्यथा वह वापस ही क्यों आयेगा?

हमें यह सुन कर देखकर आश्चर्य भी हुआ और हर्ष भी। इस राम परिवार को कौन हरा सकता है? सभी एक चट्टान की तरह अटल हैं। मेरे मुँह से अनायास निकल पड़ा **“जहँ सुमति तहँ सम्पति नाना।”**

भगवान राम भी अपने समाज में प्रति दिन सत्संग करते हैं। वे कहते हैं (उ. का. रा. च. मा.)

“बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाई न जेहि परलोक सँवारा।।”

अर्थात् बड़े भाग्य से मनुष्य शरीर मिला है। सब ग्रंथों ने यही कहा है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है। यह साधना का धाम है। मोक्ष का द्वार है। इसको पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया उसका तो यह जीवन व्यर्थ ही गया।

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।

करनधार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।

यह मनुष्य का शरीर सागर से तारने के लिए जहाज है। मेरी कृपा ही

अनुकूल वायु है। सदगुरु इस मजबूत जहाज के कर्णधार हैं। इस प्रकार दुर्लभ साधन सुलभ होकर मनुष्य को प्राप्त हो गये हैं।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाई।

सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाई।।

जो मनुष्य ऐसे साधन पाकर भी भवसागर से न तरे, वह कृतघ्न और मन्द-बुद्धि है और आत्म-हत्या करने वाले की गति को प्राप्त होता है।

इस सत्संग में गुरु वशिष्ठ जी, ब्राह्मण और अन्य गण मान्य जन आये थे। जिसे सुनकर सब ने भगवान राम के पैर पकड़ लिये एवं समर्पित हो गये।

सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपा धाम के।।

जननी जनक गुरु बंधु हमारे। कृपा निधान प्रान ते प्यारे।।

हे कृपा निधान! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई, सब कुछ हैं और प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

एक दिन एकान्त पाकर अकेले वशिष्ठ मुनि आए एवं भगवान राम से बोले

राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपा सिंधु विनती कछु मोरी।।

देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा।।

अर्थात् वशिष्ठ मुनि ने हाथ जोड़कर कहा हे कृपा सागर श्रीराम जी! मेरी विनती सुनिये! आपके आचरणों को देख-देख कर मेरे हृदय में अपार मोह (भ्रम) होता है।

महिमा अमित बेद नहि जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना।।

उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा।।

हे भगवान! आपकी महिमा की सीमा नहीं हैं, उसे वेद भी नहीं जानते। फिर मैं किस प्रकार कह सकता हूँ? पुरोहिती कर्म बहुत ही नीचा है। वेद, पुराण और स्मृति सभी इसकी निंदा करते हैं।

जब न लेउँ मैं तब विधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही।।

परमात्मा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषण भूपा।।

जब मैं पुरोहिती का काम नहीं लेता था, तब ब्रह्मा जी ने मुझे कहा था हे पुत्र! इससे तुमको आगे चलकर बहुत लाभ होगा। स्वयं ब्रह्म परमात्मा मनुष्य रूप धारण कर रघुकुल भूषण राजा होंगे।

वशिष्ठ जी आगे कहते हैं हे राम। जिस पर आपकी कृपा हो वही श्रेष्ठ है। जिसके हृदय में आपके प्रति प्रेम है वही भक्त है। आप से एक ही वर माँगता हूँ, कृपा कर दीजिये। प्रभु आपके चरण कमलों में मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तर में कभी न घटे।

इससे यह परिलक्षित होता है कि वशिष्ठ जी ने अपना कर्मकाण्ड छोड़ कर श्री राम को सद्गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया।

**“नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥”**

सद्गुरु कबीर ने भी कहा है “वशिष्ठ गुरु कीन्ह रघुनाथा।”

गुरु ही मानव संस्कृति की श्रेष्ठ धरोहर है। जिसने राम राज में उच्चतम स्थिति को प्राप्त किया। चूँकि गुरु के ही खड़ाऊँ की पूजा होती है। भरत जी यह पहले ही कर चुके थे। भगवान राम ने गुरु परम्परा के माध्यम से परम पुरुष को उपलब्ध होने के तंत्र को अग्रगति प्रदान की। हम जैसे ही समय के सद्गुरु को समर्पित होते हैं, वह हमारे योग्य तंत्र विधि को प्रदान करता है। जिससे सच्चा साधक (शिष्य) शीघ्र ही विकास के उच्चतम शिखर आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर लेता है। जहाँ शिष्य गहन परितोष का अनुभव करता है। गुरु को संसार के तथाकथित आदर्शों से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वह शिष्य की चिंता करता है कि कैसे एवं किस तंत्र विधि से वह अपने स्वरूप को उपलब्ध हो सकता है। यही विधि है तत्कालीन सद्गुरु भगवान राम की।

कृष्ण

कृष्ण यानी कर्षति इति कृष्ण। जो आकर्षित करता हो, खींचता हो अपनी तरफ वह कृष्ण है। जो सबको शाब्दिक स्पर्शों एवं अन्यान्य तन्मयता के माध्यम से तथा समस्त (हिप्टोप्लाज्मिक अट्रैक्शन) के माध्यम से, मानसिक आकर्षण से अपनी ओर खींच लाता है वह ही कृष्ण है। संसार संचर प्रतिसंचर के माध्यम से चलता है। जो प्रतिसंचर के माध्यम से सबको अपनी ओर खींच रहा है वही कृष्ण है। वे आदर स्नेह से आकर्षित करते हैं प्रतिसंचर की धारा में जो जीव जगत आता है वह उसे आकर्षित करते हैं। अब नहीं जाना, जीव के बस की बात नहीं है। वह अपनी तरफ क्यों आकर्षित करता है? वह आकर्षित कर आपको निष्काम, कर्म के पथ पर ले जाता है। वह विध्वंसकारी भावना नहीं रख सकता। वह स्थूल, मानसिक, आध्यात्मिक जगत से विध्वंसकारी प्रवृत्ति को हटा ही देगा। समाज के अग्रगति में जो पैशाचिक लताएँ कंटक स्वरूप हैं, रोड़े की तरह हैं, उन्हें पथ से हटा ही देगा। ममता रोकती है परन्तु कल्याणकारी भाव कठोरता का अवलम्बन ले लेता है। कृष्ण एक न्युक्लियस की तरह है जिसके चारों तरफ न्युक्लियाई घूमते हैं। कृष्ण केन्द्र बिन्दु हैं जगत के। कृष्ण को समझने के लिए आँखें चाहिये। राम को समझा जा सकता है। कृष्ण को समझना आसान नहीं, कठिनतम है। सम्भवतः इसी से राम को अंशावतार कहा गया है। कृष्ण

को पूर्णावतार। कृष्ण सब को आत्मसात् कर जाते हैं। सभी धर्म हँसने से भागते हैं। उदास, गम्भीर रहने को कहते हैं। मानो सारे धर्म ही दुःखवादी हों। मानो सभी किसी-न-किसी दुःख से भागे हों। गहराई से देखने पर मालूम होता है कि सभी धर्मों की जड़ में किसी-न-किसी रूप में दुःख है। अतएव महात्मा, संन्यासी, साधु सभी के सभी इस संसार को दुःख का कारण कहते हैं। उनका चेहरा रोता हुआ है। कृष्ण पहला व्यक्ति है जो नाचते हुए हैं। हँसते हुए, गीत गाते हुए हैं। महावीर, बुद्ध, जीजस, सम्भवतः जीवन में कभी हँसे ही नहीं। राम के जीवन में कभी हँसी नहीं आयी। इस धर्म ने ही जीवन को दो हिस्सों में बाँट रखा है, एक वह जो स्वीकार के योग्य है। दूसरा वह जो इनकार के योग्य है। कृष्ण अकेले सभी से अलग हटकर इस समग्र जीवन को पूरा ही स्वीकार कर लेते हैं। अभी तक का धर्म, तोड़कर या दूँद करके सोचता रहा। यह शरीर को इनकार कर, आत्मा को स्वीकार करता है। इह लोक को अस्वीकार करता है। परलोक को स्वीकार करता है। कहीं आत्मा शरीर को लड़ाया जाता है तो कहीं इहलोक परलोक को। जब हँसता हुआ धर्म पैदा नहीं कर सकता तब तो कहना ही पड़ेगा। धर्म मर गया। ईश्वर मर गया। अब धर्म तथा ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं। दोनों का दफन हो गया। कृष्ण पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने शरीर-आत्मा, इहलोक-परलोक दोनों को हँसते हुए स्वीकार किया। कृष्ण हर स्थिति का सामना करते हुए हँस रहा है। मुस्कुरा रहा है। नाच रहा है। इसके साथ समग्रता ही नाच उठती है। यही कारण है जिन्होंने भी कृष्ण की पूजा की उन्होंने कृष्ण को टुकड़े-टुकड़े में करके की। पूरे कृष्ण को स्वीकार करने का किसी में भी आज तक साहस नहीं हुआ। सभी ने कृष्ण को छिन्न-भिन्न कर दिया। कृष्ण सम्पूर्णता के प्रतीक हैं। मानव समाज के आनन्द के लिए सुन्दर आविष्कार के रूप में उभरते हैं। कहीं पूर्वाग्रह नहीं, नकारात्मकता नहीं। जीवन ही प्रेम है। जीवन ही उत्सव है। कृष्ण कहीं चोर हैं कहीं चरवाहा, कहीं बाँसुरी वादक। कहीं रास रचयिता, कहीं युद्ध का कुशल नेतृत्वकर्ता। किसी के भी जीवन में इस तरह की बहुआयामी प्रतिभा सम्भव नहीं है। कृष्ण का नाम है समग्रता, बहुआयामी।

कृष्ण का जन्म

कृष्ण एक ऐसे महामानव हैं जिनका जन्म ही दुःख रूपी कारागार में होता है। वह भी कारागार किसी अन्य का नहीं, अपने ही ममता रूपी मामा कंस का, जो अपनी ही धर्म रूपी बहन, बहनोई (देवकी-वसुदेव) को तथाकथित देव संस्कृति के लोगों के कहने पर या बहकावे में आकर बंदी बना लेते हैं। कृष्ण जैसे प्रतिभा को जन्म देने के लिए पृथ्वी को हजारों वर्ष तप करना पड़ता है।

कंस, कृष्ण एक ही राशि के हैं। देवकी-वसुदेव को कारागार होता है परन्तु उनको किसी बात का पश्चाताप नहीं, अफसोस नहीं, भय नहीं, वसुदेव कह सकते थे, भाई कंस, रखो अपनी बहन को, किसी और से शादी कर देना, हमें तो छोड़ो। देवकी भी कह सकती थी भाई कंस मैं जीवन भर ब्रह्मचारिणी रह जाऊँगी। मुझे छोड़ दो। अभी मात्र मंगलसूत्र ही तो बँधा है। लो इसे तोड़ देती हूँ। देवगणों ने आठवें पुत्र के सम्बन्ध में कहा है मैं एक भी पुत्र नहीं पैदा करूँगी। परन्तु ऐसा नहीं होता है। दोनों प्रसन्न हैं। खुश हैं। कोई पूर्वाग्रह नहीं। कोई द्वेष नहीं। मानो दोनों का हृदय सच्चित् को प्राप्त हो गया है। कोई अन्तर नहीं पड़ता। चाहे राज महल में रहें, चाहे झोंपड़ी में हों, चाहे राजगृह हो। सर्व भूमि गोपाल की है। अतएव दोनों पति-पत्नी प्रसन्न हैं। अपने तप में, अपने कर्तव्य में लग जाते हैं। भविष्य की चिन्ता में वर्तमान को बर्बाद नहीं करते। वर्तमान को हरि इच्छा मान आनन्द से, हँसी-खुशी से व्यतीत करते हैं। उनके चेहरे पर कोई विषाद नहीं। कोई रुदन नहीं। जब जीवन प्रेम आनन्द, उत्सव से भर जायेगा तब अपने आप आते हैं सच्चित्, आनन्द स्वरूप, करुणा स्वरूप कृष्ण।

जब देवकी वसुदेव को प्रथम पुत्र होता है तब कंस सोचता है ठीक है हमें तो आठवाँ पुत्र ही देखना है। देवगण ने हर समय मानव-मानव को आपस में लड़ाया है। कंस शक्तिशाली राजा थे। पूरे पूर्वांचल पर एक तरह से उनका अधिकार था। जरासंध मगध नरेश थे जो अपनी दो कन्याओं की कंस से शादी किये थे। कंस एवं जरासंध का मिलित प्रयास था पूरा पूर्वांचल का एकछत्र-राज्य। देव संस्कृति चिन्तित थी। चूँकि कंस अब पूर्व-उत्तर की ओर बढ़ता वहाँ तो त्रिविष्टप (स्वर्ग) ही था। अतएव देवेन्द्र ने सोचा कि शत्रु को वहीं उलझाये रहो। जिसमें सफलता भी मिलती है। देवेन्द्र दूत नारद आकर समझाते हैं हे कंस। कौन पहला? कौन आठवाँ? आप एक गोला (वृत्त) बना दो। उसमें आठ लकीरें खींचो। अब बोलो कौन पहला, कौन आठवाँ होगा। इस तरह भोजराज कंस को बहका कर उसे अपना ही खून यानी भागिनेय की हत्या करने को बाध्य किया। कालान्तर में इस दोष से बचने का बहाना भी खोज लेते हैं। जबकि पाप कर्म करने वाले से कराने वाले की ज्यादा भागीदारी होती है। कंस की करुणा को देवगण बार-बार कठोरता, निर्ममता, हृदयहीनता में बदलते रहते हैं। कहीं भी वे उसे नीतिगत बात नहीं सिखाते। संसर्ग का दोष आना स्वाभाविक है। खैर कंस ने बहन की सुख-सुविधा का ख्याल कर जेल में भी विजया, माधवी, माया नामक प्रवीण सेविका दे रखी थीं। इनके साथ सैकड़ों अन्य सेवक थे जो हर सुख-सुविधा का साधन मुहैया करें। माधवी और माया शल्य क्रिया में अत्यन्त निपुण थीं। विजया राज-काज के काम में।

जब देवकी के गर्भ में सातवाँ पुत्र आया तब देवकी ने विजया, माधवी, माया से कहा कि हे देवियों क्या कोई उपाय नहीं कि तुम हमारे पुत्र को बचा सको। क्या तुम लोग भी हृदयहीन कठोर हो। यदि तुम में कुछ भी ममत्व है तो एक माता की विवशता का ख्याल करो। विजया द्रवित हो जाती है। आपस में विचार-विमर्श होता है। अन्त में निर्णय कर वे देवकी वसुदेव से कहती हैं- एक उपाय है आपके इस गर्भ को स्थानान्तरित किया जा सकता है। यदि आपके पास आपकी विश्वासी कोई अन्य औरत हो तो हमें बतायें। परन्तु यह अत्यन्त गोपनीय होना चाहिये। वसुदेव रोहिणी के सम्बन्ध में कहते हैं। विजया रोहिणी को बुला लाती है। रोहिणी विजया की सहेली की तरह साथ आती साथ चली जाती है। कोई पहरेदार अविश्वास भी नहीं करता। एक रात्रि अवसर देखकर माधवी, माया गर्भ का हस्तान्तरण कर देती हैं। रोहिणी को सुरक्षित नन्द जी के यहाँ भेज देती हैं। प्रातः काल विजया वाक्पटुता एवं निपुणतापूर्वक कंस को गर्भपात का सन्देश भेज देती है।

अब तीनों अपने कृतकर्म से प्रसन्न थीं। मानवता को बचा लिया था। तीनों आगे के बच्चे को भी बचाने के लिए कृतसंकल्प थीं। साहस बढ़ चुका था। हिम्मत बँध चुकी थी। विजया सारे सेवक प्रहरीगण की शासिका थी। सभी उसी के मातहत थे। माधवी, माया शल्य विशेषज्ञ थीं। तीनों अत्यन्त रूपवती होने के साथ-साथ अपने-अपने गुणों में दक्ष थीं। राजा की विश्वासपात्र। इन्हीं कारणों से कंस ने इन्हें अपनी बहन की सेवा में लगा रखा था। कृष्ण का आगमन देवकी के गर्भ में हो गया। देवकी प्रफुल्लित थी। चेहरा खिल उठा, वसुदेव, वासुदेव की प्रतीक्षा में थे। गर्भ से ही कृष्ण कर्षण करने लगा। आस-पास के सभी लोग उसकी तरफ खिंचते चले आये। भाव-विभोर होते गये। विजया सभी को मिला कर रखती। उसकी इच्छा के बिना कारागार का पत्ता तक नहीं हिलता। माधवी ने विजया को बता दिया बहन अगली रात्रि पुत्र उत्पन्न की सम्भावना है। गर्भस्थ शिशु अत्यन्त ही पुष्ट एवं सुन्दर है। गर्भवती को सारी सुविधा दी गयी है। रात्रि में समय भी अच्छा ही है। अब इस बच्चे को अन्यत्र ले जाने का उपाय करो।

भाद्रपद मास अष्टमी के रोहणी नक्षत्र अर्द्धरात्रि में कृष्ण का आगमन होता है। माधवी एवं माया प्रसूति का कार्य सम्भालती हैं। विजया कारागृह के कर्मचारियों को पहले ही सोमपान करा चुकी है। सभी बेसुध सो गये हैं। विजया वसुदेव से पूछती है क्या आप इस बच्चे को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा सकते हैं। वसुदेव के शरीर में जीवन का संचार हो जाता है। पूरा शरीर चकाचौंध हो जाता है। जैसे ऊर्जा से भर गया हो। सहर्ष विजया के निर्देशन पर अपने नवजात शिशु

को लेकर चल देते हैं। रात्रि अन्धकारमय है। वर्षा हो रही है। बच्चे को सर पर रख आगे-आगे वसुदेव पीछे-पीछे माया चल रही है। माया छाने से कृष्ण को वर्षा से बचाते हुए गोकुल पहुँच जाती है। विजया एवं माया की नीति वहाँ भी सफल होती है। नन्द जी को पुत्र देकर यशोदा की सोयी हुई हालत में उनकी पुत्री लेकर वापस आते हैं। प्रातःकाल विजया कंस को पुत्री होने की सूचना देती है। जेल की व्यवस्था पूर्ववत् हो जाती है।

कंस कृष्ण एक कर्म योग

कंस जिसका अस्तित्व दुःखद भयावह हो। जो जीवन-जगत की अग्रगति में बाधक हो, जो अपने अस्तित्व की रक्षार्थ जीव जगत् के कल्याण में, सद्भावना में बाधक हो। कंस राक्षस संस्कृति के नहीं थे। ये भी कृष्ण के खानदान में ही थे। इनका जरासंध से मित्रता एवं शादी का सम्बन्ध भी था। दोनों में अटूट सम्बन्ध था। इनकी शासन सत्ता जनकपुर से लेकर मणीपुर बंगाल, असम तक थी। इनसे देवता भी भयभीत रहते थे। अतः कंस को अहंकार आना स्वाभाविक ही था। जब कोई व्यक्ति साधना से च्युत हो जाता है तब सत्ता पाकर मदांध हो ही जाता है। कंस कृष्ण के जन्म के बाद वसुदेव एवं अपनी बहन देवकी को ससम्मान कारागार से बाहर कर देता है। अपने द्वारा किये गये अपराध के लिए पश्चाताप भी करता है। बार-बार देवकी एवं वसुदेव से क्षमायाचना करता है। अब कृष्ण रूपी सत्ता से वह भी अनायास ही आकर्षित हो गया था।

“आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।

चिन्तयानो हर्षाकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥”

वह उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते सर्वदा कृष्ण के चिन्तन में ही लगा रहता। जहाँ उसकी दृष्टि पड़ती जहाँ कुछ खड़का होता, वहीं उसे कृष्ण दिख जाते। इस प्रकार उसे सारा जगत् ही कृष्णमय दिखने लगा। कृष्ण के नज़दीक जो भी जाता वह उसका हो जाता। जो विपरीत रहता वह इस पृथ्वी पर रहने का हक नहीं रख पाता। पूतना ऐसी ही सुन्दरी है। देव कन्या है। उसकी सुन्दरता, चाल-ढाल की तुलना लक्ष्मी से की गई है। परन्तु आज की विष कन्या है। वह कृष्ण को स्तन-पान कराने हेतु गोद में लेती है। साथ ही कृष्ण जैसी प्रतिभा को देखकर स्वयं विषपान कर शरीर का परित्याग कर देती है। कृष्ण के सामने प्रकृति अनहोने दृश्य उपस्थित करती है जिससे कृष्ण के जीवन में प्रतिष्ठा के चार चाँद लग जाते हैं। कृष्ण अल्प आयु (5 वर्ष) में ही गाय चराने का काम शुरू कर देते हैं। चरवाहे का कार्य बहुत कुशलतापूर्वक पूरा करते हैं। इसी समय

माखन, दही की चोरी भी करते हैं। ग्वाल-बाल के साथ खुशी-खुशी हँसते हुए जीना प्रारम्भ करते हैं। जीवन को वास्तविकतापूर्वक जीने की कला को अपनाते हैं। मानव को मनोवाछित गुणों से सम्पन्न रहने की कला को अपनाने के लिए समाज को कहते हैं। नन्द जी इन्द्र की पूजा यज्ञ प्रारम्भ करते हैं। कृष्ण इसे मिथ्या कहते हैं। वे अपने निष्काम कर्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। इन्द्र की पूजा को रोक देते हैं। कहते हैं मनुष्य अपने कर्मों के फल का ही उपभोग करता है। कर्म के अनुसार ही जन्म ग्रहण करता है एवं मृत्यु को प्राप्त करता है।

“कर्मणा जायते तन्तुः कर्मणैव विलीयते।

सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

अस्ति चेदीश्वरः कन्वित् फलरूप्यन्य कर्मणाम्।

कर्तारं गजले सोऽपि न झकेर्तुः प्रभुर्हि सः॥

किमिन्प्रेणेह भूतानां स्वकर्मान्चूर्तिनाम।

अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥

देहानुच्चावचाजन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।

शत्रुभिर्त्रभुदासीनः कर्मैव गुरुरी श्वरः॥

प्राणी अपने कर्म अनुसार पैदा होता और उसी के अनुसार मर जाता है। उसे उसके कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मंगल के निमित्तों की प्राप्ति होती है। यदि कर्मों को ही सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न, जीवों के कर्म का फल देने वाला ईश्वर को माना भी जाये तो वह कर्म करने वालों को ही उनके कर्म के अनुसार फल दे सकता है। कर्म न करने वालों पर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती। जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों का ही फल भोग रहे हैं, तब हमें इन्द्र की क्या आवश्यकता है पिता जी। जब वे पूर्व संस्कार के अनुसार प्राप्त होने वाले मनुष्यों के कर्मफल को बदल ही नहीं सकते तब उनसे क्या प्रयोजन? मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्व संस्कारों) के अधीन है। वह उसी का अनुसरण करता है। यहाँ तक कि देवता, असुर, मनुष्य आदि को लिए हुए यह सारा जगत् स्वभाव में स्थित है। जीव अपने कर्मों के अनुसार उत्तम और अधम शरीरों को ग्रहण करता और छोड़ता है। अपने कर्मों के अनुसार ही यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है ऐसा व्यवहार करता है। कहीं तक कहेँ, कर्म ही गुरु है। कर्म ही ईश्वर है। इस प्रकार कृष्ण बचपन में ही कर्मवाद के सिद्धान्त को अपने में उतार कर दिखाते हैं। इन्द्र की पूजा बन्द कर देते हैं। यज्ञ के लिए इकट्ठी सामग्री को गो, गोवर्धन, ग्वालबाल एवं गुरु पूजा में अर्पित करा देते हैं। सभी खुश हो अपने निष्काम कर्म योग में लग जाते हैं।

इन्द्र का कोप

ब्रजवासियों को निष्काम कर्म योग में लिप्त देख स्वार्थी देवगण खिन्न हो उठते हैं। देवेन्द्र अपने स्वभाववश जलते भुनते हैं। वे कृष्ण पर अकारण स्वार्थ प्रेरित हो क्रोध कर अपशब्दों का प्रयोग करते हैं। यथा

**“वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मृत्युपाश्रित्य गोपा में चक्रुरप्रियमे॥”**

कृष्ण वकवादी, नादान, अभिमानी और मूर्ख होने पर भी अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझता है। वह स्वयं मृत्यु का ग्रास है। फिर भी उसी का सहारा लेकर इन अहीरों ने मेरी अवहेलना की है।

देवेन्द्र बच्चों की तरह अपना उत्पात शुरू कर देते हैं। ब्रजभूमि को जल से डुबो देने का अथक प्रयास करते हैं। कृष्ण योगयुक्त हो सभी ग्वाल-बाल को अपने मवेशियों और पत्नियों समेत गोवर्धन पर्वत पर डेरा डालने को कह देते हैं। सभी ब्रज में रहने वाले अपनी-अपनी झोंपड़ी कृष्ण के निर्देशन पर डाल देते हैं। सभी में एकता की अद्भुत शक्ति थी।

किसी गोप में कृष्ण के विरुद्ध कोई तर्क-वितर्क नहीं। सभी अपने-अपने कर्म में युक्त हो नौसेना, गुरु कृपा से गोवर्धन की छत्र-छाया में व्यवस्थित हो निश्चित हो गये। गोवर्धन के नीचे छोटी नदियाँ हैं जिससे पानी का बहाव भी शीघ्र हो गया। सभी सुरक्षित सात दिनों तक वहीं टिके रहे। इन्द्र झुककर स्वकर्माँ पर स्वयं लज्जित हुए। सभी ब्रजवासियों ने कृष्ण को आशीर्वाद देकर मंगलमय भविष्य की कामना की। इस तरह हम यह देखते हैं कि देवगणों ने कभी भी मानव महामानव को मदद नहीं पहुँचाई है अपितु मार्ग में अवरोध जरूर उत्पन्न किये हैं। किसी भी महामानव ने किसी भी देव की स्तुति नहीं की न ही अपने को अमुक देव का अवतार कह कर देवगण को प्रतिष्ठा दी है। हाँ देवगण के द्वारा बाधा उत्पन्न करने के बावजूद भी महामानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। वसुधा को प्रेम से, परमात्म भाव से भर देते हैं। स्वधर्म के प्रति लोगों को जागरूक कर देते हैं। तब देवगण अपनी प्रतिष्ठा बचाने हेतु उस महामानव की स्तुति करते तथा किसी-न-किसी देव का उन्हें अवतार घोषित कर देते हैं। कृष्ण ने बचपन से ही उन दुष्प्रवृत्तियों से जूझना शुरू कर दिया था जो समाज के विकास में सचमुच बाधक हों। भले ही बाधा स्वरूप देवेन्द्र हो या अपना ही मामा कंस हो। सभी को समान रूप से विकास की मुख्यधारा में जोड़ने का प्रयास करते रहे। जो समाज को अग्रसर करने में अवरोध उत्पन्न करता उन्हें मार्ग से हटा देते।

कृष्ण का मथुरा आगमन

इन्द्र के बाद और भी देवगण कृष्ण के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं जैसे वरुण द्वारा नन्द जी का अपहरण, सुदर्शन, शंखचूड़ तथा अरिष्टासुर के द्वारा कृष्ण को तंग करना। किसी भी परिस्थिति में कृष्ण हथियार नहीं डालते न ही समझौता करते। अपनी नीति पर अटल, अडिग हैं। कंस खुशी से राजकाज चला रहा था परन्तु देवेन्द्र प्रेरित नारद पुनः कंस के यहाँ आते हैं। कंस से कृष्ण के सम्बन्ध में उल्टी-सीधी बातें कहते हैं। कंस का दिल-दिमाग घूम जाता है वह पुनः देवकी तथा वसुदेव को बंदी बना लेता है। कृष्ण को धूर्ततापूर्वक अक्रूर जी के माध्यम से आमन्त्रित करता है। कृष्ण तथा बलराम मथुरा पहले पहल आते हैं। उस समय उनकी अवस्था लगभग पन्द्रह या सोलह वर्ष की होगी। कृष्ण द्वारा चाणूर, मुष्टिक के साथ कंस का भी वध होता है। वे कंस का राज्य उनके पिता अग्रसेन को लौटा देते हैं। इसके बाद ही जरासंध से इनका बैर होता है। जरासंध सरमुखत्यार प्रवृत्ति का महत्वाकांक्षी राजा था। पूर्वांचल के लगभग 80/82 छोटे-छोटे जनपदों पर उसका आधिपत्य था। जब कि महाभारत काल में भारतवर्ष में 223 या 225 जनपद थे।

कृष्ण लोकशाही को मानने वाले थे। इसी से सबसे पहले उनका प्रहार कंस पर ही हुआ। जिससे जरासंध का मोह भंग हुआ। जिससे जरासंध मथुरा पर बार-बार चढ़ाई करने लगा। जिससे मथुरा की जनता त्राहि-त्राहि करने लगी। अन्त में कृष्ण को वहाँ से भागना पड़ा। जरासंध महत्वाकांक्षी था। वह समस्त भारत में सरमुखत्यारशाही का शासन चाहता था। इसकी राजधानी राजगृह में थी। कंस का राज्य शौरसेन सैनी प्रदेश में था। तब लोकशाही शासन संस्था का भी पुरस्कर्ता एक मानव समूह था। उस मानव समूह के ही प्रतिनिधि हुए कृष्ण। जरासंध और हस्तिनापुर के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। चूँकि दोनों बराबर के राजा थे। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि जरासंध हस्तिनापुर से कुछ ज्यादा वज्रनदार था। कृष्ण, संघ राज्य के पोषक थे। कंस की हत्या के बाद निष्काम भाव से अग्रसेन को राज्य सौंप देते हैं। यहाँ से कृष्ण का पूरा जीवन ही बदल जाता है। श्रीकृष्ण अपने परिवारजनों के साथ पश्चिम सागर के तट पर जाकर वहाँ की कुशस्थली नाम की नगरी का पुनरोद्धार करते हैं। उसका नाम द्वारका रखते हैं। द्वारका का राजा भी अपने को नहीं अपितु अपने बड़े भाई बलराम को बनाते हैं। अपने आपको राज-काज से अलग ही रखते हैं।

कृष्ण की शादी

श्रीकृष्ण रुक्मिणी का हरण करते हैं। जिसके कारण शिशुपाल से बैर हो जाता है। रुक्मिणी से कृष्ण शादी करते हैं। इसके बाद स्यमन्तक मणि की खोज में ऋक्षराज जामवंत से भेंट होती है। ये भालू कैसे हो सकते हैं। ये शक्तिशाली राजा ही थे। ये रामावतार में भी हैं एवं कृष्णावतार में भी। यह कैसे सम्भव है? यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है, जनक, वशिष्ठ एवं विश्वामित्र की तरह जामवंत का भी नाम ही चलता रहा। सम्भवतः उस समय के जामवंत, वर्तमान जम्भू क्षेत्र के राजा हों। मैं जामवंत गुफा में कुछ दिन रुका हूँ। वहाँ के साधु महात्मा कहते हैं कि यहीं जामवंत जी रहते थे। यहीं कृष्ण से युद्ध हुआ था। वह तवी नदी के नजदीक बहुत ही दिव्य स्थान है। अभी वहाँ एकनाथ सम्प्रदाय के महात्मा रहते हैं। जामवंत जी ने शेर से वह मणि प्राप्त की थी। शेर सत्राजित के भाई से मणि प्राप्त किया था। वह मणि सप्रेम जामवंत जी अपनी पुत्री जाम्बवती के साथ कृष्ण को अर्पित कर देते हैं। उस समय कृष्ण और रुक्मिणी से प्रद्युम्न का जन्म हो गया था। सत्राजित को वह मणि अग्रसेन के सामने कृष्ण लौटाते हैं। जिससे सत्राजित लज्जित हो जाता है। उस लज्जा से बचने के लिए अपनी पुत्री को मणि के साथ देता है। कृष्ण उसकी पुत्री सत्यभामा को ग्रहण करते हैं। मणि लौटा देते हैं। इस शादी से शतधन्वा सत्राजित का दुश्मन हो जाता है। जब कृष्ण हस्तिनापुर जाते हैं पाण्डवों का सन्देश लेकर। तब शतधन्वा सत्राजित की अंकुर जी, कृतवर्मा के कहने में आकर हत्या कर देता है। मणि छीन लेता है। कृष्ण हस्तिनापुर से लौटकर शतधन्वा का वध कर देते हैं। इस तरह इस मणि को लेकर हत्या का सिलसिला जारी रहता है। इसके बाद कृष्ण के द्वारा और पाँच शादियाँ की जाती हैं।

कृष्ण पाण्डवों से मिलने हस्तिनापुर जाते हैं। अर्जुन के साथ यमुना के किनारे शिकार खेलते समय एक सुन्दर लड़की देखते हैं। कृष्ण अर्जुन को भेजकर पता लगाते हैं। वह कहती है मैं सूर्यपुत्री कालिन्दी हूँ। कृष्ण से शादी करने हेतु यहाँ तप कर रही हूँ। कृष्ण उसको अपने साथ ले आते हैं। पाँचवीं शादी अपनी बुआ राजाधिदेवी की लड़की से करते हैं जो उज्जैन की थी, उसका स्वयंवर में बलपूर्वक हरण कर लेते हैं। छठी शादी अयोध्या के राजा नग्नजित की लड़की नग्नजिती जिसे सत्या भी कहते हैं, से की। सातवीं भद्रा से जो कैकय देश में कृष्ण की बुआ श्रुतकीर्ति की लड़की थी, से शादी की। आठवीं शादी लक्ष्मणा से, जिसे भद्रप्रदेश के राजा के स्वयंवर से हरण कर लाये। इस प्रकार कृष्ण की आठ शादी सम्भव हैं। इसके बाद सोलह हजार एक सौ लड़कियों को नरकासुर जो

प्रागज्योतिपुर, वर्तमान असम प्रदेश में था, की जेल से छुड़ाकर लाये। मेरे विचार से कृष्ण ने स्वयं शादी की ऐसा नहीं लगता है। सम्भव है उन्होंने इन लड़कियों को यादवों में बाँट दिया हो। उनसे शादियाँ हो गयी हों। कृष्ण ने ये शादियाँ विलासिता की दृष्टि से नहीं की अपितु जो स्त्री कारणवश मिलती गयी वैसे-वैसे स्वीकार करते गये। द्रोपदी स्वयंवर में उनकी और पाण्डवों की भेंट हुई। दोनों में मैत्री हो गयी। तब से कृष्ण पाण्डवों के अभिन्न अंग से हो गये। पाण्डवों ने भी कृष्ण को पाकर अपने आप में प्राण का संचार महसूस किया।

महाभारत के पात्रों का काल

अभी कलि 5096 चल रहा है। कलि का आगमन युधिष्ठिर के राज्यकाल में ही हो गया था। ऐसा लगता है कि कृष्ण के गोलोक जाने के बाद युधिष्ठिर का संवत् शुरू हुआ था। युधिष्ठिर के राज्यारोहण के 36 वर्ष बाद कृष्ण गोलोक गये थे। महाभारत का युद्ध राज्यारोहण के एक माह पूर्व हुआ था। यह भी सत्य प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के समय समाज में अराजकता चरम सीमा पर बढ़ गयी थी, देव संस्कृति का बोल-बाला हो गया था। नारी जाति का अवमूल्यन हो गयी थी। विवाह संस्था टूट सी गयी थी। अनुगम, प्रतिलोभ, विलोभ विवाह के पूर्व सन्तान का होना, का अधिपत्य हो गया था। मानव संस्कृति बिगड़ गयी थी। पुरुष वर्ग का एक तरफ वर्चस्व बढ़ गया था। नारी भोग्य पदार्थ एवं सन्तान उत्पन्न करने की मशीन बन गयी थी। इन्हीं परिस्थितियों में महाभारत युद्ध हुआ। कुछ विद्वानों का कहना है कि कल्हण के अनुसार जब सप्तर्षि सम्वत् चल रहा था और उसके 653 वर्ष बीतने के बाद महाभारत हुआ था। खैर यदि आज कलि 5096 संवत् से 653 घटा ही दें तब 4443 वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध हुआ था। यानी लगभग 5000 वर्ष पूर्व का ही समय आता है।

पाण्डु की मृत्यु के 17 दिन पश्चात् पाण्डव हस्तिनापुर आते हैं। उस समय युधिष्ठिर की आयु 16-17 वर्ष, भीम की 16 वर्ष, पार्थ (अर्जुन) 15 वर्ष के हो गये थे। नकुल और सहदेव दोनों जुड़वां थे अतएव इनकी उम्र 14 वर्ष थी। इस तरह हम देखते हैं कि महाभारत के समय इन पात्रों की आयु निम्न प्रकार थी।

युधिष्ठिर	66 वर्ष,	भीम	65 वर्ष,	पार्थ	64 वर्ष
नकुल	63 वर्ष,	सहदेव	63 वर्ष		

कर्ण धर्मराज युधिष्ठिर से 8-9 वर्ष बड़े थे। चूँकि कर्ण शादी के पहले पैदा हुए थे। इस तरह कर्ण की आयु महाभारत के समय 74-75 वर्ष की थी। अब हम कृष्ण की आयु के सम्बन्ध में विचार करें। कृष्ण महाभारत के मुख्य पात्र

हैं। ये अर्जुन के समकक्ष थे या 6 माह बड़े या छोटे हो सकते हैं। जैसे फाल्गुन मास में अर्जुन का जन्म हुआ था। अतएव फाल्गुन प्रथम मान लेने पर कृष्ण अर्जुन से 6 माह छोटे हो जायेंगे परन्तु पुराणों का चिकित्सकीय ढंग से विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि कृष्ण के जन्म के बाद के फाल्गुन में अर्जुन का जन्म हुआ था। अतः कृष्ण की आयु उस समय 64 वर्ष 6 माह थी। महाभारत के बाद 36 वर्ष का कृष्ण का समय अज्ञात-सा है। पुराणकर्ता मौन हैं परन्तु मेरी समझ से कृष्ण ने इन्हीं 36 वर्षों में सामाजिक व्यवस्था की। भारत की उजड़ी हुई सभ्यता संस्कृति को स्थापित किया। पूरे 36 वर्ष का समय समग्र मानवता की सेवा में अर्पित कर दिया। अपने वंश में भी अनीति आने पर उन्हें भी नहीं छोड़ा। प्रभास पाटण में यादवों का भी नाश कर समग्र चेतना, पूर्ण गणराज्य, लोकशाही राज्य की स्थापना कर लगभग 110 वर्ष की अवस्था में गोलोक गमन किया। कृष्ण असाधारण व्यक्तित्व के राष्ट्र पुरुष थे। इस तरह का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास में प्रथम बार हुआ एवं अन्तिम भी। अपने आप में परिपूर्ण, हर समय हँसता हुआ कृष्ण। न चेहरे पर विषाद ने, पश्चाताप। हर समय नवीन नया मुस्कराता हुआ चेहरा। ये शक्ति से भी परिपूर्ण थे इसी से इनके बड़े भाई होते हैं बलराम अर्थात् बल जहाँ विश्राम करता हो। जो बल का स्रोत हो। ऊर्जा से जो परिपूर्ण हो या ऊर्जा जहाँ निवास करना चाहती हो या रहती हो वही है बलराम। अग्रज हैं कृष्ण के। अब कृष्ण उच्छृंखल नहीं हैं। चूँकि थोड़ा बल होने पर भी उद्वण्ड हो जाते हैं परन्तु वे प्रेम से लबालब हैं। प्रेम से ओत-प्रोत हैं। मानो उनसे प्रेम की निर्झर धारा निकल रही हो। वह निर्झर विशालधारा का रूप ग्रहण कर लेता है जिस प्रेम रूपी धारा में सभी गोप-गोपी डूबने लगते हैं। वही प्रेम रूपी धारा ही राधा है। इस तरह का व्यक्ति कैसे किसी का दुश्मन हो सकता है। वह तो अपनी प्रेम रूपी धारा में सभी को डुबो देना ही चाहेगा। वह सर्वमंगल की ही कामना करेगा। अब वह राष्ट्राध्यक्ष नहीं बन सकता, हाँ बना सकता है। अब प्रेमधारा रूपी राधा, कृष्ण की अनुगामिनी ही हो सकती है, इसी से कृष्ण के जीवन में अभिन्न रूप से राधा ही जुड़ी। तब कहलाये राधा-कृष्ण। चूँकि पहले प्रेम को उपलब्ध हो जाओ कृष्ण अपने आप उपलब्ध हो जायेगा। कृष्ण को उपलब्ध हुआ जा सकता है प्रेम से। राधा को उलट दें धारा हो जाता है। जब साधक के अन्दर से प्रेम की धारा फूट पड़ेगी तो वह अनायास ही अग्रसर हो जायेगी एवं पहुँच जायेगी कृष्ण के समीप। अब हो जायेगा राधा-कृष्ण।

दुर्योधन

ये महाभारत के मुख्य पात्रों में से एक हैं। या यह कहा जाये कि इनके बिना महाभारत ही असम्भव थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। महाभारतकार

इन्हें दुर्योधन शब्द से सम्बोधित करता है। जो मेरे विचार से उचित नहीं है। कोई भी माँ-बाप इस तरह का नाम अपने पुत्र को नहीं दे सकता। इनका नाम सुयोधन था। 'द' के प्रयोग के कारण इसका नाम कुरूप हो गया। महाभारत के अनुसार ये सौ भाई थे। ऐसा नहीं जँचता है। गान्धारी के सौ पुत्र हों, यह ठीक नहीं लगता। चूँकि गान्धारी की शादी पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हुई थी एवं एक औरत औसतन 40 या 45 वर्ष तक ही पुत्रोत्पन्न कर सकती है। इस तरह 25 या 30 वर्ष में सौ पुत्र कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। यह विषय शोध माँगता है। हाँ महाभारत में ग्यारह महारथी एवं एक बहन का वर्णन आया है। ऐसा सम्भव है कि ये ग्यारह भाई एवं एक बहन हों। इन्हीं भाइयों का परिवार सौ तक पहुँच गया हो। बहन का नाम भी इसी तरह बिगाड़ा गया है दुःशीला। क्या कोई माँ-बाप अपनी लड़की का नाम दुःशीला (दुष्ट चरित्र की, कुल्टा, शीलहीन) रख सकता है। यह बिल्कुल असम्भव है। पुराणों, महाभारत के पन्नों को उलटने पर एवं समीक्षक का दृष्टिकोण रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसके नामकरण से ही बेईमानी शुरू हो गयी है। जो उचित नहीं है। इसी तरह इसके एक भाई का नाम दुःशासन है जिसके जिम्मे शासन देखने की जिम्मेदारी थी। जो अच्छी तरह निभा रहा था। उसका नाम सुशासन था। हर पात्र के नाम के आगे 'द' का प्रयोग कर उसे कुपात्र बनाने की कोशिश की गयी है परन्तु कुपात्रता का कोई खास वर्णन नहीं मिलता है। हालाँकि गान्धारी के अलावा और लोगों के भी बहुत पुत्रों का वर्णन मिलता है। मेरे विचार से उसे परिवार ही समझना उचित है। जैसे सहस्त्रार्जुन के वंशज मधु के 100 पुत्र, आयु के पुत्र, रजि के 100, क्रोष्टु के वंशज, शशविहू की एक लाख स्त्रियाँ और दस लाख पुत्र, अजमेर के वंशज, नील के 100 पुत्र, अनुवंशी विकर्ण के 100 पुत्र। इतना ही नहीं स्वयं कृष्ण के 16108 स्त्रियाँ एवं 1 लाख 80 हजार पुत्र थे। इस तरह पुराणकारों ने तथ्य को अतिशयोक्ति रूप से सामने रखा है। हम भी लकीर के फकीर हो अक्षरशः सत्य मानते चले आ रहे हैं। अभी पूरे भारत की जनसंख्या लगभग 90 करोड़ है। उस समय यादवों की संख्या 56 करोड़ थी। वह भी केवल द्वारका में। द्वारका इतनी संख्या कैसे सहन कर सकती है। हाँ यह सम्भव है कि पूरे भारतवर्ष में यादवों की 56 शाखायें हों। ये 56 शाखायें पूरे भारत में फैली हों। संभव है महाभारतकार या बाद के अन्य लोगों ने महाभारत में बहुत से श्लोक घुसाये हों जिससे बहुत पात्रों का चरित्र अनचाहे बदसूरत हो गया है। दुर्योधन राजकुमार हैं। उसके समय में एक बार भी प्रजा विद्रोह नहीं करती। उसके साथ

चरित्र-हीनता, बहुपत्नी, नाम की चीज नहीं है। उसके पिता धृतराष्ट्र थे जो नियमतः राज्य के अधिकारी थे। परन्तु विदुर की कूटनीति के चलते राज्य से वंचित हुए एवं पाण्डु को राजा बनाया गया परन्तु भाग्य एवं प्रकृति के नियमानुसार पाण्डु के मरने के उपरान्त धृतराष्ट्र को स्वतः राज्य मिल जाता है। जो उन्हें पहले ही मिलना चाहिये था। उनका ज्येष्ठ पुत्र था सुयोधन। जो राजकुमार या युवराज का उत्तराधिकारी स्वतः था। राज्य का बँटवारा उचित नहीं है। अभी खालिस्तान या कश्मीर अलग होने को कहता है। क्या कोई भी प्रधानमन्त्री इसे अलग कर सकता है? क्या भारत अब अलगाववाद बर्दाश्त करने की स्थिति में है। भारत का बँटवारा एक तरह गांधी जी के जीवन की भूल है। जिसका परिणाम भारत की जनता अभी तक भोग रही है। आतंकवाद के रूप में। जिसके चलते भारत का विकास एक तरह से अवरुद्ध हो गया है। विकास या आतंकवाद का समाधान एक ही है वह है पाकिस्तान एवं बंगलादेश को आत्मसात करना। भारत कभी भी खण्डित रूप में सशक्त नहीं रहा है। खण्डित भारत का विकास कैसे सम्भव है?

सुयोधन भी इसी तरह देश का बँटवारा नहीं चाहता। न ही विदुर या भीष्म ही इस बँटवारे के लिए बाध्य करते हैं। दूसरी बात है पाण्डव क्षेत्रज थे। क्षेत्रज यानी माँ तो थी परन्तु पिता समाज के द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं थे। सभी भाइयों के पिता भिन्न-भिन्न थे। वह भी देवगण थे। सम्भवतः इसी कारण देव संस्कृति भारत भूमि पर प्रबल होती जा रही थी। कृष्ण जैसे व्यक्ति ने भी पहले तो इन्द्र का विरोध किया परन्तु पाण्डवों के चलते सम्भवतः देवेन्द्र से समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। खैर इस तरह भी पाण्डव स्वगोत्र, स्वकुल के नहीं थे। अतएव राज्याधिकारी नहीं थे। चूँकि महाभारत में आया है कि अर्जुन इन्द्र के पुत्र थे। कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए। इनके जन्मोत्सव में समस्त देवता, गन्धर्व, आदित्यों, रुद्रों का आगमन हुआ था। (आदि 68/111) प्रमुख अप्सरायें भी आयी थीं। उनका नृत्यगान भी हुआ था। (आदि 122/50-64) यह सब भारतीय संस्कृति के विरुद्ध था। इसी से भारतीय जनता पाण्डवों को राजा के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहती थी। सुयोधन ने कहीं भी नियमविरुद्ध युद्ध नहीं किया। नीतिगत युद्ध ही किया। साथ ही यदि किसी को जाति के नाम से नीच कहा गया तो उसका खुल कर विरोध भी किया है। जो सामाजिक दृष्टिकोण से न्यायोचित है जैसे कर्ण के सम्बन्ध में।

कर्ण

सभी विद्यार्थी विद्याध्ययन का कार्य पूरा कर चुके हैं। इसमें 13 वर्ष का समय लगा है। परीक्षा की तिथि निश्चित की जाती है, जगह का निर्धारण होता है। वह कहलाता है रंगभूमि। यह विद्यालय राज्य के द्वारा चलता था जिसमें सम्भवतः राजकुमार ही पढ़ते थे। कर्ण की आयु लगभग उस समय 38 वर्ष की थी। विद्यालय में दाखिले के समय कर्ण की आयु लगभग 26/27 वर्ष होती है। यह अंगप्रदेश के चन्द्रवंशी राजा अधिरथ द्वारा पालित था। कर्ण को औरस पुत्र के रूप में अधिरथ ने पाला था। कर्ण के बाद राधा से 6 लड़के हुए जो महाभारत में सुयोधन की तरफ से लड़ते हुए मारे गये। अधिरथ के द्वारा राजकुमारों के विद्यालय में दाखिला दिया गया। वह पढ़ते समय भी सुयोधन के साथ ही रहता था। द्रोणाचार्य पढ़ाते समय भी अपने पुत्र द्रौणी पर विशेष ख्याल रखते एवं एकान्त में अन्यो से भिन्न शिक्षा देते। इसके बाद अर्जुन का ख्याल रखते। अर्जुन से पहले ही गुरु दक्षिणा तय कर ली थी। शिक्षा प्राप्ति के बाद राजा द्रुपद को बंदी बनाना एवं अपना बदला लेना। द्रोणाचार्य ने ही कलह का बीज विद्यार्थियों के बीच बोया। सबको समान शिक्षा नहीं दी। शिक्षा में भेदभाव रखते। अपने पुत्र एवं अर्जुन का विशेष ख्याल रखते। यदि यह कहा जाये कि द्रोणाचार्य ने शिक्षा को दूषित किया तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी से गुरु जान समझकर करना चाहिये अन्यथा गुरु अमृत के बदले विष बेल ही रोप देगा तो समय पाकर वह विष बेल पूरी मानवता के लिए ही घातक होगी। वही द्रोण ने किया। केवल अपनी गुरु-दक्षिणा प्राप्ति के लिए, द्रुपद को बंदी बनाने के लिए, सभी विद्यार्थियों की विद्या में हलाहल भर दिया। एकलव्य का अँगूठा कटवा डाला तो कहीं कर्ण को जातिबोधक शब्द से अपमानित करने में नहीं चूके। सुयोधन के अन्दर भी बैर भाव इसी कारण बढ़ा। पूरे शिक्षा सत्र में द्रोण का भेदभाव मूलक दृष्टिकोण रहा है। द्रोण में शस्त्र विद्या बेचने के अलावा कोई गुण नहीं था। वह पुत्र मोह से भी बुरी तरह ग्रसित थे। उसे राजा बनाने की कामना लिए हुए थे। उसे अमर बनाने, अजेय बनाने के लिए कुछ कसर उठा नहीं रखते। ये हैं गुरु द्रोण। रंगभूमि में सभी विद्यार्थी अपनी-अपनी कला दिखाते एवं अपने स्थान पर जा बैठते हैं। अन्त में द्रोण अपने लाडले विद्यार्थी अर्जुन को भेजते हैं। अर्जुन रंगभूमि में अपनी कला-कौशल पेश करते हैं। चारों तरफ वाह-वाह हो जाती है। बाजे बजने लगते हैं। राज पुरुष प्रशंसा करने लगते हैं। महाभारतकार कर्ण को दरवाजे से पेश करता है। आखिर ऐसा क्यों? कर्ण कहता है पार्थ रुक जाओ! तुम जो भी

दिखाते हो, उसे मैं भी दिखा सकता हूँ। उससे आगे भी कुछ दिखाऊँगा। इतना कहकर कर्ण रंगभूमि की तरफ तेजी से आगे बढ़ता है। गुरु वन्दना कर अपनी शिक्षा का प्रदर्शन सभी के सामने करता है। सभी देखकर वाह-वाह करने लगे। मानो अर्जुन को भूल गये। जोड़ी बराबरी की छूटी। लेकिन कर्ण ने कहा हम दोनों द्वन्द्वयुद्ध करेंगे। तत्पश्चात् आप लोग निर्णय करें।

यह सुनकर द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य घबराये। दोनों आपस में साले-बहनोई ही थे। दोनों की उत्पत्ति भी दोना या कलश से एवं शरकंडों से हुई थी। आदमी प्रतिष्ठा मिलने पर 'स्व' का भान भूल जाता है। इस तरह द्रोण को लगा कि मेरा स्वप्न ही भंग हो गया। कर्ण अर्जुन को निश्चिन्त ही पछाड़ देगा। तब मेरी गुरु दक्षिणा का क्या होगा? इस तरह द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य उद्विग्न हो उठते हैं। द्रोणाचार्य राजपुरोहित कृपाचार्य के माध्यम से कहलवाते हैं हे कर्ण! तुम्हारी जाति क्या है? तुम्हारे माता-पिता का नाम क्या है? तुम्हारी किस खानदान में उत्पत्ति है। क्या तुम नहीं जानते अर्जुन कुन्ती पुत्र एवं श्रेष्ठ वंशोत्पन्न पाण्डु का वंशज है? क्या तुम यह नहीं जानते अर्जुन राजकुमार है। राजकुमार, राजकुमार से ही द्वंद्व युद्ध कर सकता है। नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति से अर्जुन कैसे द्वन्द्व कर सकता है? द्रोण भी अपने कटु जाति बोधक शब्दों के बाण से कर्ण को बेधित कर देते हैं। कर्ण इन गुरुओं के बाण से घायल हो मौन हो जाता है। कोई भी राजपुरुष नहीं बोल पाता है। जबकि भीष्म पितामह, विदुर, कुन्ती, धृतराष्ट्र, नारद, कर्ण के जन्म एवं पालन-पोषण के सम्बन्ध में जानते थे। अंग देश का राजा अधिरथ धृतराष्ट्र को अपने लाड़ले पुत्र कर्ण को विद्यालय में दाखिला एवं विद्या अध्ययन हेतु सौंपकर गया था। उस विद्यालय में दाखिला धृतराष्ट्र के द्वारा ही कराया गया था। ये सब देखकर कर्ण किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है उसका कवच कुण्डल युक्त शरीर तेजहीन प्रतीत होने लगता है। इन परिस्थितियों में सुयोधन का रंगभूमि में अवतरण होता है। सुयोधन झट नियमानुसार कर्ण को अंग देश का राजा नियुक्त कर देता है। अपना राजमुकुट कर्ण के माथे पर रख देता है एवं मित्र कहकर उसे सम्मान देता है तथा गुरुजन से प्रश्न पूछता है कि जिसके पास छत्र हो, तेज हो, ऊर्जा हो, वही क्षत्रिय है। क्षत्रिय कोई जन्म से नहीं हो सकता। यदि जन्म से ही होता तो द्रोणाचार्य, कृपाचार्य अपनी उत्पत्ति तो बतायें? ये पाँचों पाण्डव क्या क्षेत्रज नहीं हैं। आखिर क्यों कर्ण को आप नीचा दिखा रहे हो। जाति पूछनी ही है तो पूछो इसके कवच, कुण्डल, दीप्त ललाट से, धनुष बाणयुक्त वज्र हाथ से, या अर्जुन के साथ द्वन्द्व युद्ध से। क्या मैं आप लोगों से पूछ सकता हूँ नदियों का उद्गम, महापुरुषों का जन्म एवं गुरुजनों का

उद्भव ठीक से पता लगाया जा सकता है। यदि कष्ट साध्य ढंग से पता भी लगा लें तो क्या अन्तर पड़ता है, गंगा की शीतलता में? क्या अन्तर पड़ता है कालिन्दी के ब्रह्मत्व में? क्या अन्तर पड़ता है वेद व्यास के बुद्धित्व में? इस तरह से सुयोधन शास्त्रोक्त ढंग से अपनी व्याख्या आगे बढ़ाता है एवं कर्ण को सम्मानित करता है।

“स कुण्डल स कवचं लक्षण लक्षितम् ।
कथमादिव्य सदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति॥
पृथिवी राज्यमहोयं नाडूं राज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहु वीर्येण मया चा ज्ञानु वर्तिना॥”
महाभारत आदि 131

(सातवलेकर)।

अर्थात् समस्त शुभ लक्षणों से तथा कवच कुण्डलों से सुशोभित सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण किसी हीन जाति की स्त्री का पुत्र कैसे हो सकता है? क्या कोई मृगी अपने गर्भ से व्याघ्र पैदा कर सकती है? पुनश्च :

“क्षत्रियाणांबलं ज्येष्ठं योद्धयं क्षत्र बंधुवा ।
शूरणंथ नदीनाञ्च दुर्विदाः प्रभावा किला॥”

क्षत्रियों में बल की प्रधानता होती है। बलवान होने पर क्षत्र-बंधु से भी युद्ध करना चाहिये, शूरवीर और नदियों की उत्पत्ति के वास्तविक रूप (स्थान) को जान लेना अत्यन्त कठिन है। पुनश्च:

“सलिलादुत्थितो बहिर्येन व्याप्त चराचरम् ।
दधीचस्या स्थितो वज्रं कृत दानव सूदनम्॥
आग्नेयः कृतिका पुत्रो रौद्रो गांगेय इत्यादि ।
श्रूयते भगवान देवः सर्व गुहल मयो गृहः॥
क्षत्रियोभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणस्ये च ते श्रुतः ।
विश्वमित्र प्रभृतयः प्राप्त ब्रह्मत्व मव्ययम्॥
आचार्य कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्र भृतांवरः ।
गौतम स्मान्वये च शरस्तम्बाच्च गौतमा॥”

(आदि 138-2-15 सात.)

अर्थात् जिसने चराचर जगत् को व्याप्त कर रखा है, वह तेजस्वी अग्निजल से उत्पन्न हुआ है। दानवों का संहार करने वाला वज्र, दधीचि की हड्डियों से तैयार किया गया है। सुना जाता है, सर्वगुहल स्वरूप भगवान स्कन्धदेव, अग्नि, कृतिका, रूद्र तथा गंगा इनके सबके पुत्र हैं। कितने ही ब्राह्मण क्षत्रिय से उत्पन्न हुए उनका

नाम तुमने सुना ही होगा तथा विश्वमित्र आदि क्षत्रिय को भी ब्राह्मणत्व प्राप्त हो चुका है।

शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण का जन्म कलश से हुआ है। महर्षि गौतम के कुल में कृपाचार्य की उत्पत्ति शरकंडों के समूह में हुई है पुनः पाण्डवों को लक्ष्य करके सुयोधन कहता है

“भवताम् च यथा जन्म तदप्या गमितयां।”

(आदि 136)

तुम सब भाइयों का जन्म किस तरह हुआ है वह मुझे अच्छी तरह मालूम है। उधर कुन्ती कर्ण को कवच कुण्डल युक्त देखकर पहचान लेती है परन्तु लोक-लज्जा के भय से कुछ कह नहीं पाती एवं अपने ही पुत्र को भरी सभा में अपने ही पुत्रों द्वारा अपमानित देख विक्षिप्त हो जाती है। इससे कर्ण की स्थिति का सहज पता लगाया जा सकता है।

भाई के रूप में सुयोधन असफल

राजा के रूप में दुर्योधन गंभीर, प्रजापालक, नीति नियामक है। वहीं भाई के रूप में असहिष्णु प्रतीत होता है। जैसे राजा राम कुछ और हैं और लक्ष्मण के वियोग में विलाप करते हुए भाई राम कुछ और। सुयोधन राजा के रूप में जहाँ सफल है वहीं भाई के रूप में असफल। भ्रातृत्व प्रेम, स्नेह इसमें नाममात्र भी नहीं है। हालाँकि भाई-भाई में कटुता का बीज बो देने में द्रोणाचार्य की अहम् भूमिका रही है। अतएव सुयोधन एक तरफ राज्याकाँक्षी है तो दूसरी तरफ साम्राज्य विस्तारवादी। उसकी इस नीति के बीच में जो भी पड़ता है उसे समाप्त कर देना चाहता है। इसी का परिणाम है कि अपने चचेरे भाइयों को साथ-साथ नहीं रख सका। उन्हें समाप्त कर देने के लिए कभी शकुनि का सहारा ले धूर्तबुद्धि से जुआ खेलता है तो कभी द्रोपदी का चीरहरण कर सम्पूर्ण नारीत्व पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। कभी लाक्षागृह में आग लगाकर पाण्डवों को समाप्त कर देना चाहता है। दुर्वासा को बनवास के समय पाण्डवों के यहाँ भेज कर श्रापित कराना चाहता है तो कभी कर्ण वगैरह साथियों के सहयोग से मार डालना चाहता है। यह सब साम्राज्यवादी महत्वाकाँक्षी व्यक्तित्व का चिह्न है। जहाँ भ्रातृत्व प्रेम कुण्ठित है, सिसक रहा है। यदि दुर्योधन में भाई के प्रति थोड़ा भी स्नेह प्रेम होता तो सम्भवतः महाभारत रूपी विभीषिका का सामना नहीं करना पड़ता।

वहीं धर्मराज युधिष्ठिर के हृदय में जैसे पाण्डवों के प्रति अथाह प्रेम है वैसे ही कौरवों के प्रति भी है। सुयोधन की किसी भी स्थिति में किसी अन्य व्यक्ति

से निन्दा सुनना पसन्द नहीं करते उसे भी अपने अभिन्न सहोदर भाई की तरह समझते। जैसा कि महाभारत में एक प्रमाण मिलता है कि दुर्योधन को बाँधकर यक्षगण अपने नगर को भेज रहे थे जिसे भीम ने देखा एवं प्रसन्न हो युधिष्ठिर को बताया। धर्मराज युधिष्ठिर भाई के प्रेम में अत्यन्त विह्वल हो जाते हैं एवं भीम को डाँटते हुए कहते हैं कि भाई सुयोधन को कोई पकड़ कर ले जाये यह उचित नहीं है। अर्जुन को तुरन्त आदेश देते हैं कि दौड़ो एवं सुयोधन को यक्षों से छुड़ाकर शीघ्र लाओ। अर्जुन अपने बड़े भाई से कोई तर्क-वितर्क नहीं करते, आदेश का पालन शीघ्र करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पाण्डव क्षेत्रज होते हुए भी कुन्ती के माध्यम से कृष्ण के भक्त हुए। चूँकि कुन्ती वसुदेव की बड़ी बहन है और इस नाते कृष्ण की बुआ हुई। इस तरह बहुत सारे गुण पाण्डवों को केशव से स्वतः मिल जाते हैं। केशव को ऐसे ही सुपात्रों की खोज थी जो लड़ाई लड़े, “स्व” के लिए नहीं “पर” के लिए। जिसका उद्देश्य राज्यशाही न होकर लोकशाही हो, एक ऐसे लोकशाही की कल्पना भी कृष्ण के मन में थी जिसका राजा स्वयं धर्म हो। उस राजा पर नियन्त्रण प्रजा का हो। जिसमें **“सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः”** हो।

इन परिस्थितियों में कृष्ण ने पंच तत्वों का प्रतिनिधित्व कर रहे पाण्डवों को चुना। इन पाँचों की पत्नी द्रौपदी स्वयं प्रकृति का प्रतिनिधित्व कर रही थी। ये पुरुष और प्रकृति को लेकर नारायण का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। कृष्ण समग्र मानवता में चेतना का सन्देश देने हेतु पाँचों कर्मन्द्रियों से हुँकार करते हैं जो हो जाता है पाञ्चजन्यशंख। कृष्ण अपने महान् निष्काम कर्म की तरफ अग्रसरित हो जाते हैं। अभिमान, अहंकार, लोभ, मोह, काम, क्रोध, प्रत्यक्ष आकर कृष्ण के सामने अवरोध पैदा करना चाहते हैं जिन अवरोधों को कृष्ण अपनी निष्कामरूपी योगशक्ति से छिन्न-भिन्न कर देते हैं। कहीं चमचमाते हुए, जगमगाते हुए शत्रु दल पर भारी पड़ते हैं। जो तुरन्त कृष्ण के संकल्प को पूरा करने में सहायक होता है। वही हो जाता है चक्र सुदर्शन। इस तरह कृष्ण युगों से व्यथित, वांछित मानवता को अट्टारह दिन में ही मुक्त कर देते हैं। ये पाण्डव कृष्ण की छत्र-छाया में महाभारत का शासन सँभालते हैं। इसमें सभी को समान अधिकार एवं अवसर प्राप्त होता है। कृष्ण का निष्काम योग अर्जुन एवं धर्मराज के माध्यम से इस धराधाम पर निःसरित होता है।

आइए, अब हम देखें आखिर निष्काम योग है क्या?

एक बच्चा दौड़ रहा है। उसकी माँ पकड़कर पूछती है बेटा क्यों दौड़ रहा है। बेटे के पास कोई उत्तर नहीं है। वह दौड़ना जानता है। उस बच्चे के पास

न उस दौड़ का उद्देश्य है न ही किसी प्रकार के फल की कामना। वह मात्र दौड़ना जानता है। उस बच्चे का दौड़ना निष्काम दौड़ हुई। जब कोई व्यक्ति समग्र की सेवा में बिना फल के आकांक्षा में जुट जाता है तो यह हो जाती है निष्काम सेवा। जब साधक अपनी समग्र चित्तवृत्तियों को, समग्र चेतनता को उस अनन्त से जोड़ लेता है तब उस अनन्त का ही फैलाव उसके चारों तरफ हो जाता है। तब साधक अनुभव करता है कि हम ही बच्चे के रूप में हँसते हैं, फूल के रूप में मुस्कुराते हैं, पत्ती के रूप में हिलते हैं, पशु के रूप में दौड़ते हैं, कीड़े के रूप में रेंगते हैं। करुणावश साधक जो कुछ करता है। अनन्त के द्वारा अनन्त के लिए करता है। यही निष्काम योग है। इसमें न कोई कामना है, न कोई याचना। जो कुछ हो रहा है, परमपिता परमात्मा के द्वारा हो रहा है, परमपिता परमात्मा के लिए हो रहा है। यही है कृष्ण का निष्काम योग।

सांख्य एवं योग

श्री कृष्ण कहते हैं

“लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम्॥”

हे निष्ठाप अर्जुन “इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है ज्ञानियों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्काम कर्मयोग से।”

कृष्ण यहाँ अर्जुन को निष्ठाप कहकर सम्बोधित करते हैं। ऐसा क्यों? हमारे यहाँ एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। गंगा स्नान कर लो सारे पाप धुल जायेंगे। क्या गंगा में पाप धोने वाला कोई रसायन है? कोई-वैज्ञानिक मानने पर तैयार नहीं होगा। ब्रह्मिनाथ का दर्शन कर लो, मुक्त हो जाओगे। इसमें वैज्ञानिक तथ्य हो या नहीं परन्तु मनोवैज्ञानिक तथ्य अवश्य है। जब आदमी गंगा स्नान करता है, पूरे मन से भावना से करता है कि मेरा सारा पाप धुल रहा है। मैं निष्ठाप हो रहा हूँ। स्नान के बाद क्षणभर के लिए अब वह पहले वाला व्यक्ति नहीं रहता। वह बदला हुआ रहता है। उस क्षण उससे कोई पाप कर्म सम्भव नहीं है। इसी से सारे तीर्थों के बाद ब्रह्मिनाथ का ही तीर्थ करने को कहा गया है जिससे साधक सब तीर्थों में स्नान करते-करते पूजा करते-करते समग्र रूपेण भावना बना लेता है कि अब मैं निष्ठाप हो गया। सारे पाप धुल गये। ब्रह्मिनाथ के तप्त कुण्ड में बचे-खुचे संस्कार भी जल गये। अब मैं जीते जी मुक्त हो गया। अब हमसे हिंसा नहीं होगी। अब हमसे समाज विरोधी कार्य नहीं होगा। ब्रह्मिनाथ से वापस लौटा व्यक्ति वह नहीं होता जो पहले था। यदि पहले जैसा ही लौटा है तो ब्रह्मिनाथ का दर्शन ठीक से नहीं किया। तप्त कुण्ड में ठीक से स्नान नहीं किया।

अलकनन्दा का ठीक से आलिंगन नहीं किया। हो सकता है वह ठीक-ठाक, घर से ही नहीं गया हो। हो सकता है यों ही चला गया हो बिना महत्व समझे। बिना भावना के। अतः भावना की प्रबलता की आवश्यकता है। जो व्यक्ति ठीक से ब्रह्मिनाथ का दर्शन करे, तप्त कुण्ड में स्नान करे। अलकनन्दा के शीतल जल में स्नान करे और मन शीतल न हो। यह कैसे सम्भव है? जरूर कुछ खोट रह गया होगा स्नान करने, दर्शन करने में। इसी भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुए ईसा ने कहा है तुम अपने पापों को स्वीकार कर लो, तुम सारे पाप से मुक्त हो जाओगे। मन से स्वीकार करने की बात है। अक्सर व्यक्ति पाप को छिपाते हैं। इसी का अनुकरण कोर्ट-कचहरी में किया गया है कटघरे में कहलवाया जाता है तीन बार जो कुछ मैं कहूँगा वह सत्य कहूँगा, सत्य के सिवाय कुछ नहीं कहूँगा। जितने बार दोहराया जाये। वह उतना ही गहरा होता जाता है। सत्य अपने-आप ऊपर आ जाता है। अतएव शुरू-शुरू में अधिकतर न्यायालय गंगा के किनारे या किसी नदी के किनारे बसाये गये।

इसी से कृष्ण अर्जुन को निष्ठाप कहते हैं। इसके पहले नहीं कहते हैं। सम्भवतः अर्जुन की भावना निष्ठाप हो गयी है। सम्भव है जमुना स्नान कर गया हो। गुरु रूपी कृष्ण, अर्जुन को उस क्षण पकड़ कर अपना तंत्र देना उचित समझता है। गुरु ठीक समय के इन्तजार में रहता है। ठीक समय ठीक या उचित स्थान, उचित पात्र मिलने पर गुरु चूकता नहीं। अतएव गुरु तंत्रोक्त विधि दे ही डालता है। अब और अधिक इन्तजार नहीं करता। हो सकता है शिष्य का प्रश्न अभी बाकी हो, हो सकता है उचित समय आने पर ही शिष्य पीछा छोड़ना चाहता हो। जैसे अर्जुन। बार-बार प्रश्न किये जा रहा है। सोचता है किसी तरह पिण्ड छूट जाये परन्तु गुरु कसते जाता है। अब छोड़ने को राजी नहीं होता। कहता है पूछ लो अभी ही, जितना तुझे पूछना है। आगे कहते हैं दो ही निष्ठा हैं एक ज्ञान की, दूसरी कर्म की। एक सांख्य की दूसरी योग की। दुनिया के सारे दर्शन के दो ही रूप हैं। एक ज्ञान को उपलब्ध हो जाओ। दूसरा कर्म को। योग युक्त हो कर्म को उपलब्ध हो जाओ।

स्वभाव में स्थित होना या निष्काम को उपलब्ध होना

“नकर्मणामनारभ्यान्नैष्कर्म्यं पुरुषो ज्ञुते।

न च सन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥”

मनुष्य न तो कर्मों को करने से निष्कामता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से भगवत् साक्षात्कार रूप सिद्धि को प्राप्त होता है।

कृष्ण ने बहुत ही विद्रोही एवं क्रान्तिकारी शब्द कहे हैं। इन शब्दों से शिव तंत्र ●

तथाकथित त्यागी, महात्यागी को सबक लेना चाहिये। अक्सर हम कर्म के न करने को ही निष्कर्म समझते हैं। निष्क्रियता को ही निष्कर्ष समझते हैं। तथाकथित साधु-महात्मा चुपचाप काम के भय से मन्दिर में बैठ जाते हैं। कहते हैं मैं निष्कर्म को उपलब्ध हो गया। पुनः उन्हें भूख सताती है तो कहते हैं दान दो। क्या दान देना कर्म नहीं है या दान लेना कर्म नहीं है। यह बिल्कुल ढोंग के सिवाय कुछ और नहीं है। यदि यही निष्कर्ष होता तो आलसी सबसे पहले निष्कर्ष को उपलब्ध होते। मुर्दे, पत्थर भी निष्कर्म को उपलब्ध हो, परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते। निष्कर्ष वह है जहाँ भीतर करने वाला “मैं” मौजूद नहीं है। निष्कर्म कर्म का अभाव नहीं कर्तापन का अभाव है। यदि तू पकड़े रहे कि “मैं” कर रहा हूँ तो कर्म से भाग भी जाये तो भागना भी तेरा कर्म बन जाता है। जब यह ज्ञात हो जाये कि मेरे करने का कोई सवाल ही नहीं, परमात्मा कर रहा है। जो है “वह” कर रहा है। सारा व्यक्तित्व ही वह रहा है। जहाँ “मैं” हवा में हिलते हुए एक तिनके की तरह हूँ। जहाँ मैं डोल ही नहीं रहा। हवा डोल रही है। वही डोला रही है। अब “मैं” नहीं-वही निष्कर्म है।

अब कर्म चलता है। कर्ता चला जाता है। इसी से कृष्ण कहते हैं हे अर्जुन। जिन्हें तू सोचता है कि तू मारेगा, मैं तुझे कहता हूँ कि वे पहले ही मारे जा चुके हैं। तू तो निमित्तमात्र है। वे तो तेरे बिना भी मरेंगे। कृष्ण एक नया द्वार खोलते हैं। कहते हैं कर्म जारी रखो, कर्ता भाव से मुक्त हो जाओ। कर्तापन से मुक्त होना ही निष्कर्म की उपलब्धता है। पुनश्च:

**“श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥”**

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है। यह सूत्र अत्यन्त महत्व का है। यदि इस सूत्र को ठीक से समझ लें तो आगे का रास्ता सहज हो जाता है। हम इस सूत्र को भी समझते नहीं, गाये चले जाते हैं, अन्धे की तरह। इस सूत्र में हमें समझना है स्वधर्म क्या है? परधर्म क्या है? धर्म क्या है? स्वधर्म स्वभाव, प्रकृति, अन्तः प्रकृति। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अलग-अलग होता है। पिता-पुत्र का स्वभाव, पति-पत्नी का स्वभाव कभी एक नहीं होता और कभी भी ये अपना स्वभाव समझने की कोशिश भी नहीं करते, इसी से गृह रूपी आश्रम कलह का आश्रय बन जाता है। स्वभाव को जानने के लिए अन्तर्मुखी होना पड़ता है। जो अत्यन्त कठिन होता है। जब तक बीज अपने-आप में बन्द है, बेचैन है। जब वह बीज अंकुरित

होता है, वृक्ष के रूप में ऊपर उठने लगता है। एक दिन वृक्ष बन फूल ग्रहण करता है। मुस्कुराता है, सुगन्ध बिखेरता है, परमात्मा के चरणों में अपनी समग्रता को अर्पित कर देता है। इस प्रक्रिया में इसे टूटना पड़ता है। अनजान रास्ते की तरफ पैर बढ़ाना पड़ता है। यही है स्वधर्म। परधर्म-दूसरे का धर्म। कहीं बुद्ध ने तप कर लिया है। महावीर ध्यानस्थ हो लिया है। नानक एकाग्र हो गया है। हम उसका अनुसरण करते जा रहे हैं। बुद्ध की तरह आसन पर बैठ जाते हैं। नकल कर लेते हैं। आँख बन्द कर लेते हैं। कपड़ा पहन लेते हैं। जब कृष्ण के मन्दिर जाते हैं तो कृष्ण के मन्दिर के बाहर बाँसुरी बिक रही होती है। हम भी खरीद लेते हैं। होठों पर रख धुन निकाल लेते हैं। पीताम्बर ओढ़ लेते हैं। कृष्ण होने की कल्पना कर लेते हैं। हम अपने अन्दर जाने का कतई प्रयास नहीं करते। नकल करना चाहते हैं। टू कॉपी बनना चाहते हैं। कार्बन कॉपी बनना चाहते हैं। अभी-अभी मैं हिमालय पर गया था। देखा गुरुगोविन्दसिंह ने हेमकुण्ड पर तप किया था। तप लायक जगह अच्छी थी। जिसे उनके तथाकथित अनुयायियों ने बर्बाद कर दिया। वे महीनों समय बर्बाद कर वहाँ जाते हैं। बस माथा टेकते हैं, भाग चले आते हैं वहाँ से। अन्यथा कुछ हो जायेगा। रास्ते में एक औरत रोती हुई मिली, मैंने उससे पूछा क्यों रो रही हो बहन, वह बोली मैं लुट गई। देखो स्वामी जी हमारे पति हेमकुण्ड साहब से लौटते ही खून फेंक कर मर गये। छोटा लड़का है। कौन देखेगा? मैं पूछा क्यों आयी थीं तुम यहाँ? वह बोली कि माथा टेकने से पुण्य मिलता है। मैंने कहा उसी पुण्य का प्रभाव है वह यहीं रह गये। लाश तुम को दे दिए। वह हिम से आच्छादित जगह है। वहाँ भी जनरेटर चलाकर कोलाहल पैदा कर दिया। धुँआं कर प्रदूषण कर दिया। शायद कसम खा ली है कि आप किसी दूसरे को तप नहीं करने देंगे या अब दूसरे को करने की जरूरत ही नहीं। यही स्थिति बद्रीनाथ, व्यासगुफा, केदार नाथ की भी है। जहाँ अब तप नहीं कर सकते। दर्शन कर सकते हैं। दूसरे का धर्म समझ कर। दूसरे में बचाव है। सिक्कुरिटी है। भय रहित है। मन्दिर में शास्त्र पढ़ा जा रहा है। घण्टी बज रही है। भोग लग रहा है। भय नहीं है। सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध है। यहीं परधर्म है जो कृष्ण कहते हैं अत्यन्त ही भयावह है। यह वैसे ही है जैसे गुलाब चाहे कि मैं कमल की तरह खिल जाऊँ। कमल चाहे कि मैं गुलाब की तरह। उसी प्रयास में पूरी ऊर्जा का नाश कर दे। खिल तो सकता नहीं। खिलने के पहले ही चल दे। परधर्म, धर्म तक तो नहीं पहुँचा सकता परन्तु अधर्म में अवश्य ला पटकेंगा। स्वधर्म एक दिन धर्म में ला खड़ा करेगा। जहाँ तुम जो हो वही, उसी तरह खिल जाओगे। हँसोगे, खुले आकाश में। इसी से कृष्ण कहते

हैं हे अर्जुन जो तेरा धर्म है, उसे पहचानो। तू जो हो सकता है वही होने का निर्णय कर ले। तब उसी होने में लग जाना। तब कहीं तुम अपने मुकाम पर पहुँच सकते हो। परन्तु उस मुकाम का तब तक पता नहीं चलता जब तक फूल खिल नहीं जाता। पता नहीं चलता। परन्तु इस यात्रा पर मर जाना ही श्रेयस्कर है। चलो फिर जन्म लेंगे। अब यहाँ से आगे की यात्रा तो प्रारम्भ होगी।

परधर्म अत्यन्त भयावह है परन्तु दूर से वही लुभाता है क्योंकि वह खिला हुआ दिखाई देता है। उसके पीछे सैकड़ों लोगों की लम्बी कतार है। केवल बाहर से ही वेद मन्त्र पढ़ लेना है, गुरुवाणी पढ़ लेना है। यदि स्वयं नहीं पढ़ना आता तो भी काम चलेगा। वहाँ पढ़ने वाला भी पहले से बैठा है। धर्म की चादर ओढ़ रखी है। मात्र तुझे जाना है। कुछ चढ़ावा चढ़ाना है। वह मन्त्र पढ़ देगा। जैसे बीज किसी वृक्ष का हो, डाली किसी वृक्ष की उसके ऊपर आरोपित कर दी जाये। आम का बीज हो। पुजारी उसके सिर पर बबूल की डाली रख दे। कह दे जाओ तुम से डाली निकल आयी। अब बीज को भी कौतुहल होने लगता है। क्या यही हमारी डाली है। हाँ प्रमाण तो है। पुजारी कह रहा है, शास्त्र कह रहा है तुझे टूटने की, सड़ने की कोई जरूरत नहीं। एकाएक डाली उग गयी। यही है परधर्म। जो बाहर से ठीक जँचता है। सब जाना-पहचाना लगता है। कोई खतरा नहीं। प्रमाण-पत्र भी मिल जाता है। हाँ तू धार्मिक है।

स्वधर्म में भटकाव है। गुरु इंगित कर सकता है। इशारा कर सकता है। देखो पर्वत के ऊपर चन्द्रमा है अब पर्वत के ऊपर देखना तुम्हारा कर्तव्य है। हालांकि पर्वत के ऊपर चन्द्रमा नहीं है। ऊपर देखो चन्द्रमा दिख जायेगा। परन्तु पर्वत की ऊँचाई देखने में भय लगता है। खतरे का एहसास होता है। अतएव पर्वत की पूजा कर लेना माथा टेक लेना ही उचित जँचता है। यही कारण है कि जिन महापुरुषों ने इशारा किया देखो ऊपर। अब ऊपर देखने की हिम्मत नहीं रही। अतः उसी की पूजा-अर्चना शुरू हो गयी। हम नई-नई दुकानें उनके नाम पर खोलते गये। अब दुकानदार बन ठीक से बेचने में फँस गये। अब अपनी-अपनी दुकान के लिए खून के प्यासे भी बनते गये। आदमी को आनन्द उसी दिन मिल सकता है। जिस दिन उसके अन्दर का फूल खिल जाता है। तब वह कह पाता है कि प्रभु तेरी अनुकम्पा है, धन्यभागी हूँ कि तूने पृथ्वी पर भेजा है। अन्यथा हम जीवन भर कहते हैं मेरे साथ अन्याय हुआ है। मुझे तूने क्यों भेजा। अब मैं देख रहा हूँ कृष्ण का बाँसुरी बजाना, नाचना, तो कहीं बुद्ध की परम शान्ति, तो कहीं दुःख से, पीड़ा से भरे परधर्म में बढ़ते जन-समूह। इसी से कृष्ण कहते हैं स्वधर्म में मर जाना श्रेयस्कर है। स्वधर्म, परधर्म के विपरीत

है। एवं धर्म-अधर्म के विपरीत। अतएव परधर्म से स्वधर्म की यात्रा की जा सकती है। यदि सजग प्रहरी गुरु मिले तब स्वधर्म से धर्म तक की यात्रा की जाती है। अतएव जो व्यक्ति स्वधर्म से यात्रा प्रारम्भ करेगा वह धर्म को उपलब्ध हो ही जायेगा। जो व्यक्ति परधर्म नहीं छोड़ेगा वह अधर्म को अवश्य ही उपलब्ध हो जायेगा। यही कारण है कि तथाकथित पुजारी, महंत, धर्माधिकारी आज तक धर्म को उपलब्ध नहीं हुए। इन्हीं के चलते पृथ्वी कुरूप होती जा रही है। मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों के भार से पृथ्वी दबती जा रही है।

जब व्यक्ति को आनन्द की, धर्म की खोज होती है तो भागता है अकेले पर्वत पर, गुफा में, जंगल में। आनन्द को, धर्म को अकेले उपलब्ध हुआ जा सकता है। परन्तु परधर्म को दो के साथ। अधर्म अकेले नहीं, इसमें दो की जरूरत होती है वासना में काम में क्रोध में दो की जरूरत होती है। बिना दो के सम्भव ही नहीं है। धर्म नितान्त अकेला है। आनन्द नितान्त अकेला है। अपने-आप अपने अन्दर से निःसरित होता है। अधर्म में सदा ही दूसरे के द्वारा पहुँचते हैं। अधर्म तक जाने में परधर्म सहयोगी है परन्तु धर्म तक जाने में स्वधर्म। इसी से धर्म तक जाने वाला आदमी एकान्त में चला जाता है। जहाँ दूसरा तो क्या दूसरे का चित्र भी न हो। इसी से बुद्ध जंगल में तो महावीर पहाड़ पर, मुहम्मद भी पहाड़ पर, मूसा साइनाई के पर्वत पर खो जाते हैं। धर्म खोजी चुपचाप दूसरे से हट जाता है। कृष्ण का यह सूत्र अत्यन्त ही महत्व का है। यदि इसे ही ठीक से समझ लिया जाये तो आगे की समझ अत्यन्त सीधी, सरल हो जाती है।

समय-समय पर गीता की व्याख्या

“यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा त्ानं सृजाभ्यहम्॥”

कृष्ण जहाँ तृतीय, अध्याय में निष्काम योग समझा रहे हैं वही चतुर्थ अध्याय में कह रहे हैं हे अर्जुन! जब-जब इस धरती पर अधर्म का राज्य होता है तब-तब मैं आकर अधर्म का नाश करता हूँ एवं धर्म को ऊपर उठाता हूँ। धर्म का नये ढंग से सृजन करता हूँ। अब आप कहेंगे कि कृष्ण तो एक बार ही आये। पाँच हजार वर्ष बीत गये फिर कहाँ आये। कृष्ण का यह श्लोक झूठा है? यह झूठा नहीं बल्कि आप बाहरी स्वरूप से पहचानने के आदी हो गए हैं कि कृष्ण मुस्ली लेकर ही आयेगा। हाथ में चक्र-सुदर्शन लेकर साथ में राधा के साथ ही आयेगा। जबकि वह जब आएगा तो साथ-साथ घूमेगा, साथ-साथ सोयेगा। साथ-साथ गीता की नये ढंग से व्याख्या करेगा। आप नहीं समझ पायेंगे, चूँकि आप विद्वान

हैं। उनकी व्याख्या अपने ढंग से आपने कर ली है उसे पहचानने की क्षमता भी नहीं है। परन्तु कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह गीता शाश्वत् रहेगी। समय-समय पर नये ढंग से धर्म की व्याख्या मैं कर दूँगा। गीता की व्याख्या कर दूँगा। गीता यानी जो गाया जाये, ऐसा गीत। यह अन्तःपुर से पढ़ा जाता है बाह्यपुर से नहीं। गाने के लिए अन्तर्मुखी होना पड़ता है। इसी से इसे गीता कहते हैं। कृष्ण समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार, समय के अनुसार, व्यक्ति के अनुसार धर्म का सृजन करते रहते हैं। परन्तु हम अधर्मरूपी अहंकार को हटाते हुए धर्म रूपी प्रकाश का सृजन करते हुए कृष्ण की तरफ से आँख मूँद लेंगे। चूँकि इस प्रकाश के आगे भी आँख चकाचौंध हो जाती है। हम इसे कृष्ण मानने से साफ इनकार कर देते हैं। हमारा कदम बढ़ता है वहाँ मन्दिर में जिसमें कृष्ण मुरली बजा रहा हो, राधा बगल में खड़ी हो। सामने पुजारी पांडित्य भाषा में गीता का पाठ कह रहा हो, वह समझा रहा हो, कि इसके सुनने मात्र से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को उपलब्ध हो जाओगे। उसे करने की कोई जरूरत नहीं है। यदि सुनने की भी फुर्सत नहीं हो तो बालगोपाल के भोग हेतु कुछ दान कर दो। इससे भी तुम्हारा कल्याण सम्भव है। हम सुलभ रास्ता खोजते हैं। इससे सुलभता क्या हो सकती है। यही परधर्म है और हम नये-नये रूपों में कृष्ण के धर्म सृजन को नकार देते हैं। एवं अधर्म के विस्तार में, धर्म की रामनामी ओढ़कर सहायक होते हैं। अपने मन का विस्तार करते जाते हैं। किसी लड़के को कृष्ण बना देते हैं किसी को राधा, किसी को गोप, किसी को गोपी, रास शुरू कर देते हैं। अपने मन को समझा देते हैं कि हम कृष्ण के प्रेम में सराबोर हैं। भीड़ साथ होती है। वह भी हमें धार्मिक होने का प्रमाण-पत्र जुटाती है।

स्वभाव है ओंकार

**“प्रयाणकाले मनसाचलेन मक्त्यायुक्तो योगवलेन चैव।
भुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुष मुपैतिदिम्॥
यदक्षरं वेद विदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा।
यदीच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥”**

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तःकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

और हे अर्जुन! वेद के जानने वाले जिस परम पद अक्षर को ओंकार नाम से कहते हैं और आसक्तिरहित यत्नशील महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परमपद को चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस परमपद को तेरे

लिए संक्षेप में कहूँगा। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं भक्तियुक्त अन्तःकाल में भी योग-बल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन कर। अब प्रश्न उठता है भक्ति क्या है? तब भक्तियुक्तता क्या है? मनुष्य की चेतना में विचार की एक क्षमता ही भक्ति है। एक और क्षमता है भाव की। यहाँ पुनः एक विचारणीय पहलू है।

मनुष्य में दो क्षमताएँ हैं एक है विचार। यह विचार संसार के लिए उपयोगी है। संसार में कोई भी व्यक्ति सांसारिक कार्य बिना विचार के नहीं कर सकता है। दूसरी क्षमता है भाव की। भाव रहित व्यक्ति परमात्मा की तरफ एक कदम भी नहीं रख सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चे को विचार करने की सलाह देता है। बिना विचारों कोई काम न करो। यह सत्य भी है। सांसारिक सफलता बिना विचार के हाथ नहीं लग सकती। विचार करते-करते हम परमात्मा में भी विचार करने लगते हैं। यह विचार छिद्रान्वेषण बनकर रह जाता है। भाव का झरना सूख जाता है। अब हम परमात्मा के मन्दिर में जाते भी हैं तो भाव आते ही विचार हाजिर रहता है। हमको खाली हाथ लौटना पड़ता है। चूँकि विचार है तर्क की प्रतिक्रिया। विचार है चिन्तन का मार्ग। विचार है विश्लेषण विधि। यदि किसी तरह का नियम, कानून बनाना है तो हम विचारक को आमंत्रित करते हैं। तर्क की केंची से काट-छाँट कर ठीक कर देते हैं। विचार बहिर्मुख करता है। विचार भक्ति का हरण कर लेता या भक्ति का स्रोत ही सुखा देता है। भक्ति का स्रोत है भाव। भाव हृदय से उठता है। भाव जोड़ता है। परमात्मा से। विचार तोड़ता है यह मस्तिष्क से उठता है। फूल को वैज्ञानिक यँ ही स्वीकार नहीं करेगा, उसे तोड़ेगा, एक-एक पत्ती की जाँच करेगा। कौन रसायन कितना है। उसे टेस्ट-ट्यूब में बन्द कर देगा। भाव पूछेगा वह हँसता हुआ, मुस्कुराता हुआ फूल कहाँ है? विचार कहेगा क्या पागल हो? क्या फूल भी हँसता है? क्या फूल भी मुस्कुराता है? तुम्हारा फूल ये रहा बन्द टेस्ट-ट्यूब में, लो, देख लो। सारे फूल का रसायन बन्द है इसमें। भाव रूपी भक्त पूछता है इसमें तो फूल है ही नहीं। तुमने तो सत्यानाश कर दिया फूल का। वह कराह उठता है। उस फूल के दुर्दशा पर। परन्तु जब वह फूल के बागों में जाता है, देखकर खिल जाता भाव-विभोर हो जाता है। धन्य हो परमपिता। तू यहाँ मुस्कुरा रहा है। हँस रहा है। तुम्हारी मुस्कुराहट ही मेरी मुस्कुराहट है। तुम्हारी खुशी ही हमारी खुशी है। यह है भाव। भाव की धारा बह चली। भक्त इस में डूबकर अहोभाव से भर गया। हम भाव खोते गये इसी से पूजा-पाठ बेकार हो गया। केवल अपने तक ही सीमित रह गया। इसी से व्यक्ति से जीवन्तता चली गयी है। मरघट आ गया है चारों तरफ

मालूम हो मुर्दे ही चल रहे हैं। मुर्दे का घर बन गया है मन्दिर, मस्जिद।

जो व्यक्ति भाव से भर गया। भाव से सराबोर हो गया। भाव का प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया, हो गया भक्त। जब भाव आता है तब “मैं” विदा हो जाता है वह ही रह जाता है यही भाव गुरु अनुकंपा से अनन्त की तरफ प्रवाहित होने लगता है। अनन्त तक यह भाव पहुँचते ही भक्त आनन्द से भर जाता है। अनन्त तक हो जाता है। तर्कशास्त्री सम्भवतः आज तक परमात्मा तक नहीं पहुँच पाया है। शास्त्र कहीं न कहीं छोड़ना ही पड़ेगा। भाव अन्तः प्रवेश है। गंगा मानो गोमुख की तरफ लौटने लगे वापस। भाव जब गहन होता है तब कोई मौजूद नहीं रहता। मेरा, तेरा सब मिट जाता। केवल वही रह जाता है। भाव कहते हैं आज कीर्तन में नाच ले। भाव कहेगा छलांग लगा लो, संन्यास में। विचार कहता है तू पागल है। पढ़ा-लिखा इज्जतदार आदमी भी नाचता है क्या। क्या कमी है कि हम संन्यासी बनें? अरे हाँ परिवार है पत्नी है, बच्चे हैं। यही न कभी पत्नी की मार खानी पड़ती है। बच्चे की डाँट सहनी पड़ती है। आखिर हैं तभी न। जिसके पास हैं ही नहीं, वह क्या मार खायेगा? वह फंसता जाता है इज्जत, प्रतिष्ठा में। यही है विचार।

मैंने सुना है एक विचारक थे। उनके पास दूर-दूर से लोग विचार लेने आते थे। वे थे जर्मन के एमनुअल काट। उनसे एक लड़की ने निवेदन किया कि मैं भी पढ़ी-लिखी हूँ। आपसे शादी करना चाहती हूँ। सुन्दर हूँ। आपके साथ हमारा भी विचार चलेगा। काट ने ऊपर से नीचे तक देखा। विचार करने लगे। तीन वर्ष तक विचार करते रहे। किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे। थक कर एक दिन उस लड़की के दरवाजे पर पहुँचे। उदास थे। लड़की का पिता मिला। परिचय हुआ। बोले क्षमा करेंगे। तीन वर्ष पहले आपकी लड़की ने हमसे शादी का प्रस्ताव किया था। हम अभी निर्णय नहीं कर पाये हैं। लड़की के पिता बोले धन्यवाद। हम निर्णय कर चुके। लड़की की शादी दो वर्ष पूर्व ही हो गयी। उसका एक बच्चा भी है। आपको चिन्ता करने या परेशान होने की कोई जरूरत नहीं है। यही है विचार।

अब भृकुटी के मध्य भाग पर भाव को ले चलें। सद्गुरु कबीर जी कहते हैं

“त्रिकुटी संगम स्वामी बसई।” यह जगह अत्यन्त ही महत्व की है। यह बहुत ही ऐतिहासिक जगह है बहुत ही आणविक है इसे ध्यान से विस्फोट किया जाता है। तब यह त्रिनेत्र कहलाता है यही है शिव का तीसरा नेत्र। और सारे रास्ते संसार के हैं। भृकुटी पर ध्यान ही परमात्मा का है। स्वधर्म का है। यही मार्ग, जहाँ से सम्बन्धित होते ही हम शरीर के पार हो जाते हैं। इसे योगीजन

आज्ञा चक्र भी कहते हैं। यदि साधक गुरु से आज्ञा चक्र पर ध्यान की कला सीख लेता है। भाव प्रबलता के साथ ध्यान वहाँ टिका लेता है, तो हो गया उसका ध्यान, हो गया योग, जाप या तप। विचार के आते ही ध्यान वहाँ से हट जाता है। धीरे-धीरे अभ्यास से साधक ध्यान केन्द्रित कर योगयुक्त हो जाता है। अब वह कबीर की तरह चरखा कात सकता है। कृष्ण की तरह गाय चरा सकता है। कृष्ण कहते हैं जब ज्ञान की प्रबलता भाव से हो जाती है तब भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी तरह स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है। मन स्वयं स्मरण करने लगता है। हर साँस में, हर क्षण उसी में लगा रहता है। यदि साधक इस स्थिति में शरीर का परित्याग करता है तब यहीं से दूसरा शरीर प्रारम्भ होता है। चूँकि इस शरीर का ही बीज बना है। आगे की यात्रा आसान है। यही स्थिति (मृत्यु) एक जन्म का अन्त तो नये जन्म का प्रारम्भ है। छलांग लगाने के लिए यह महत्वपूर्ण समय है।

दूसरा सूत्र है अर्जुन, वेद के जानने वाले जिस परमपद को अक्षर, ओंकार नाम से कहते हैं और आसक्ति रहित यत्नशील महात्मा जन जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परम पद को चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद को मैं तेरे लिए संक्षिप्त में कहूँगा।

कृष्ण का एक-एक शब्द जीवन दर्शन से भरा पड़ा है। इसे साक्षात् योगी ही समझ सकते हैं। वेद को जानने वाले वे नहीं जो वेदों को रट कर चतुर्वेदी हो गये हैं। कृष्ण पण्डित की भाषा, विद्वान की भाषा का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। वेद यानी ज्ञान- योगी यानी जो परमतत्व के ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं। यदि तथाकथित चार वेद को ही मान लें तो ईसा के द्वारा कहा गया, मुहम्मद के द्वारा कहा गया, नानक, कबीर के द्वारा कहा गया क्या अवेद है? नहीं वह वेद केवल उस ज्ञान की एक झलक है। एक प्रतिबिम्ब है। हम उस परमतत्व के सामने जितने दर्पण ले जायेंगे वेद भी उतने ही हो जायेंगे। वेद अनन्त हो सकते हैं। जो ये चारों वेद हैं ये मानव के स्मरण में, उस परम वेद की पहली प्रतिछवियाँ हैं। वेद उस परम ज्ञान का नाम है जिसके समक्ष परिपूर्ण शून्य हुआ व्यक्ति खड़ा होता है। ऐसे वेद को जानने वाले, उस परम पद को अक्षर ओंकार नाम से पुकारते हैं। हम जितने भी अक्षर पढ़ते हैं वे सब इसी ओंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं

“एक अण्ड ओंकार से सब जग भया पसार।”

जो हम बोल रहे हैं, वह क्षर है। जिसे हम बोल नहीं सकते वही अक्षर है। जब साधक ध्यान कर भृकुटी पर एकाग्रचित्त हो जाता है तो वह अक्षर सुनाई पड़ता है। उसका अनुभव होता है। इसे ही कबीर साहब कहते हैं

“अनाहद सुनहु रे भाई, हद से बेहद ले जायी।”

यही अनाहद है जो हद (संसार) से बेहद (परमात्मा) तक सुरति के सहारे लेकर चला गया है। इसी आज्ञा चक्र से ऊपर योगीजन आनन्द के एवं सुरति के सहारे उस सहस्त्रार में प्रवेश कर जाते हैं। अनाहद का स्वर तीव्र होने लगता है। अमृत झरने लगता है। आभा प्रकट होने लगती है। इसी ओंकार को कबीर साहब पुनः यों कहते हैं

“जहाँ बोल तहाँ अक्षर आया, जहं अक्षर तहं मन ही दृढ़या।

बोल अबोल एक हो जाई, जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥”

यह स्थिति विरला यानी लाखों भी नहीं करोड़ों में एक को आती है। आसक्ति रहित महात्माजन ही प्रवेश पाते हैं। यानी अब उन्हें मोक्ष, स्वर्ग, नर्क की भी आसक्ति नहीं रह गयी। चूँकि आसक्ति से ही संसार शुरू होता है। यत्नशील यानी पूरा का पूरा यत्न करना होगा। पूरी छलांग लगाना होगा। रस्ती भर भी नहीं बचाना है।

उस परम पद को पाने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं यानी ब्रह्म जैसी चर्या। जिस ब्रह्म का साक्षात्कार करना है उसी की तरह चर्या शुरू कर देनी पड़ेगी। धीरे-धीरे उस ब्रह्म के साथ होने के भाव से ब्रह्मचर्य बन जाता है, जैसे ही धर्म ब्रह्म सा हो जाता है ब्रह्म घटित हो जाता है। इस सूत्र के सहारे साधक आज्ञा चक्र का भेदन कर सहस्त्रार तक पहुँच सकता है। समाधिस्थ हो सकता है। ये सब तंत्रोक्त विधियाँ कृष्ण अर्जुन को युद्ध भूमि में बता रहे हैं।

तत्व को जानकर योग युक्त होना

“नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रतिष्ठितम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥”

हे पार्थ, इस प्रकार इन दोनों मार्गों को तत्व से जानता हुआ, कोई भी योगी मोहित नहीं होता है। इस कारण हे अर्जुन, तू सब काल में योग से युक्त हो, अर्थात् निरंतर मेरी प्राप्ति के लिए साधना करने वाला हो, क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्य को तत्व से जानकर, वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादिकों

के करने में, जो पुण्य कहा है, उस सबका निस्संदेह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त हो जाता है।

कृष्ण के ये दो मार्ग विचारणीय हैं। चूँकि कहते हैं कि इन दोनों मार्गों को तत्व से जानता हुआ, कोई भी योगी मोहित नहीं होता। ये दो मार्ग उत्तरायण एवं दक्षिणायन ही हैं। सूर्य जब भूमध्य रेखा के उत्तर होता है एवं उत्तर ही बढ़ता जाता है तब उत्तरायण कहते हैं। जब सूर्य भूमध्य रेखा के दक्षिण की तरफ रहता है या नीचे की तरफ बढ़ता है तब दक्षिणायन कहते हैं। यही दो पथ हैं। अब प्रश्न उठता है सूर्य के उत्तर एवं दक्षिण से साधक का क्या मतलब है? जितने लोग सूर्य के उत्तरायण में मरते वे मुक्त हो जाते एवं दक्षिणायन में जो मरते वो नरक जाते? ऐसा नहीं। इसे ठीक से समझना होगा। चूँकि कृष्ण सूत्र में इंगित कर रहे हैं। इसी से अब व्याख्या की जरूरत पड़ गयी। इसे शरीर के अन्दर पृथ्वी की तरह ही दो हिस्सों में बाँटें तो वह मध्य का भाग मूलाधार चक्र है। जो ऊर्जा का केन्द्र भी है। सेक्स सेण्टर या काम केन्द्र भी है। उसके ठीक नीचे का दक्षिणायन एवं ऊपर का उत्तरायण है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक अग्नि है, वही ऊर्जा है। जिसको अब पश्चिम के जीव शास्त्री बायोएनर्जी कहते हैं। इसी जीव ऊर्जा को भारतीय मनीषियों ने सूर्य का प्रतीक कहा है। क्योंकि समस्त जीव ऊर्जा सूर्य से ही प्राप्त होती है। जब यही बायोएनर्जी दक्षिण की तरफ उतरती है यानी पैरों की तरफ, तब तो मृत्यु घटित होती है, वह एक तरह की मृत्यु है और जब वह ऊर्जा मूलाधार चक्र से ऊपर उठती है, सिर की तरफ तब उत्तर पथ कहलाता है। यह मृत्यु ही महामृत्यु है। निर्वाण है। जब आदमी काम से भर जाता है तब उसका नीचे का तालू गर्म हो जाता है। जब ध्यान की गहराई में डूबता है तब पैर बिल्कुल ठण्डे एवं सिर गर्म हो जाता है। इसी से साधक सिर पर बाल रखते, पगड़ी बाँधते हैं, जिससे ऊर्जा बाहर न निकले। उत्तरायण के छह माह यानी मूलाधार चक्र के बाद सहस्त्रार तक छह चक्र हैं। जिनकी साधक को यात्रा करनी होती है। इसी यात्रा को ऋषिगणों ने चार आश्रमों में विभाजित किया है। क्योंकि यदि आदमी 100 (एक सौ) वर्ष जीता है तब 25 वर्ष ब्रह्मचर्य एवं 25 वर्ष ही गृहस्थ है। 50 वर्ष के बाद वानप्रस्थ हो जाता है यानी ऊर्जा का बहाव ऊर्ध्व (ऊपर) शुरू हो जाता है। 65 वर्ष होते ही पूर्णरूपेण संन्यस्त हो गया। अब ऊर्जा का प्रवाह उत्तरायण हो ही गया। जब साधक ऊर्जा को उत्तरायण करता है साधना के द्वारा, तब मूलाधार चक्र (सेक्स सेण्टर) छोटा-सा लाल अग्नि का गोला स्वरूप दिखाई पड़ता है। यदि साधक साहसी हो, गुरुकृपा साथ हो, तब इसी ऊर्जा को ऊपर ले जाता है। ऊपर उठते-उठते शीघ्र

ही वह अग्नि का गोला सूर्य के समान बन जाता है। एक लपट बन जाती है, एक ज्योति ऊपर की तरफ भागती है। इस ज्योति के बनते ही साधक आनन्द से भर जाता है। प्रफुल्लित हो जाता है। साधक में यदि पूर्ण पात्रता नहीं है तब इस ज्योति से, ऊर्जा से हलचल उत्पन्न होती है। यदि वासना का झोंका हवा से तीव्र हुआ तब यह ऊर्जा नीचे की तरफ चली जायेगी। साधक उद्विग्न हो जाता है। मन अशान्त हो जाता है। साधना छूट जाती है। उदासी हाथ लगती है। यदि संयम, धर्म ने साथ दिया तब यही ज्योति दिन की तरह हो जाती है बस प्रकाश ही प्रकाश, आनन्द ही आनन्द। इस स्थिति में धर्म की सर्वाधिक जरूरत है। यदि साधक सतत् प्रयत्नशील है, सजग है तब ऐसी घटना घटती है। जब भीतर पूर्णिमा की स्थिति आ जाती है। सहस्त्रार पर चेतना, ऊर्जा पहुँच जाती है यही हो जाती है ब्रह्म की उपलब्धि। यदि साधक के जीवन को चढ़ाव में ज्ञान उपलब्ध हो जाए तो वह जीवन बहुत कम रख पाता है, जैसे शंकर, ईसा, विवेकानन्द परन्तु यदि साधक जीवन के उतार पर बुद्धत्व को उपलब्ध होता है तो शरीर को कुछ काल रख पाता है जैसे बुद्ध को 35 वर्ष में हुआ अतएव वे 80 वर्ष शरीर को रख पाये। महावीर को शरीर छोड़ने के 42 वर्ष पहले ज्ञान मिला था। जैसे पहाड़ की चढ़ाई पर साइकिल चला रहे हों। पायडिल मारना छोड़ दिया, दो-चार कदम पर ही रुक जाओगे, यदि उतार पर पायडिल मार कर छोड़ दिया तो कुछ दूर यात्रा तय कर लोगे। अब हम दो मार्गों को समझ पाये।

जो योगी इन दो मार्गों को जान जाता है वह मोहित नहीं होता। अब योग युक्त हो जाता है। योग युक्त व्यक्ति मोहित कैसे हो सकता है। इसे यों समझें सिग्मंड फ्रायड की सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज है **“डिस्कवरी ऑफ़ द अन्कोस”** हालांकि इनकी खोज काम पर थी। परन्तु मन के गहरे में उतरते-उतरते खोज लिया चेतन मन को, जो बाहर कार्य करता है तथा इसका दस में से नौवां भाग अचेतनमन जो गहरे में छिपा होता है। यही कारण है चेतन मन का। फ्रायड का शिष्य जो बाद में अलग हो गया उसने अचेतन मन (अनकाशस) की और गहरी खोज की। जिसका नाम था कार्ल गुस्ताफ जुंग। उसने खोजा कि अचेतन मन से और गहरा अचेतन छिपा है जिसे क्लेक्टिव अनकांशस, समूह अचेतन कहा- पश्चिम की खोज इसी मन पर है। इसे हम दक्षिणायन भी कह सकते हैं परन्तु पूर्व के मनीषी चेतन मन से ऊपर उठे एवं पाया अति चेतन तथा और ऊपर ब्रह्मचेतन। यही है उत्तरायण का पथ।

मोहित होना जहाँ तक है वह असमान ध्रुवों में है। जो विपरीत है उस से संघर्ष होगा ही। परन्तु समान जातीय, समान धर्म व्यक्ति एक-दूसरे को नहीं

खींचते। बुद्ध और महावीर जैसे व्यक्ति एक ही समय में हुए। एक रात्रि संयोगवश एक ही धर्मशाला में रुके परन्तु एक-दूसरे को बिल्कुल नहीं मिले। समान धर्म व्यक्ति एक दूसरे से फासले पर ही बने रहते हैं। वे इन दोनों मार्गों के तत्व को जानते हैं यानी जिसने अनुभव से जाना वही तत्व से जानता है। जब अनुभव हो गया तब वह मोहित नहीं होता। अब वह योग युक्त हो जाता है। जो व्यक्ति सदा अतियों के बीच में खड़ा हो जाता है वह योगी है। वही जानता है वह बिन्दु, जहाँ से मुक्ति का आयाम शुरू होता है। उसी बिन्दु पर स्थिर हो जाता है वही कहलाता है योग युक्त।

हम सदा से परमात्मा को संसार से विपरीत सोचते आये हैं लेकिन परमात्मा विपरीत नहीं है। कृष्ण स्वयं विराग एवं राग के मध्य में खड़े हैं। कृष्ण युद्ध-शान्ति के मध्य में खड़े हैं। ऐसा मध्यस्थ व्यक्ति पृथ्वी पर खोजना असम्भव है। इसी से कृष्ण अत्यन्त रहस्यमय हैं। जो भी व्यक्ति परमात्मा को संसार के विपरीत सोचता है, खोजता है वह चूक जाता है। परमात्मा को वही पा सकता है जो जहाँ है वहीं खड़ा रहे च्वाइसलेस (Choiceless) हो जाये। जीवन के समस्त विरोधों में, मध्य में खड़ा हो जाने का भी नाम योग है। इसी तरह का योगयुक्त व्यक्ति परमात्मा को उपलब्ध हो सकता है।

अब कृष्ण के दूसरे सूत्र पर विचार करें क्योंकि योगी पुरुष वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, तप और दानादिकों के करने में जो पूज्य फल है, उस सबका निःसन्देह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।

जो योगी पुरुष तत्वज्ञान को जान जाता है अब वह वेद कैसे रटेगा। वेद तो पण्डित ही रट सकता है तोते की तरह। इसी से कहा गया है, देखा गया है कि मूर्ख को तत्व ज्ञान सम्भव है परन्तु पण्डित को नहीं। मूर्ख को भान है कि मैं कुछ नहीं जानता। बैजू की तरह वह एक दिन बैजनाथ बन सकता है परन्तु वेदपाठी, को अहंकार है मैं जानता हूँ भले ही झूठा जानता हो। शब्द ज्ञान तो है ही उसे। मैंने सुना है कि काशी में एक व्यक्ति कुएँ में गिर गया। वह संस्कृत का विद्वान था। रातभर हाथ पैर चलाया। सवेरे चिल्लाया, एक गँवार-अनपढ़ व्यक्ति जा रहा था, उस रास्ते से। देखा तो बोला- तू है वेद पाठी जी, रुक जा तुम्हें निकाल देता हूँ। वह पण्डित बोला सुन तुम्हें संस्कृत भी नहीं आती तू तो गँवार है। पहले संस्कृत सीख लो। वह अनपढ़ आदमी बोला ठीक है पण्डित जी मैं जा रहा हूँ। चार-छह माह संस्कृत पढ़कर आऊँगा। वह बोला ठीक है तुम्हारे जैसे गँवार के हाथ से कुएँ के बाहर निकलने से अच्छा है कुएँ में ही रहना।

यही स्थिति है तथाकथित शास्त्रीयज्ञान से पूर्ण संसार की। कौन कबीर के हाथ से निकलना चाहेगा। कौन नानक को पसन्द करेगा। कुएँ में पड़ा रहना ही श्रेयस्कर समझ लिया है। वे शास्त्रों, शब्दों के बोझ से दबे जा रहे हैं परन्तु कृष्ण कहते हैं जो तत्व जान लेता है योगी वह सबसे मुक्त हो जाता है। वेद से मुक्त हो जाता है, यज्ञ से मुक्त हो जाता है। यज्ञ यानी कर्मकाण्ड (स्प्रिचुअल)। अब उपासना पद्धति भी व्यर्थ हो गयी। अब बाहर की दौड़ समाप्त हो गयी। अब भीतर ही प्रकाश आ गया। सूर्योदय हो गया। जिसके भीतर अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई है। वह बाहर अग्नि जलायेगा ही। यज्ञ करेगा ही। जिससे अन्दर का अन्धकार धुएँ से, धूल से ढका रहे। कृष्ण आगे तप को भी अब व्यर्थ कहते हैं तत्वज्ञ के लिए। जो खडेशरी होते हैं। पैर पर खड़े हैं या गर्मी में पंचाग्नि लिए हैं जिन्हें लोग तपस्वी बाबा कहते हैं। यज्ञ कराने का ठेका ले रखा है मानो। गाँव-गाँव घूमते, खड़े रहते, लोग दर्शन के लिए भीड़ कर देते। यज्ञ शुरू हो जाता है। ये लोग सोच के शब्दों में खुद को सताते हैं एवं सताने में उन्हें रस आता है। लेखक ने स्वयं इसका गहरा अध्ययन भी किया, पाया कि जो अपने को कोड़ा मारता है, अपने को काँटा चुभोता है, अपने को सताता है, भूखा रखता है। सभी खुश होते हैं ऐसा इसलिए कि उसे कुछ रसानुभूति होती है। दूसरी ओर वैज्ञानिक माक्सिस कहते हैं कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जब तक दूसरे को सता न लें तब तक उसे सुख नहीं मिलता। ये अपने प्रेमियों को मारने के लिए हण्टर, काँटे सब साथ रखते हैं। एकान्त में अपने प्रेमी को कष्ट देते हैं। जितना ही लहू-लुहान होता प्रेमी उतना ही इन्हें मज़ा आता है। ये लोग सेडिस्ट हैं या मैसोचिस्ट हैं। यही विकृति आध्यात्म में भी आ गयी है। खडेशरी बाबा भूखे रहे हैं। आस-पास सताने वाले को मज़ा आता है अतएव उनकी भीड़ खड़ी हो जाती है। आस-पास खड़े लोग सेडिस्ट हैं। ये लोग मानसिक रूप से बीमार हैं। परन्तु हज़ार में, लाख में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो सत्य की खोज में निकला है और उसे जो भी कष्ट आ जाये, सहने को तैयार है। वही वास्तविक तप है। वह कष्ट निर्मित नहीं करता। वह ध्यान कर रहा है धूप आ गयी। ध्यान नहीं टूटा। ध्यान कर रहा है, भोजन का भान भूल गया। नहीं खाना या धूप में बैठना ही उसका लक्ष्य नहीं है। ये स्वतः हो जाता है, लेकिन कृष्ण कहते हैं ये भी स्वतः छूट जाता है। दान से भी मुक्त हो जाते हैं दान-पुण्य के लिए नहीं देते बल्कि जिनको जरूरत हो उन्हें दे दिया। यानी जो हमारे पास व्यर्थ है, उसे क्यों संग्रहित करें। जरूरत भर रखें, अपरिग्रह की तरह शेष जरूरतमंद को दे दें। ऐसे व्यक्ति दान देकर भी दान से मुक्त हो गये। इसी को कृष्ण कहते हैं अतिनैतिक (सुपरमोल) अब

दान भी व्यर्थ, तप भी व्यर्थ, यज्ञ भी व्यर्थ, वेद भी व्यर्थ, जिसे हम आधार समझते थे वही खिसक गया। यह सत्य है कि परम आधार की तरफ चलने के लिए समाज द्वारा दिया गया आधार व्यर्थ हो जाता है। समस्त धर्मों से ऊपर उठना ही परमधर्म है। यही है कृष्ण का तंत्र सूत्र। साधक का अपने में उतरना ही श्रेयस्कर है।

परमपिता में ही सब देखना

**“त्वमादि देवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं ।
वेत्रासि वेद्यं च परं च धाम त्वया तत विश्वमनन्तरुपं॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांक प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयो पित नमो नमस्ते॥”**

आप आदि देव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगह के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के पिता भी हैं। आपके लिए हज़ारों बार नमस्कार। नमस्कार हो। आपके लिए फिर भी बार-बार नमस्कार। नमस्कार।

कृष्ण के बार-बार समझाने पर भी अर्जुन का प्रश्न समाप्त नहीं होता। अपनी विद्वता के तर्क से कृष्ण को अवरुद्ध कर युद्ध से भाग जाना चाहता है। मानो कृष्ण का श्रेष्ठतम सूत्र सुन ही नहीं रहा हो। एक-एक सूत्र अपने आप में विलक्षण है। एक सूत्र से पूरे जीवन में क्रान्ति घट सकती है परन्तु गहराई से उसमें उतरा जाये तब। यदि नदी के किनारे जाकर भी शीतलता के भय से, डूबने के भय से मन उतरने को नहीं कहता हो। किनारे से भी भागने को मन तर्क खोजता हो। तब सद्गुरु क्या करेगा? अब देखता है समय चूकना ठीक नहीं। बहुत समझा चुके इसे। अब समझाने की भी सीमा होती है। तब गुरु धीरे से धक्का दे देता है। वह किनारे बैठकर अब देखता है शिष्य का हाथ-पैर पीटना। जब शिष्य धीरे-धीरे तैरने लगता है। तब उसे गंगा की शीतलता एवं स्नान का आनन्द आता है तब वह ऊपर देखता है। गुरुदेव सामने ऊपर खड़े मुस्कुरा रहे हैं। अब शिष्य के मुँह से अनायास ही कुछ निकल पड़ता है। वह विचार के द्वारा नहीं, बुद्धि के द्वारा नहीं। भाव के द्वारा। हृदय से भाव रूपी निर्झर फूट पड़ता है। वही हो जाती है गुरु वन्दना। ईश्वर वन्दना। स्तुति। उसके मुँह से क्या निकल रहा है अब साधक को इसका भी भान नहीं रहता। उसे मालूम होता है कुछ निकल रहा है गला अवरुद्ध हो जाता है। आँख में आँसू भर जाता है

दोनों हाथ गुरु के पैर की तरफ बढ़ जाते हैं। तब नाच उठता है। मन भाव धारा में बह जाता है। अनायास ही सिर गुरु के पैरों पर गिर जाता है। गुरु का हाथ शिष्य के सिर पर। अब शिष्य देख लेता है उस विराट तत्व को। देख लेता है उस अनहोनी घटना को जिसकी कल्पना तक नहीं की थी। जो बिल्कुल अनजाना था। अपरिचित था। सारे जगत् के रहस्य को स्वयं में देख लेता है। जिसको क्षण भर पहले सत्य समझता था, वह क्षणभर बाद असत्य प्रतीत होने लगता है। जिसको मैं, मेरा के सूत्र में बाँधा था, वह टूटता नजर आता है। अपने को भी नदी की धार में बहते देखता है। जीवन का सत्य नजर आने लगता है। शरीर नदी की धार में बह रहा है। मुर्दे की तरह। अपने अलग खड़े हैं। अब देख लिया जीवन के सारतत्व को। यही स्थिति है अर्जुन की। अभी कुछ क्षण पहले तक कृष्ण को अपना फुफेरा भाई समझ रहा था। अपने ही समकक्ष उग्र का या एक रिश्ते में साला भी समझ रहा था। इसी से तर्क का सूत्र आगे बढ़ता जा रहा था। अपनी विद्वता पर उसे अहंकार था परन्तु कृष्ण एकादश अध्याय में अपने विराट रूप को अर्जुन में उतार देते हैं जिसे शक्तिपात भी कहते हैं। सम्भवतः इतने समय तक उनमें पात्रता के लिए इन्तजार कर रहे हों। इस अजस्र शक्ति के उतरते ही अर्जुन बहने लगते हैं मानो समुद्र में डूब रहे हों। हाथ-पैर मारकर किनारा खोज रहे हों। उसी किनारा खोजने में उनके मुँह से अनायास निकल पड़ता है। यह क्या है? तुम कौन हो? क्या चाहते हो? अब अपना अस्तित्वगत बोध खो रहे हैं। अब उस विराट के सामने समर्पण की तैयारी है। मानो अब तुम जो कहो वही करूँगा। मैंने देख लिया अपना अस्तित्व। यहाँ मैं भी गिर गया। अब हार-जीत, अपना-पराया भी समाप्त हो गया। अब तो तुम ही हो। तुम क्या चाहते हो? बता दो। अब प्रतीक्षा भी उखड़ रही है। अब एक-एक मिनट एक-एक जन्म सा प्रतीत हो रहा है। अब रोम-रोम भी उस परम सत्ता का आदेश चाहता है, इशारा चाहता है। अपने को निमित्त मात्र मानता है। अब युद्ध भी उसी का, हार भी उसी की, जीत भी उसी की। मैं भी उसी का, सारी सृष्टि उसी की। सृष्टिकर्ता भी वही, नाशकर्ता भी वही। अब मैं हूँ क्या? सर्वत्र उसी का अस्तित्व है। सम्भवतः अर्जुन ने प्रथम बार पूर्णरूपेण कृष्ण के सामने समर्पण किया हो। प्रथम बार उसके मुँह से नमस्कार-नमस्कार निकल रहा है। वह हर्षातिरेक में है। भाव-विभोर है। प्रथम बार इतना नज़दीक से देखा है अर्जुन ने इसके पहले कृष्ण को देखते हुए भी नहीं देखा था।

अर्जुन सम्पूर्ण समर्पण कर देता है। वह सर्वत्र उस परम सत्ता को देखता है। आनन्द से परिपूर्ण है। विचार शून्य, तर्क शून्य हो गया है। भाव प्रेम में बदल गया है अब वह अर्जुन नहीं है जो क्षण भर पहले था। अब बदला हुआ है।

आदमी हर क्षण बदलता है। जहाँ गुरु अनुकंपा रूपी वर्षा हो रही हो। ऊपर से वर्षा, नीचे से बाढ़ आ रही हो। नीचे से पानी ऊपर बढ़ रहा हो। ऊपर से मूसलाधार वर्षा हो रही हो। अब सोचो उस साधक की स्थिति क्या होगी। अर्जुन बाहर-भीतर एक हो गया है आँख बन्द कर लेता है, अन्दर देखता है तो वही विराट पाता है, बाहर आँख खोलता, वही देखता विराट सत्ता। विराट तत्व। अन्तहीन अनन्त। तब उसके मुँह से ही नहीं रोम-रोम से निकल पड़ता, फूट पड़ता है। आप ही आदि देव हैं। चूँकि देवों का रहस्य ज्ञात हो गया। आदि देव ही सनातन होता है। वह पहले भी था। बाद में भी रहेगा। अभी वर्तमान में भी है। उसमें परिवर्तन होता ही नहीं। वह तो अपरिवर्तनीय है। सदा नूतन। नित्य क्या है? आप से ही यह जगत निकला है। अब आपको देख लिया, आपसे निकलते हुए जगत को भी देख लिया। आप में प्रवेश करते हुए जगत को भी देख लिया। अतएव आप ही इस जगत के आश्रय हैं। आपको छोड़कर और आश्रयदाता हो ही कौन सकता है? आप ही जानने वाले हैं। यदि कोई कहता है कि मैं भी जानता हूँ। झूठ बोलता है। 'मैं' बचकर रह नहीं सकता। अतएव जानने वाला भी वही परमसत्य है। साधक के लिए जानने योग्य भी वही है। अब किस देवी देव को जानना चाहेगा। चूँकि ऋग्वेद भी कहता है

“एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।”

आप ही परमधाम हो। अब मैं किसी धाम के फेरे में नहीं। सारा भ्रम मिट जाता है अनन्तरूप आप में ही यह सब जगत् व्याप्त है। परिपूर्ण है। अब इस जगत् में आपके सिवाय दूसरा दिखाई ही नहीं पड़ता। इसी को वेद कहता है

“एको देवो सर्वभूतेषु गूढ सर्व व्यापि।

सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चा॥”

आगे के सूत्र में अर्जुन कहते हैं आप ही वायु हो। जो उन्हें अन्तर दृष्टि से दिखाई पड़ता वह सब कहते हैं। साधक सबसे पहले श्वास क्रिया में वायु ही देखता है। यह वायु यदि बाहर रह जाये तब भी मृत्यु। इस तरह वह प्रथम वायु को देखता है और उस वायु में भी उसी परम सत्ता को देखता है। तब मृत्यु को साकार करता है। अतएव मृत्यु के देवता यमराज को भी देखता है, उसी परम सत्ता के रूप में। इसके बाद साधक अग्नि स्वरूप प्रकाश को देखता है। उस प्रकाश में भी वही परम सत्ता है वही परमपुरुष है सहस्रार से अमृत बरसता है परन्तु उसमें भी उसके देवता वरुण को नहीं देखता उसी परम पुरुष को देखता है। जहाँ और ऊपर चन्द्रमा की शीतलता है। प्रकाश है। जिससे पूरा जगत् ही प्रकाशित है। उसमें भी वही परमसत्ता नज़र आती है। सभी को जन्म देने वाले ब्रह्मा एवं ब्रह्मा को भी जन्म देने वाले के रूप में भी तू ही। इसी को सद्गुरु

कबीर कहते हैं

“एक ते अनन्त-अनन्त एक हो आया।

परिचय भये जब एक ते, तो अनन्तो एक माहि समाया॥”

एक से ही अनन्त आया है। सारा विस्तार उसी एक का है और उसी एक में अनन्त प्रवेश भी कर जाता है। मात्र उस एक से परिचय भर की देर है। अर्जुन का उस एक से परिचय हो गया? उसी एक की भाषा भाव बनकर निकल रही है। अब बार-बार हजारों बार नमस्कार कर रहे हैं। मानो अब वाणी अवरुद्ध हो गयी। नमस्कार के सिवाय अब कुछ बचा ही नहीं अतएव बार-बार नमस्कार कर रहे हैं। या अपने को उसकी शरण में अर्पित कर रहे हैं। अपने सर्वस्व को अर्जुन उस परमसत्ता के हाथों में सौंप रहे हैं। अब सौंप कर आनन्दित हैं। प्रफुल्लित हैं। प्रसन्न हैं।

समर्पण

“सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षशिष्याभिमा शुच॥”

सर्व धर्मों को त्याग कर तू केवल मुझ सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

यह उक्ति कृष्ण अठारहवें अध्याय में दे रहे हैं। यह सूत्र भी अत्यन्त महत्व का है। सब धर्मों का त्याग कर। क्या धर्म भी दस-बीस होते हैं। जब परमात्मा एक है, परमसत्ता एक है, सत्य एक है तो धर्म कैसे बहुत होगा? पूर्व में वर्णन किया जा चुका है। धर्म-सा प्रतीत होता है परन्तु वह परधर्म ही है। जो अधर्म तक ले जाता है। वही अनेक है। कहीं राम के मन्दिर गये तो वहीं टिक गये बस रामायण का पाठ शुरू कर दिया। शिव के मन्दिर गए तो बस शिव पुराणों को पढ़ना शुरू कर दिया। अद्वारह पुराण सब अपने आप में श्रेष्ठ हैं। सभी एक-दूसरे से आगे। कोई किसी से पीछे नहीं है। जिसको पढ़ो वही श्रेष्ठ अन्य सभी उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं। उनके भक्त भी उसी के अनुसार आपस में लड़ते रहते हैं। बिल्कुल बहिर्मुख हो गये हैं। यही है बहु धर्म। जो सद्धर्म तक नहीं, श्रद्धा तक नहीं, प्रेम तक नहीं लाता परन्तु स्वर्ग-नरक तक ला खड़ा करता है। जहाँ से साधक अत्यन्त भयभीत नपुंसक, कमजोर मालूम होता है। जहाँ तर्क विचार क्रियाशील हो जाते हैं। अतएव भिन्नता बोधक देवी, देवता बोधक इन सभी धर्मों को परित्याग कर मात्र उस परमसत्ता की शरण में चले जायें। लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति को त्याग कर, शरीर और संसार में अहंता, ममता

से रहित होकर, केवल एक परमात्मा के ही आश्रय में जाना श्रेयस्कर है। सभी का त्याग कर अनन्य भाव से, श्रद्धा भाव से प्रेमपूर्वक उसके शरण में जाना ही श्रेयस्कर है। अब यहाँ उसके निर्देशानुसार कर्तव्य का पालन तो होगा परन्तु निष्काम योग की तरह। सद्गुरु कबीर भी कहते हैं

“तेरा तुझे सौंपिया, मेरा लागत है क्या।”

उसी का है, उसी को सौंप देना है एवं मेरा का भान ही नहीं रखना है। अब सब कुछ उसी का है, सभी वही है। तब इधर-उधर दौड़ना किस बात का। अन्यथा इस दौड़ में वेश्या की सी स्थिति हो जायेगी। जैसा कि सद्गुरु आगे कहते हैं

“रही एक की भई अनेक की वेश्या बहुत भतारी।

कहै कबीर काके संग जरिहै बहु पुरुषन की नारी॥”

उस एक परमपिता से ही हम आए, सम्बन्ध भी उसी एक से होना चाहिये परन्तु यहाँ परधर्मा होकर बहुधर्मा के चक्कर में फँस गए। अब अनेकों के साथ सोना पड़ता है। अब स्थिति वेश्या की हो गयी। बहुतों से सम्बन्ध हो गया। अब सती किसके साथ होगी। सती होने के लिए कोई तैयार नहीं होगा। अतएव उस एक को ही पकड़कर, उस एक के ही यहाँ सर्वसमर्पण कर दें। इसी एक के शरण में चले जाओ। जब साधक एक के शरण में चला जाता है तो सारे पाप स्वतः समाप्त हो जाते हैं। सूर्य के निकलने पर अन्धकार कैसे रह सकता है?

मैंने सुना है एक व्यक्ति अन्धकार में ही रहता था। प्रकाश देखा ही नहीं था। अन्धकार ही उसकी धन-सम्पत्ति थी। एक दिन एक भिक्षुक उस अन्धकार की नगरी में प्रवेश कर गया। उस व्यक्ति से प्रकाश एवं सूर्य के सम्बन्ध में बात की परन्तु प्रकाश भी होता है, सूर्य भी होता है। वह मानने पर कतई तैयार नहीं था। खैर किसी तरह वह व्यक्ति इस बात पर तैयार हो गया कि वह भिक्षुक के साथ प्रकाश के राज्य में उसे देखने चलेगा। वह व्यक्ति खुश हो गया। सभी बन्धु-बान्धवों से कहा मैं प्रकाश के राज्य में जा रहा हूँ। उस प्रकाश के स्वागत में, सूर्य के स्वागत में यहाँ से अन्धकार ही ले चलना उचित होगा। अतएव झोले में, थैले में, बक्से में अन्धकार भरकर चल दिया। प्रकाश से मिलने। जब वह प्रकाश के राज्य में पहुँचा तो उसकी आँखें चकाचौंध हो गयीं। वह चिल्लाया यह क्या? आँखें बन्द क्यों हो गयीं। भिक्षुक बोला धैर्य रखो, धीरे-धीरे आँखें खोलो। प्रयत्न करो। साहस से काम लो। सब ठीक हो जायेगा। वह व्यक्ति धैर्य से आगे बढ़ा। धीरे-धीरे देखा सर्वत्र प्रकाश अँधेरा कहीं है ही नहीं। अब अपने आप पर विश्वास नहीं होता। क्या मैं वही हूँ। जो कुछ क्षण पहले अन्धकार में था। क्या

है यह अनहोनी। क्या यह सपना तो नहीं। अपने दिमाग पर जोर देता। आँखें मलता परन्तु प्रकाश ही प्रकाश। अब उसे याद आता है कि मैं झोले में, बक्से में अन्धकार लाया हूँ। प्रकाश को उपहार देने हेतु। जब झोले खोलता है तो देखता है कहीं अन्धकार है ही नहीं। सोचता है कहीं छिप तो नहीं गया। अतएव सूर्य की तीव्र रोशनी में देखता है तो झोले में भी प्रकाश ही है। अब हैरत में पड़ जाता है। अब बक्सा खोलता है शायद इसमें अन्धकार हो। इसमें तो ताला बन्द है। जब वह खोलता है तो पाता है वहाँ भी प्रकाश ही प्रकाश है। अब किसको सत्य माने। लोक-वेद को। जिसको साथ लेकर आया था या प्रत्यक्ष को। प्रत्यक्ष को मानता तब लोक-वेद का क्या होगा।

यही स्थिति होती है साधक की। जब उस एक के सामने समर्पण करता है तब पाप रूपी अन्धकार कैसे रहेगा। उसके जलने का, चले जाने का भान तक नहीं होगा। अब शोक भी नहीं टिकेगा। जो कुछ सोच साथ लाया था। लोकवेद का, पाप-पुण्य का सब स्वतः विदा हो जाता है वह परम पुरुष को पा परमानन्द में मग्न हो जाता है बस **“दीन बनन की देर है, दीनानाथ मत बन।”** दीनानाथ तो गोद में लेने के लिए सदा से तत्पर हैं।



“ज्योतिर्मय यात्रा”

भगवान शिव ने तंत्र की विभिन्न विधियों को प्रदान किया है। यदि साधक में क्षमता है, तब स्वयं विधि का चुनाव कर लें। जो बहुत कठिन है। साधारण साधक उस विधि का भी पाठ कर लेता है। जैसे गीता, रामायण, बीजक, गुरु ग्रंथ साहब का हम पाठ कर लेते हैं। जब व्यक्ति रूढ़िवाद, परम्परावाद, लोकवाद, पंथ-सम्प्रदाय जातिवाद के दल-दल में फँस जाता है। तब कोई मुक्त आत्मा करुणा वश पृथ्वी पर आ जाती है। वह पूर्व के अवतारों, गुरु के तंत्र सूत्र की समय के अनुसार व्याख्या करती है। आपको परम्परा से मुक्त करती है। परन्तु तत्कालीन महंत, पुजारी, धर्म के ठेकेदार उन्हीं का विरोध करते हैं। पत्थर मारते हैं। गाली देते हैं। उनके जाने पर मारने वाले ही उनका मंदिर बनाते हैं। उनके सूत्रों की अपने मन के अनुसार व्याख्या करते हैं।

महाभारत की युद्ध भूमि में गीता का जन्म हुआ है। युद्ध समाप्त होने पर अर्जुन कहते हैं हे भगवान! एक बार फिर गीता हमें सुना दें। भगवान कहते हैं “मैं गीता भूल गया।” वह सत्य कहते हैं यदि भगवान कृष्ण को फिर से गीता कहनी होगी तो समय के अनुसार, पात्र के लायक दूसरी गीता कहेंगे। कोई साधारण जिसे गधा कहते हैं। प्रतिभाहीन व्यक्ति कहते हैं, वही रटा रहेगा। आप जब चाहोगे टेप रेकार्ड, सीडी के तरह वह गीता सुना देगा। आप उस प्रतिभा हीन व्यक्ति को विद्वान, सिद्ध साधक समझेगें। बार-बार पैर पर लोटेंगे। वे भी अपने विद्वत्ता पर अहंकार करेंगे। अक्सर संसार में ऐसे ही प्रतिभा हीन शिष्य-गुरुओं की भीड़ रहती है। तभी तो सर्वत्र एक ही रटा-रटाया प्रवचन सदैव सुनते हैं। हमारी स्थिति मुर्दे की हो गई। जैसे आप उसे चाहे अग्नि में डालें चाहे कब्र में डालें। उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। हम रटे रटाये शब्दों को चिर परिचित कथा कहानी को सुनते हैं, फिर उसे सत्संग का नाम देकर अपना ओंठ चाटते हुए संतोष कर लेते हैं। सद्गुरु आपका शास्त्र छीन लेगा। आपमें हल चल पैदा कर देगा।

भगवान शिव का विज्ञान भैरव एक ऐसा ही तंत्र है। जो मुर्दे में जान फूंक देता है। कुल एक सौ बारह विधियां दी हैं। परन्तु मैंने अभी समय एवं पात्र

को दृष्टि में रखकर कुछ विधियों को पुस्तक के प्रारम्भ में दिया है कुछ को अन्त में दे रहा हूँ। आप अपने लायक मात्र एक विधि को चुन लें। प्राप्त कर लें परम शिव को।

एक बात ध्यान में रखें तंत्र के लिए संसार और निर्वाण दो चीजें नहीं हैं। आपकी मात्र दो दृष्टियाँ हैं। आपके दो विकल्प हैं आप किसी एक को चुन लीजिए। आप अपने ही एक दृष्टि के कारण संसारी है। अगर आपकी दृष्टि बदल गई तो आप वही रहते हुए भी संन्यासी हैं सिर्फ आपकी दृष्टि और परिप्रेक्ष्य बदलने की बात है।

भगवान शिव कहते हैं हे देवी!

“अपनी प्राण शक्ति को मेरूदंड में ऊपर उठती, एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र की ओर गति करती हुई प्रकाश किरण समझो, और इस भाँति तुम में जीवंतता का उदय होता है।”

किसी भी ऊर्जा को गमन करने के लिए एक माध्यम चाहिए। गुरु किसी के माध्यम से संसार के कल्याण हेतु करुणा वश तंत्र विधि प्रदान करता है। इसलिए नहीं कि सभी विधियाँ वही करेगा। देवी-स्त्रैण चित्त भक्ति का प्रतीक है। शिव गुरु का। वह अपनी अनन्य भक्ति स्वरूप, माँ जगदम्बा से कहते हैं।

इस समय कुछ राक्षसों का भी जन्म हो गया है। जो स्वयं को ब्रह्मा कहते हैं। तथा ब्रह्मा में ही शिव का अवतरण हो गया है। फिर वही गीता कहने वाले हो गये हैं। ये भी धर्म की चादर ओढ़ कर विधर्म का प्रचार, प्रसार करते हुए स्वयं को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। यह काल भी देवासुर संग्राम का ही काल है। रावण भी अपने को ब्रह्मा का प्रपौत्र एवं शिव के स्वयं में अवतरण की कथा कहकर ताड़िका, सूर्पनखा, मारीच, सुवाहु, खरदूषण से अपने धर्म का प्रचार प्रसार करवाता था। ताड़िका, सूर्पनखा ही उस धर्म की प्रमुख प्रचारक थीं। इनके सहायक पुरुष वर्ग थे। क्या वही चेतना पुनः अपने पूर्व काल के अनुभव के आधार पर नयी तकनीक लेकर नये ढंग से पुनः इस धराधाम पर तो नहीं आ गयी है। उस वृत्ति की सारी जीवात्माएं आकर एक जुट हो गयी हैं। इस में दो राय नहीं है कि वर्तमान काल देवासुर संग्राम का ही काल है। सभी अपने को पूर्ण अवतार ही कहते हैं।

इस तरह के साधक वास्तव में बीमार चित्त के हैं। ये रुग्ण हैं। इनके आधार पर जो कुछ कहा जायेगा वह निश्चित ही पूरी तरह गलत होगा। समाज, देश, पृथ्वी के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। इन्हीं लोगों पर पश्चिम के मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अनुसंधान किया है। जुंग, एडलर ने भी इन्हीं मानसिक रोगियों पर

कार्य किया है। अतएवं इनकी खोज पूर्ण मानवता के लिए नहीं है। आधी अधूरी है। रोगी से हम स्वास्थ्य की जानकारी नहीं ले सकते हैं।

भारतीय ऋषियों ने भी अन्वेषण किया है। इनके आदर्श रोगी नहीं। असामान्य नहीं बल्कि अधि सामान्य लोग हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर पतंजलि, शंकर, नागार्जुन, कबीर, नानक जैसे लोगों के अध्ययन पर आधारित हैं। ये मनुष्यत्व की क्षमता एवं सम्भावना के शिखर पर पहुँचे हैं। इसमें निम्नतम का विचार नहीं बल्कि श्रेष्ठतम का विचार है। साधक जैसे ही श्रेष्ठतम का विचार करता है तब उसका चित्त एक द्वार बन जाता है। जिस द्वार से परम ऊँचाई में प्रवेश कर सकते हैं। परम पुरुष को उपलब्ध हो सकते हैं।

तंत्र कहता है आप साधक हैं। सिद्धता को उपलब्ध हैं। आप में सम्भावना है। आप मध्य में हो। जहाँ से सम्भव है आप आसुरी वृत्ति के लम्पटों के चक्कर में पड़कर नीचे गिर सकते हैं। यहाँ से आप ऊपर भी उठ सकते हैं। आपकी भी एक ऊर्जा सतत् विकसित हो रही है। तंत्र विकास की इसी सम्भावना को अपनी समस्त साधना पद्धति का आधार मानता है।

हम केन्द्र की परिधि पर दौड़ लगाते हैं। बाहर घर-द्वार, गाड़ी, धन-सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। फिर भी अन्तः करण से अशान्त रहते हैं। पद-प्रतिष्ठा के सहारे मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे की तीर्थ यात्रा करते हैं। वहाँ भी हमारे द्वारा पूजा पाठ करायी जाती है। लोगों की दृष्टि में धार्मिक नजर आते हैं। पत्र-पत्रिका में उपासना करते हुए फोटो आती है। थोड़े देर के लिए अपने को धार्मिक समझने का भ्रम पाल लेते हैं। जैसे ही हमारी पद-प्रतिष्ठा पर चोट पहुँचती है। ताश के पत्ते के तरह हमारा धार्मिक महल गिर जाता है। हम अशान्त हो जाते हैं। फिर हम कह उठते हैं। यह सब बेकार है। आत्मोपलब्धि ही सत्य है। सत्य तो सत्य है। जिसे हम सांसारिक दृष्टि कोण से सफल देखते हैं, वास्तव में वह असफल है।

आत्मोपलब्धि ही हमारे विकास का उच्चतम शिखर है। अब आप गहन संतोष, शान्ति, प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपके जन्म लेने का उद्देश्य ही यही था। तंत्र का भी उद्देश्य यही है कि कैसे आपको उस परम विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दे। तंत्र साधक की चिंता करता है। तंत्र न नैतिक है न अनैतिक न आदर्श। तंत्र मात्र साधक की चिंता करता है। तंत्र कहता है कि आपका आदर्श आपके भीतर ही छिपा है। उसे बाहर निकालो।

तंत्र कहता है, बुद्ध, महावीर, नानक, राम, कृष्ण की नकल मत करो। नकल का कोई मूल्य नहीं है। परमात्मा सदा नया है। वह नूतन है। शाश्वत रूप से

नया है। वह एक घटना को बार-बार नहीं घटाता है। उसके पास अनन्त रूप है। आपार सम्भावनायें हैं; उसमें। बार-बार दोहराने से प्रकृति में, मन में ऊबन पैदा होती है।

तंत्र सभी नैतिक शिक्षाओं से भिन्न है। यह केवल विधि देता है। तंत्र कहता है तुम स्वयं आदर्श हो। आपका भविष्य आपके अन्दर छिपा है। यदि आपका भविष्य नियत है तो आप रोबोट हो जायेंगे (यंत्र मानव)। सद्गुरु आपको भविष्य रूपी नियति के माया जाल से बाहर निकालता है। वह कहता है, आपका भविष्य आपके हाथ में है आपकी अनंत सम्भावनाएं हैं। आप अनेक आयामों में विकास कर सकते हैं। गुरु आपके व्यर्थ के भटकाव को 'समय' ऊर्जा क्षय को रोक कर क्षण भर में ऊर्जांचित कर देता है। गुरु के सान्निध्य में आप क्षण मात्र में इतना विकास कर लेते हैं; जितना जन्मों-जन्मों में भी सम्भव नहीं होगा। यदि आपके अनुसार सम्यक विधि का प्रयोग किया जाये तो विकास का विस्फोट घटित होगा ही। शिष्य के लिए सबसे कठिन है समर्पित होना। मन के द्वंद से निकलना। गुरु से तो निरंतर ऊर्जा निकलती रहती है। महा कश्यप ने गुरु (बुद्ध) को प्रणाम किया, पूर्णत्व को प्राप्त कर लिया। सदैव साथ रहने वाले आनन्द के लिए कौतुहल का विषय हो गया।

अब हम शिव के तंत्र सूत्र पर विचार करें “अपनी प्राण शक्ति को मेरूदंड में ऊपर उठती, एक केन्द्र की ओर गति करती हुई प्रकाश किरण समझो, और इस भांति तुम में जीवंतता का उदय होता है।”

मेरूदंड, अर्थात् रीढ़ (स्पाइनल कॉर्ड) ही शरीर का मुख्य भाग है। इसी हड्डी पर शरीर खड़ा है। यह शरीर रूपी ब्रह्माण्ड की कील है। अचल है। शरीर के पीछे है। हमारी आंखें सदैव आगे देखती हैं। यह सारे रहस्यों को अन्दर-अन्दर छिपा कर स्वयं पीछे छिप गई। यह न सुन्दर है। न कुरूप है। सम्पूर्ण सुन्दरता, कुरूपता का रहस्य भी इसी में छिपा है। हम जन्मों-जन्म से इसके प्रति संवेदन हीन हैं। यह मेरू दंड पूरे शरीर की आधारशिला है। इसके युवा या वृद्ध होने, से ही आप युवा या वृद्ध रहते हैं।

इसके नीचे के छोर पर मूलाधार चक्र है। मूल आधार है। इस शरीर रूपी महल की नींव है। यह छोर काम केन्द्र भी है। जिससे सृष्टि का निर्माण होता है। हमारे ऋषि गण अन्तिम शिखर अर्थात् सहस्रार पर निवास करते हुए भी लोक कल्याण हेतु निम्नतम बिन्दु से काम ले लेते थे। वे काम वासना में कभी भी क्षण मात्र भी लिप्त नहीं हुए बल्कि दिव्य आत्मा के प्रार्थना को स्वीकार कर, उसे लोकहित में आने देने का अवसर प्रदान करने का मात्र माध्यम बनते थे।

चूँकि पहले ही कह चुका हूँ कि तंत्र नैतिक, अनैतिक, आदर्श नहीं होता है। वह फल देखता है। यह चक्र, पृथ्वी से जुड़ा है। कामवासना भी पार्थिव चीज है। इसे ही सांख्य प्रकृति कहता है। अन्तिम चक्र से परमात्मा से जुड़ते हैं। जिसे सांख्य कहता है-पुरुष।

यही ऊर्जा जब काम केन्द्र से निकलती है, तो पृथ्वी में वापस चली जाती है। जब ऊपर यात्रा करती है तब अन्तिम चक्र सहस्रार से निकलकर ऊपर के सात चक्रों की यात्रा कर अनन्त में मिल जाती है। काम केन्द्र से हम जगत में एवं सहस्रार से ब्रह्म में प्रवाहित होते हैं। काम केन्द्र की यात्रा से दुःख एवं ऊपर की यात्रा से दुःख से मुक्ति। आनन्द की उपलब्धि होती है।

ऊर्जा का नीचे यात्रा करना गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार है। ऊपर की यात्रा इस गुरुत्वाकर्षण के विपरीत है। प्रत्येक चीज अपनी तरफ खींचती है। जैसे ही साधक ऊपर की यात्रा पर निकल जायेगा। वैसे ही ऊपर के चक्र अपने तरफ खींचने लगते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि परम पुरुष स्वयं खींचकर अपने में मिला लेते हैं।

मेरूदंड में ही इंगला-पिंगला सुषम्ना है। हम जो कुछ खाते पीते हैं, वह पृथ्वी का ही हिस्सा है। अतएव काम केन्द्र के द्वारा पृथ्वी में मिलता रहता है। यह वर्तुल सदैव चलते रहता है। पर्वत के शिखर पर काम केन्द्र की शक्ति घटती है। अंतरिक्ष में अतिन्यून हो जाती है। यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनियों ने कैलाश को चुना। भगवान शिव कैलाश पर बैठे हैं। उनकी पत्नी भवानी साथ बैठी है। वहाँ काम की वार्ता नहीं हो रही है। वहीं जन्म ले रहा है “**भैरव विज्ञान**”। जिससे आप सर्वोच्च शिखर पर सदैव निवास कर सकें। वही निवास करना ही शिव शक्ति, अर्द्धनारीश्वर है। जिस क्षण ऊर्जा सहस्रार में प्रवाहित होने लगती है फिर आप इस धरती के न होकर, कैलाश के निवासी हो जाते हैं। आदमी न होकर भगवान हो जाते हैं।

सद्गुरु आपके ऊर्जा को गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के विपरीत दिशा में प्रवाहित करा देता है। उसके सान्निध्य में बैठते ही ऊर्जा ऊपर के तरफ प्रवाहित होने लगती है। भगवान बुद्ध एवं महावीर ने इस पर बहुत खोज की। ये अपने शिष्यों को अपने साथ रखते थे। तीस-चालीस हजार शिष्य मध्य में गुरु। उनके ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन होने लगता था। इसी से इनके शिष्य उन्हें भगवान कहने लगे। भगवान की पदवी कोई कोर्ट कोई सरकार नहीं प्रदान करती बल्कि शिष्य प्रदान करते हैं श्रद्धा से, प्रेम से गुरु को। इस पृथ्वी की सारी डिग्रियाँ ऊपर से दी जाती हैं। भगवान की पदवी नीचे से प्रदान की जाती है चूँकि यह स्वानुभव की बात है। सद्गुरु के पास शक्तिशाली ऊर्जा का क्षेत्र है। वह गुरुत्वाकर्षण

के नियम को बदल सकता है। साधक को ज्यादा से ज्यादा गुरु के सान्निध्य में मौन होकर बैठ जाना चाहिए।

ऊर्जा का गमन आप में कल्पना से प्रवाहित होता है। सकारात्मक कल्पना के द्वारा ऊर्जा ऊपर उठती है। नकारात्मक कल्पना से नीचे के तरफ गिरती है। विज्ञान की पढ़ाई भी कल्पना से प्रारम्भ होती है। जैसे कल्पना के द्वारा ही आपकी काम ऊर्जा सक्रिय होती है। भय के क्षण में यह सक्रिय नहीं हो सकती है। यही कारण है किसी किसी प्रेमी में यह ऊर्जा सक्रिय हो जाती है। बिना प्रेम के इसका सक्रिय होना असम्भव है। स्वप्न में भी सक्रिय हो जाती है। स्वप्नदोष होता है।

जब कल्पना के द्वारा ऊर्जा का बहाव नीचे हो सकता है। तब ऊपर भी हो सकता है। हम अपनी कल्पना शक्ति से ऊर्जा को ऊपर करें यहाँ से तंत्र प्रारम्भ हो जायेगा।

अब सूत्र कहता है 'स्वयं को, अपने होने को प्रकाश किरण समझो।' इसका अर्थ यही है कि कल्पना करो; भाव करो। जब कल्पना गुरु गोविन्द के प्रति होती है तब उसे भाव कहते हैं। जब जगत के प्रति होती है तब उसे कल्पना कहते हैं। आप अपने गुरु मूर्ति के सामने बैठकर श्रद्धापूर्वक प्रार्थना कर लें। फिर भाव करें गुरु अनुकम्पा मुझ में प्रवेश कर रही है। मैं प्रकाश से भर रहा हूँ। यह भाव कल्पना ही नहीं है। यथार्थ भी है। विज्ञान कहता है प्रत्येक चीज प्रकाश से ही बनी है। सभी कुछ विद्युत ही है। तंत्र सदा से कहता रहा है कि सभी कुछ प्रकाश कणों से बना है। चूँकि परमात्मा भी प्रकाश है।

गुरु भी प्रकाश है। परमात्मा परम प्रकाश है। वह गुरु से हम में भर रहा है। अब भाव करें कि वह प्रकाश किरण मैं ही हूँ। फिर यही भाव मूलाधार चक्र पर ले जायें। वहीं अवधान को एकाग्र करना है। भाव करें वहाँ प्रकाश भर गया है। काम केन्द्र गर्म हो गया है। हो सकता है आपका मन कामुक हो जाये। या हो सकता है। स्वप्नदोष हो जाये। यह शुभ लक्षण ही है। चूँकि ऊर्जा यहाँ से हर समय नीचे गिरी है। अब ऊपर उठना है। इस विधि को एकान्त में ही करें। मूलाधार चक्र ऊर्जा से भर गया। फिर भाव करें ऊपर उठ रहा है। यह स्वाधिष्ठान चक्र पर आ गया। यह भी ऊर्जा से भर गया है। ऐसा अनुमान न करें। अनुभव करें। अनुमान बुद्धि करती है। जैसे आप किसी के ऊपर हाथ रखें; उससे पूछें कैसा अनुभव कर रहा है। वह कहता है, आपका हाथ, मेरे शरीर पर है। आप कहेंगे यह तो अनुमान कर रहे हो। आप आँख बंद कर अनुभव बताओ। तब कहेगा कि मेरा शरीर कुछ दब रहा है। कुछ गर्मी महसूस हो रही है। यही अनुभव है। हालाँकि आज का पदार्थवादी संसार स्थूल अनुभव हो समाप्त करने पर तुला है। अनुमान को ही बढ़ावा दे रहा है।

आपका स्वाधिष्ठान चक्र प्रकाश से भर गया है। अब प्रकाश ऊपर उठेगा। मणिपुर चक्र पर नाभि के पास आयेगा। मूलाधार से मणिपुर चक्र तक प्रकाश की नदी बन गयी है या ऐसा कहें गुरु के नख से प्रवाहित होकर प्रकाश की नदी आपके मूलाधार चक्र पर फैली है। फिर वही नदी मणिपुर तक फैल गयी है। नदी की धारा कहीं रुकी नहीं है। सतत् धीरे-धीरे प्रवाहित हो रही है।

प्रकाश अब ऊपर उठेगा। अनाहद चक्र पर आयेगा। आप विभिन्न चक्रों पर विभिन्न अनुभव भी करेंगे। यह अनुभव अत्यन्त रोमांचकारी होगा। आप आश्चर्य से भर जायेंगे। साथ ही आपका प्रत्येक सेल ऊर्जांचित होता जायेगा। हृदय चक्र गरम हो जायेगा। आपके हृदय की गति बढ़ जायेगी। धड़कन महसूस करेंगे।

किसी चीज के दो रूप होते हैं। भारतीय ऋषि कहते हैं ब्रह्मचर्य रहें। परन्तु पश्चिम के वैज्ञानिक, डॉक्टर कहते हैं कि यह योग-तंत्र बकवास है। वीर्य किस रूप में ऊपर उठेगा। यह तो बनेगा। इसका उपयोग करना ही वास्तविक युवावस्था का आनन्द है। वीर्य को रोकना मूर्खता है। यह सदैव बनता है। उपयोग नहीं करने पर स्वयं स्थलित हो जाता है। या फैंट में बदल जाता है। हमारे ऋषियों ने इसके पार्थिव रूप पर कम ध्यान दिया। इसके दूसरे रूप के सम्बन्ध में कहा; वीर्य की ऊर्जा ही ऊपर उठेगी। जैसे पानी नीचे गिरता है। पानी जैसे ही वाष्प बनता है ऊपर उठता है। ब्रह्मचर्य + गुरु कृपा + शुद्ध भावना से ऊर्जा का निर्माण होता है। जो ऊपर उठती है। अनन्त के यात्रा पर निकल जाती है।

अनाहद चक्र से विशुद्ध चक्र पर वह ऊर्जा आयेगी। अनाहद चक्र तक ही मूलाधार चक्र के गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में आता है। विशेष जानकारी हेतु आप "दिव्य गुप्त विज्ञान" की कक्षा लें व अनुभव करें। इस चक्र से निकलते ही ऊपर सहस्रार (परमात्मा) अपने तरफ खींचने लगेगा। आप की यात्रा अभी तक दक्षिणायण की थी। अब उत्तरायण में कदम रखना प्रारम्भ कर दिया है। इससे बाहर निकलते ही विशुद्ध चक्र पर पहुँचेंगे। यह ऊर्जा स्वतः खिंच आयेगी। ऊपर की यात्रा बिना प्रयास भी हो जाएगी। मात्र आप श्रद्धा से काम लें। जिस चक्र पर प्रकाश पहुंचता है वहाँ की पंखुड़ियां खिल उठती हैं। गले का भाग गरम हो जायेगा। नीचे से गले तक प्रकाश नदी की तरह फैल गया है। आप प्रसन्न हैं शरीर गरम होगा। कांपेगा। भय भी लग सकता है। आप सावधान रहें। अर्थात् भाव + श्रद्धा से काम लें।

विशुद्ध चक्र से प्रकाश ऊपर उठेगा। वह धीरे-धीरे बहते हुए आज्ञा चक्र पर पहुँच जायेगा। आप का ललाट गरम हो जायेगा। वहाँ गुदगुदी भी हो सकती है। वहाँ विभिन्न प्रकार के दृश्य भी दिखाई देंगे। यह प्रकाश की नदी मेरूदंड में ही रहेगी। जीवन में प्रथम बार इस मेरूदंड से यात्रा प्रारम्भ की है।

इस यात्रा को कभी भी बीच में नहीं छोड़ना चाहिए। इसे सहस्रार तक अवश्य ले जायें। अन्यथा रोग होने की सम्भावना हो जायेगी। चूंकि यह ऊर्जा की यात्रा है। यह जन्मों-जन्मों के बाद प्रथम बार अपने अवरोधों को चीरते हुए ऊपर उठ रही है। आप विभिन्न प्रकार के अनुभवों से गुजर रहे हैं। जो अनुभव आप ने आज तक न देखे न सुने थे।

आप इस प्रकाश को आज्ञा चक्र से ऊपर गुरु पर्वत पर ले जायें। गुरु अनुकम्पा से गुरु द्वार खुल जायेगा। यहीं गुरु + गोविन्द का एक साथ साक्षात्कार होता है। यहीं शिष्य कहता है

**“गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाँव।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो लखाब।”**

यहीं गुरुत्व इशारा करता है। ऊपर यात्रा करो। मेरा कार्य पूरा हो गया। आज मैं धन्य हो गया। शिष्य अहोभाव से भर जाता है। नहीं चाहते हुए भी गुरु के आदेश से गोविन्द महल पहुँच जाता है। जहाँ हजारों पंखुडियों वाला कमल दल है। वह एकाएक खिल उठता है। ऊपर के तरफ। आकाश के तरफ। अनन्त के तरफ। ऊर्जा जहाँ से अनन्त में मिल जाती है। यहाँ पूरा होता है महारास। यही है सांख्य का प्रकृति + पुरुष का मिलन। भगवान शिव द्वारा प्रदत्त विधि से शक्ति का शिव से मिलन। महासम्भोग पूरा हुआ। मानव की यात्रा पूर्ण हुई। निर्वाण को उपलब्ध हुए।

सावधानी—इस विधि को मैंने स्वयं किया है तथा साधकों को भी कराई है। आप कम से कम एक घंटे का समय निकाल कर ही करें। साधना के क्रम में, मध्य में छोड़ना हानिकारक या रोग का कारण बन सकता है। सात चक्र हैं। मूलाधार चक्र पर दस मिनट का ध्यान करें। इसके बाद अन्य चक्रों पर पाँच मिनट का। इस तरह 10 + 30 = 40 मिनट लगेगा। अन्त में दस मिनट शवासन अवश्य करें। हो सकता है मस्तिष्क में ऊर्जा पहुँचने पर कोई मूर्छित हो जाये। घबराने की जरूरत नहीं है। उन्हें यों ही छोड़ दें। पंद्रह से बीस मिनट में ठीक हो जायेंगे। हो सके तो उनके सिर, पैर के तलवे एवं हाथ पर मालिश करें। यदि पुरुष गिरा हो तो औरत यदि औरत गिरी हो तो पुरुष मालिश करें। इससे विपरीत अर्ध की ऊर्जा का संचार होता है। साधक शीघ्र ही वापस चेतना में लौट आता है।

यह सदैव स्मरण रखें, सद्गुरु के उपस्थिति में साधना शीघ्र ही बुद्धत्व प्रदान करती है। अन्यथा वह एक एक्सरसाइज बनकर रह जाती है। आप अपनी ऊर्जा, समय, संसाधन को एक बार लगा दें। जोर से छलांग लगा दें। प्राप्त कर लें उस परम चैतन्य को।



हृदय में शांति का अनुभव करें

मैंने एक कहानी सुन रखी है। एक राजा ने अपने राज्य के मुख्य न्यायाधीश से पूछा कि भगवान कहां रहता है? भगवान का मुँह किस दिशा में है? भगवान क्या खाता है? भगवान क्या करता है?

जब हमें भगवान के सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा होती है, तब प्रश्न हृदय से उठता है। जब सामने वाले को तर्क से पराजित करने की इच्छा होती है, तब प्रश्न मस्तिष्क से उठता है। शास्त्रार्थ करने वालों में श्रद्धा प्रेम नहीं होता है। उनमें केवल पांडित्य होता है। शास्त्रों का अहंकार होता है। वही अहंकार उनको परमात्मा से मिलने में बाधक होता है। राजा एवं न्यायाधीश दोनों विद्वान थे। न्यायाधीश उत्तर देने में घबरा रहा था। वह बहुत चिंतित रहने लगा। उसकी चिंता को देखकर उनके नौकर ने पूछा, महाराज आप इन दिनों इतने चिंतित क्यों हैं? उन्होंने इसका कारण बताया। नौकर साधक था। वह गुरु के साथ सत्संग करता था। ध्यान पूजा करता था। उसके लिए ये प्रश्न मामूली थे। परन्तु वह पढ़ा लिखा नहीं था। शास्त्र का ज्ञान नहीं था। शास्त्रों का उदाहरण नहीं दे सकता था। उसने न्यायाधीश से कहा कि आप विश्राम करें। इसका उत्तर राजा को मैं दूँगा। निश्चित तिथि को न्यायाधीश महोदय ने राजा को सूचित कर दिया कि वे बीमार हैं, उत्तर देने हेतु नौकर आ रहा है।

नौकर गुरु शरण राजदरबार में उपस्थित हुआ। वह हर समय गुरु की शरण में ही रहता। ऐसी उसकी मनोभावना बन गई थी। सहज समाधि की कला जान गया था। राजा ने क्रोधित होकर कहा कि तुम उत्तर देने आये हो। हाँ महाराज! यह मेरा अपमान है- राजा ने कहा। महाराज! इसमें मान-अपमान की क्या बात है? प्यास लगने पर किसी भी नदी या कुआँ का जल पीकर प्राण रक्षा करना प्रथम धर्म होता है- गुरु शरण ने विनीत स्वर में उत्तर दिया। राजा ने कहा यदि उत्तर संतोष जनक नहीं मिला तो तुझे फाँसी हो जायेगी। मंजूर है महाराज। ठीक है उत्तर दो- राजा ने कहा।

गुरुशरण महाराज! प्रश्न तो शिष्य पूछता है। उत्तर गुरु देता है।
राजा ठीक कहते हो।

गुरुशरण महाराज! गुरु का स्थान ऊपर होता है शिष्य का स्थान नीचे होता है। मंत्री ने परामर्श दिया कि ठीक कहता है। उत्तर जानना है, तो ऐसा करना भी उचित है।

राजा ने गुरुशरण को राज सिंहासन पर बैठा दिया स्वयं नीचे बैठ गया।

पुनः गुरुशरण बोला जो सिंहासन पर बैठता वह क्या कहलाता है?

राजा वह राजा कहलाता है।

गुरुशरण मुकुट राजा के सिर पर होना चाहिए या अन्य के सिर पर?

राजा राजा ने अपना ताज गुरुशरण के सिर पर रख दिया।

गुरुशरण हाँ महाराज! अब हम आपके प्रश्नों पर विचार करेंगे। आप कृपा कर एक गाय मंगाये। राजा सोचने लगा, मेरे प्रश्न से गाय का क्या सम्बन्ध है। फिर भी गाय मंगाई गई।

इस गाय में दूध कहाँ है महाराज?

राजा इसके थन में।

क्या इसके थन को काटेंगे तो दूध स्वतः निकल आयेगा?

नहीं, खून निकलेगा। फिर दूध कहाँ है?

गुरुशरण महाराज! दूध इसके सारे शरीर में व्याप्त है। परन्तु शरीर से भी दूध नहीं निकाला जा सकता है। गाय जब घास चरती है भूसा खाती है तब दूध बनता है। परन्तु दूध घास से भी नहीं निकाला जा सकता है। घास खिलाकर गाय के थन से दूध दोहन कर निकाला जाता है। उसी प्रकार भक्त जब गुरु की शरण में श्रद्धा से, प्रेम से अपने को सौंपता है तब गुरु उसे उसके अनुरूप तंत्र साधना देता है। फिर हृदय रूपी थन से दोहन करने पर वह परमात्मा दिखाई पड़ता है। वह तो दूध के तरह सर्वव्यापी है।

दूध में मक्खन व्याप्त है। लेकिन नग्न आँखों से दिखाई नहीं देता है। वह मथनी से मथने पर बाहर आता है। ठीक उसी तरह गुरु के निर्देशन में तंत्र रूपी मथनी से हृदय में मथने से परमात्मा रूपी मक्खन बाहर आता है। राजा को संतोष हो गया।

दूसरा प्रश्न परमात्मा का मुँह किस दिशा में है? आप कृपया एक दीपक मंगा दें। दीपक आने पर कहा कि इसे जला दें वह जला दिया गया। गुरुशरण ने पूछा राजन! प्रकाश का मुँह किस दिशा में है?

राजा इसका प्रकाश तो चारों दिशा में है।

गुरुशरण हाँ महाराज इसका प्रकाश सभी दिशाओं में व्याप्त है। इसका मुँह भी सभी दिशाओं में है। सभी दिशाएं उसी की हैं।

आपका तीसरा प्रश्न है परमात्मा क्या खाता है? वह अहंकार खाता है। उसके अहंकार खाने से ही हम उसके सम्बन्ध में समझ पाते हैं। आप राजा थे। आपके राजा होने का अहंकार आपके जीवन में वही परमात्मा प्रथम बार खा रहा है। जिससे आज आप शान्ति का अनुभव कर रहे हैं। तर्क अनुमान से काम करता है। हृदय अनुभव से करता है। आपको अब परमात्मा के सम्बन्ध में अनुभव होने लगा है।

आपका अन्तिम प्रश्न है भगवान क्या करता है? यह भी आपने देख लिया। वह राजा को रंक बनाता है। रंक को राजा बनाता है। बुद्धिमान को बुद्धिहीन बनाता है। बुद्धिहीन को बुद्धिमान बनाता है। मैं आपके सामने बैठा हूँ। आपके न्यायाधीश का नौकर, बुद्धिहीन हूँ। आप राजा हैं। परमात्मा यही करता है।

राजा अतिप्रसन्न हो उसके चरणों में गिर गया। उस फकीर को अपना गुरु मान लिया। हमको भी भगवान शिव के इस सूत्र में हृदय के तरफ यात्रा करना है। जीवन समस्या नहीं है। जीवन रहस्य है। उस रहस्यमयी जीवन में रहा जा सकता है- हृदय से।

सूत्र “किसी सरल मुद्रा में दोनों काँखों के मध्य क्षेत्र में धीरे-धीरे शान्ति व्याप्त होने दो।”

हमारा मन परिधि के साथ जुड़ा है। बाहर-बाहर घूमता है। जबकि सारी धार्मिक विधियाँ, योग, ध्यान, तंत्र सभी केन्द्र के सम्पर्क में ले जाना चाहती हैं। परिधि को इस तरह पकड़ लिए हैं, उलझ गये हैं कि रात्रि भर नींद नहीं आती है। तनाव में रहते हैं।

तंत्र गहरे ध्यान में उतरने की कला है। यह गहनतम निद्रा है। यह पूर्ण विश्राम है। होश के साथ पूर्णतः विश्राम ही ध्यान है। यह भी एक चमत्कारिक तंत्र है। आप इसे भी करके देख लें।

आप किसी भी आसन पर आराम से बैठ जायें। योग विशेष प्रकार का आसन मुद्रा सिखाता है। उसमें समय लगेगा। आप जिस तरह भी आसानी से बैठ सकते हैं, बैठे। चाहे आप कम्बल पर, चाहे आप कुर्सी पर। यह चुनाव भी आप पर निर्भर करता है। आप बिस्तर पर लेट कर भी कर सकते हैं। सबसे पहले अपना ध्यान पैरों पर ले जायें। आँखें बंद कर लेना है। अनुमान से नहीं अनुभव से काम लेना है। हम देखते हैं। शरीर में कहीं-कहीं तनाव है अतएव तनाव ही भर देना है। हम अनुभव कर रहे हैं, मन से आदेश दे रहे हैं कि पैर कठोर हो गया है। पत्थर वत हो गया है। धीरे-धीरे कठोरता ऊपर लानी है कमर, पेट, छाती, गर्दन तक कठोर हो गया है। फिर ऊपर मस्तिष्क भी कठोर हो गया है। नख से सिर तक कठोर हो गया है।

दस मिनट के बाद ऐसा भाव करें कि सिर ढीला हो गया। शिथिल हो गया है। धीरे-धीरे गर्दन, छाती, पेट, कमर, पैर को ढीला, शिथिल करना है। ऐसा भाव करना है, शरीर का प्रत्येक अंग विश्रांत हो गया है। सरल हो गया है। विश्राम का अर्थ है, शरीर का भान भूल जाना। अपना ध्यान दोनों कांखों के मध्य क्षेत्र अर्थात् वक्ष स्थल पर केंद्रित करना है अर्थात् हृदय पर अवधान लाना है। अपने हृदय में भावना करना है अपार शान्ति भरी है। हृदय शरीर का केन्द्र है। जहां शान्ति है। हम शान्त हैं। हृदय ही प्रेम का क्षेत्र है। करुणा का क्षेत्र है। हम प्रेम में हैं। आनन्द में हैं। यह प्रेम आपका अपना है। आप केन्द्र पर हैं। इसमें दुःख की कोई सम्भावना नहीं है।

दूसरे क्षण ऐसा भाव करना है कि हृदय प्रेम से भरा है। हम प्रेम के केन्द्र में पहुँच गये हैं। प्रेम, करुणा बाहर नहीं भीतर है। गुरु अनुकम्पा बरस गयी। हम अपने हृदय में पहुँच गये हैं। यह प्रेम, करुणा अक्षय है। हम प्रेम बाँट रहे हैं। प्रकृति का नियम है हम जितना ही बाँटते हैं, वह उतना ही लौटाता है। बाँटने वाला थक जाता है देने वाला थकता ही नहीं है।

बाहर सड़क पर शोर गुल हो रहा है। घर में बच्चे झगड़ रहे हैं। पड़ोसी लड़ रहे हैं। लेकिन हम आनन्द में हैं। उनके कलह से हम दूर हो गये हैं। वे परिधि पर हैं। हम केन्द्र पर हैं। कोई हमारी शान्ति को छीन नहीं सकता है। मैं उस अनन्त केन्द्र से जुड़ गया हूँ।

जैसे जैसे आप अपने दोनों कांखों के मध्य में, हृदय में, प्रेम में स्थिर होने लगेंगे। आनन्द से भरने लगेंगे। फिर कोई आपको पत्थर भी मारेगा तो चोट नहीं लगेगी। चूँकि आप केन्द्र में हैं। चोट केन्द्र में जा नहीं सकती। चोट परिधि पर है। अब संसार मिथ्या नजर आ रहा है। संसार का खेल स्वप्नवत हो रहा है। सभी कुछ सपना है। संसार सार हीन है। हमें कोई दुःखी नहीं कर सकता है। हम तो पूर्ण आनन्द में हैं।

हालाँकि संसार मिथ्या नहीं है। हम केन्द्र पर चले गये हैं। परिधि पर संसार है। केन्द्र से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हम से अलग संसार एक वस्तु है। उससे हमारा तादात्म्य नहीं है।

यह विधि आप करें। यह आपमें चमत्कार ला देगी। आप रात्रि में सोने से पहले करें। आपकी अनिद्रा, तनाव की बीमारी दूर हो जायेगी। कुछ ही दिन के अभ्यास से नींद गहरी हो जायेगी। संसार असार प्रतीत लगने लगेगा। अवसर पाते ही कम से कम दस मिनट इस प्रयोग को अवश्य करें। चेतना को हृदय में ले जाएं, गहन शान्ति से भरा हुआ अनुभव करें। दस मिनट के बाद गहन

शांति के बाद आँखें खोलें। आपके चेहरे से शान्ति झलकेगी। आपका चेहरा दूसरा ही नजर आयेगा।

शान्ति को उपलब्ध व्यक्ति को चारों तरफ लोग अनजाने में घेर लेते हैं। चूँकि शांति ही वृक्ष के तरह छाया प्रदान करती है। जैसे ही आप परेशान होते हैं। अशांत होते हैं। सभी आपसे पीछे हटने लगते हैं। इस भौतिक घटना को आप देखते होंगे। फिर आप कहते हैं मेरे बुरे दिनों में कोई साथ नहीं दिया। कौन देगा? शांति के चारों तरफ एक तरंग बन जाती है। हमारे चारों ओर शांति के स्पंदन होते हैं, और जो भी आता है, वह आपके करीब होना चाहता है। जैसे किसी वृक्ष के नीचे जाकर विश्राम करना चाहता है। शांत व्यक्ति के चारों ओर एक छाया होती है। आप जहाँ भी जायेंगे, सभी पास आना चाहेंगे, श्रद्धा होगी। जैसे ही किसी में संघर्ष, तनाव, विषाद, संताप आता है, लोग दूर हटते जाते हैं। जो भी पास जाता वह घबरा जाता है। यह आदमी खतरनाक है।

आप अपने हृदय के केन्द्र पर जाकर शान्त होकर, अवलोकन करें। सभी आप से प्रेम करेंगे। आप सभी के लिए प्रिय हो जायेंगे। घृणा विदा हो जायेगी। आपके लिए सभी अपने होंगे। सभी हमारा ही प्रतिबिंब हैं। हम शान्त हैं। आनन्द में हैं। उत्सव में हैं। सभी आनन्द में रहेंगे।

॥ हरिओम तत्सत् ॥

स्वामी कृष्यायन जी महाराज

सद्गुरु धाम आश्रम

एच-243, कुंवर सिंह नगर,

निलौठी मोड़, नांगलोई,

दिल्ली-100041

दूरभाष न. 011-28361513,

मो. 09868886830